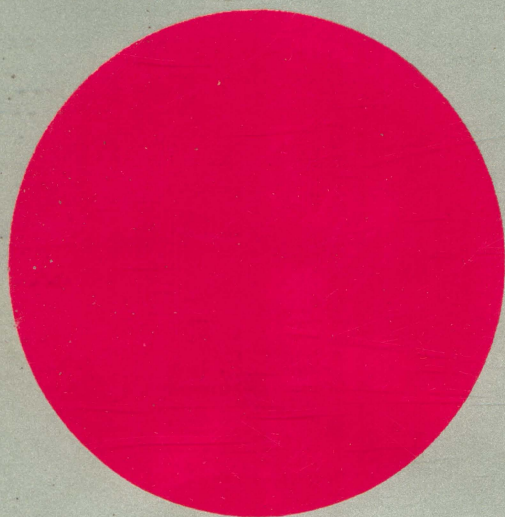


जैन दर्शन में सत्यत्व का स्वरूप



डॉ. सुरेखाश्री

एम. ए., पी. एच. डी.

About the Book

The topic of the research is scholarly, unexplored hitherto and interesting. The candidate has presented a thorough and critical study of the subject. Her approach is authentic and original. Thus the book evinces the capacity of sound judgement of the candidate.

— **Dr. RamMurti Sharma**
Prof. of Sanskrit, Punjab University
Chandigarh.

जैन दर्शन में सम्यक्त्व का स्वरूप

साध्वी डॉ. सुरेखा श्री

एम. ए., पी-एच. डी.

विचक्षण स्मृति प्रकाशन

जयपुर (राज.) भारत

प्रथम संस्करण, जनवरी : १९८८

■
प्रेरिका :-

स्व. प्रवर्तिनी जैन कोकिला समतामूर्ति विचक्षणश्रीजी, म. सा. की
सुशिष्या शासनज्योति शतावधानी मनोहरश्रीजी म. सा. एवं विदुषीवर्या
मुक्तिप्रभाश्रीजी म. सा.

■
अर्थ सौजन्य :-

- (१) रामसर जि. वाडमेर हाल अहमदाबादनिवासी श्रेष्ठिवर्य
शेरमल शंकरलाल मालू.
- (२) जोधपुर हाल अहमदाबादनिवासी स्व. फूलीबेन मूलचंदभाई की
पुण्य स्मृति में श्रेष्ठिवर्य बाबूभाई सुपुत्र मनुभाई, सोमचंद्र,
किशोर गुडवाले.

■
मूल्य : रू. १००-००

■
प्राप्तिस्थान :-

मुनिसुव्रतस्वामि जैन देरासर एवं दादावाड़ी
जैन श्वे. खरतरगच्छ ट्रस्ट
दादासाहेबना पगलां, नवरंगपुरा,
अहमदाबाद-३८०००९.

■
मुद्रक :-

कांतिलाल डी. शाह "भरत प्रिन्टरी", न्यु मार्केट,
पांजरापोल, रिलीफ रोड, अहमदाबाद-१

**JAIN DARSHANA MEN
SAMYAKTYA KĀ SWARŪPA**

Dr., SŪREKHA SHRI
M. A., Ph. D.

PUBLISHED BY :-
THE VICHAKSHANA SMRITY PRAKASHANA
JAIPUR (Raj.), India

FIRST EDITION, JANUARY 1988

●
PROMPTER :

Late pravartinī jain kokilā samtā mūrti puja shri
VICHAKŚHANA SARI JI Mahārāj sāhība's disciples
shāsan-jyoti, shatāvadhānī shri MANOHAR SHRI JI
Mharaj sahība and vidūshīvarya MUKTI PRABHĀ
SHRI JI Maharaj sāhība

●
FINANCER :

Shri Shermal Shankarlal Maloo, Ahmedabad
Shri Babubhai, Manubhai, Somchandra, Kishor,
Gudwala (dealer in molasses), Ahmedabad

●
price : Rs. 100-00

●
This book can be obtained from :

Munisuvrt swami jain temple
jain swetamber kharatar gachha trust
dada saheb ka pagla, navrangpura
Ahmedabad-380 009.

●
Printed by :

Kantilal D. Shah, 'Bharat Printery'
new market, panjara pol, relief road,
Ahmedabad-1,



जन्म : वि. सं. १९६९ अमरावती

नाम : दाखीबाई

दीक्षा : वि. सं. १९८१, जेठ वदी ५ पीपाड

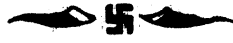
स्वर्गवास : वि. सं. २०३७, जयपुर

दीक्षा नाम : विचक्षण श्री

शिक्षा गुरु : स्वर्ण श्री जी

दीक्षा गुरु : जतन श्री जी

सम्यक् समर्पण



सम्यक्स्व युक्त जिनका जीवन जलधि....

- * स्वभाव से कर्म के दारुण विपाक की तितिक्षा से युक्त अन्तर्मन उपशमभाव से पूरित था....
- * कारुण्य, बीभत्स-दुस्त्रों से परिपूर्ण सुखाभासरूप इस भौतिक जगत् के प्रति संवेग के कारण उत्कट मोक्षभिलाषा के ज्वार में निमज्जित था....
- * ममत्सारूपी विष के पंकिलतीर से रहित निर्वेद के कारण संसार के प्रति औदासीन्य के उतार की ओर अभिमुख था....
- * जगत् के प्राणिमात्र के प्रति उनके स्नेहिल-मानस में अनुकम्पा (दया) की तरंगे उरलसित होती थी....
- * आत्मा-परमात्मा और परमात्म शासन के प्रति अनुराग और समर्पणभाव से अनुगुंजित उनका आस्तिक्य (दृढ श्रद्धा) आत्मोत्कर्ष की ओर प्रवाहित होता था....
- * भयकर कर्करोग (केन्सर) की व्याधि की क्षणों में भी अनुत्तम समाधि, धृति, वैराग्य और साहसरूपी रत्नों का परिचायक था....
- * प्रभुशरण-स्मरण और समर्पण युक्त जीवन का प्रतिपल, प्रतिक्षण भक्ति में आत्मसंवेदनाओं के मुक्ताफल का सर्जन करता था....
- * जड़-चेतन के भेद विज्ञानी सम जीवन अनेक अनाधारकृपावृष्टि के अकरुण्य चमत्कारों द्वारा अनुभव सिद्ध होता था....

ऐसी भवोदधितारिका, समाधिनिमग्ना, परमोपाग्या, अनंतोपकारिणी गुरुवर्या श्री विचक्षण श्री जी. म. सा. के पुनीत चरण कमलों में इस ग्रन्थ को समर्पित करते हुए आनन्दानुभूति अवर्णनीय बनी है।

सुरेखाश्री

आशीर्वाचन

“साध्नोति स्व पर कार्यमिति साधु”-“स्वान्त सुखाय-परजन हिताय’ इसी अर्थ को लेकर साधु शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। ज्ञानोपासना स्वोत्थान और परोपकार के लिए अत्यावश्यक है। इसी लक्ष्य को केन्द्रित करते हुए साध्वी सुरेखा श्री जी ने स्वयं के लिए एवं जनमानस को आत्मोन्मुख बनाने के लिए “जैन दर्शन में सम्यक्त्व का स्वरूप” विषय पर पी-एच. डी. की है।

विषय का तलस्पर्शी एवं सूक्ष्म ज्ञानार्जन के लिए लक्ष्य का निर्धारण आवश्यक है। इसी हेतु से साध्वीजी ने पी-एच. डी. करने का निर्णय किया। अध्ययन रत रहने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इसमें भी श्रमण जीवन तो संघर्ष से परिपूर्ण होता है। किन्तु जो अपना लक्ष्य अध्ययन करना ही बना लेता है, उसे सफलता अवश्य मिलती है।

साध्वी जी ने अपना अध्ययन का दायरा सीमित न रखकर तटस्थ भाव से जैन-जैनेतर सभी ग्रन्थों का विशाल पैमाने पर तुलनात्मक अध्ययन किया है। सुरेखा श्री जी! सम्यक्त्व के अध्ययन के साथ साथ अपने जीवन में सम्यक्त्व प्राप्त करे यही मेरी हार्दिक शुभकामना तथा आन्तरिक आशीर्वाद है।

८-१-८८

अहमदाबाद

गुरु विचक्षण पदरेणू

मनोहर श्री-मुक्तिप्रभा श्री

आमुख

भारत जैन कोकिला प्रवर्तिनी पूज्या साध्वी श्री विचक्षण श्री जी आधुनिक युग की एक महान् समता-साधिका हुई हैं। उन्होंने अपने जीवन एवं संयम-साधना से जनमानस को गहराई तक प्रभावित किया। फलस्वरूप पार्थिव रूप में उनके न रहने पर भी उनके समता-संदेश को उनकी शिष्या-प्रशिष्यायें दीपशिखा की भांति जाज्वल्यमान बनाये हुए हैं। साध्वी सुरेखा श्री जी उन्हीं की प्रशिष्य-परम्परा में उज्ज्वल नक्षत्र की भांति ज्ञान साधना में देदीप्यमान हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. के लिए स्वीकृत प्रस्तुत शोधप्रबंध जैन दर्शन में सम्यक्त्व का स्वरूप साध्वी श्री की ज्ञान-साधना का नवनीत है। जैन दर्शन ही नहीं, अन्य सभी भारतीय दर्शनों में सम्यक्त्व को किसी न किसी रूप में अध्यात्म साधना का द्वार प्रतिपादित किया है। सम्यक्त्व ही जीवन दृष्टि है। उसके अभाव में जीवन, जीवन नहीं, मात्र भव-प्रपंच बना रहता है। मानव जीवन की दुर्लभता का बोध सम्यक्त्व पर ही निर्भर है। सम्यक्त्व तब प्रगट होता है, जब जड़-चेतन का भेद अनुभूति के स्तर पर अनुभव में उतरता है। यह अनुभव मोहाविष्ट जीव की जड़ता को तोड़कर उसमें चिन्मयता प्रगटाता है। सम्यक् दर्शन, श्रद्धा, विश्वास, प्रतीति, रूचि आदि इसी के पर्याय हैं।

आज के आस्थाहीन, कुंठाग्रस्त, भयत्रस्त युग में जीवन-आस्था की बड़ी आवश्यकता है। मोह-जड़ित चेतना-भोग-भूमि से ऊपर उठकर आत्म योग में स्थिर हो, वह परमात्म-लीन हो, इसके लिए सम्यक् श्रद्धा और आत्म-दर्शन की बड़ी आवश्यकता है।

बढ़ते हुए भौतिक ज्ञान-विज्ञान ने आज जगत् के रहस्यों को जानने-परखने में आशातीत प्रगति ओर अद्भुत क्रांति की है, पर मानव-मन के अन्तर रहस्य अब भी उद्घाटित नहीं हो पाये हैं। आज ज्ञान का विस्फोट अहम् की चरम सीमा पर पहुँच गया है। जब तक ब्रह्म के साथ उसका तादात्म्य नहीं होता, ज्ञान कल्याणकारी और

मंगलमुखी नहीं बनता। सम्यक्त्व की पकड़ पाकर ही ज्ञान चारित्र में पकता और प्रज्ञा में ढलता है। आज इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि ज्ञान चित्तवृत्ति की निर्मलता का वाहक बने। सम्यक्त्व के बिना न ज्ञान पारदर्शी बन पाता है और न चारित्र सामर्थ्यवान।

विदुषी साध्वी श्री ने सम्यक्त्व जैसे दार्शनिक गूढ़ विषय को अपने गहन अध्ययन, चिन्तन, सम्यक्विवेचन-विश्लेषण और अन्तरभेदिनी दृष्टि से सहज-सरल बनाकर प्रस्तुत किया है। जैन परम्परा के श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में मान्य प्रमुख आगम ग्रन्थों का दोहन कर, लेखिका ने सम्यक्त्व का अर्थ, स्वरूप, लक्षण, अंग, भेद-प्रभेद आदि का न केवल विवेचन किया है, वरन् सम्यक्त्व की मूल-धारणा का समीक्षात्मक ऐतिहासिक विकास भी रेखांकित किया है।

जैन दर्शन के अतिरिक्त बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक एवं वेदांत दर्शन में अभिव्यक्त सम्यक्त्व की अवधारणा पर भी युक्ति-युक्त तुलनात्मक प्रकाश डाला है। दर्शन के अतिरिक्त महाभारत, गीता और श्रीमद् भागवत् जैसे धार्मिक ग्रन्थों एवं ईसाई व इस्लाम धर्मों में अवतरित सम्यक्त्व के समानान्तर भाव-धारा का भी साध्वी श्री ने परीक्षण किया है।

साध्वी श्री का यह अध्ययन आत्म-दर्शन और अध्यात्म-साधना की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, जीवन-व्यवहार में अहिंसा, संयम और तप रूप आस्था-मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने की दृष्टि से भी प्रेरक और सम्बोधक है।

विशाल जैन आगम, आगमेतर और जैनेतर साहित्य का तटस्थता-पूर्वक दोहन कर, अपनी विलक्षण प्रतिभा और मेधा से उसका मन्थन कर, जो विचार-रत्न साध्वी श्री ने प्रस्तुत किये हैं, निश्चय ही उनसे जड़ता के प्रति मोह भंग होगा और विशुद्ध चेतना के प्रति जन-मन सजग होगा।

प्रस्तुति



सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन की विभावना जैन धर्म-दर्शन की एक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण विभावना है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की त्रिपुटि को जैन धर्म में रत्न-त्रयी के नाम से पहचाना जाता है। कर्मों से आत्यन्तिक मुक्ति पाना ही यहाँ मोक्ष है। ऐसे मोक्ष की मंजिल तक पहुँचने के तीन अमूल्य रत्न रूप सौपान होने से रत्न-त्रयी का नाम सार्थक है, एवं उसका महत्त्व भी स्वयं प्रतीत है। इन तीन में से प्रथम सम्यग्दर्शन की विभावना का अध्ययन इस महानिबन्ध-रूप ग्रन्थ का विषय है।

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन के अर्थ का विकास वाचक उमास्वाति के 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' में अपनी चरम परिणति को प्राप्त होता है, तब से उसका अर्थ 'विवेकपूत श्रद्धा' निर्धारित हो जाता है। आशा और श्रद्धा ये दो मनोभाव मनुष्य जाति को प्रकृति से प्राप्त अद्भुत भेंट है। आशा जहाँ मनुष्य को प्रगति करने में प्रेरणा देती है, वहाँ श्रद्धा उस को अपने कार्य में आगे बढ़ने का निश्चय प्रदान करती है। कर्म क्षेत्र हो या धर्म क्षेत्र-श्रद्धा के बिना मनुष्य आगे बढ़ नहीं सकता। धर्ममार्ग-अध्यात्ममार्ग में प्रयाण करने वाले के लिए आत्मतत्त्व में श्रद्धा प्रथम आवश्यक है। आत्म तत्त्व में श्रद्धा यानि सत्य में श्रद्धा, सत्य में श्रद्धा यानि सदाचरण में श्रद्धा। सदाचरण में श्रद्धा जागृत होने से मनुष्य सन्मार्ग में दृढ़ होता है, स्थिर होता है, विचलित नहीं होता। श्रद्धा का पाथेय सन्मार्ग में चलने वाले के चरणों में बल पूरता है। इस तरह श्रद्धा प्रत्येक धार्मिक जन की, प्रत्येक आध्यात्मिक मार्ग के प्रवासी की प्रथम आवश्यकता सिद्ध होती है। इस महानिबन्ध में हम देखते हैं कि किस तरह श्रद्धा तत्त्व जैन धर्म में ही नहीं, अपितु सर्व भारतीय धर्म-दर्शनों में प्रतिष्ठित है।

साध्वीजी सुरेखाश्रीजीने सुचारु रूप से जैन धर्मदर्शन में सम्यक्त्व

का अर्थ, उस अर्थ का विकास एवं उसके महत्त्व का इतिहास यहाँ शब्दांकित किया है। जैन धर्म के मूल रूप श्रमण-परंपरा के अन्य महत्त्वपूर्ण धर्म बौद्ध धर्म में भी 'सम्यग्दर्शन' इसी समान नाम-अर्थ लिए हुए है-यह सत्य का उद्घाटन भी शायद प्रथम यहाँ ही होता है। इतना ही नहीं, वैदिक परंपरा के विविध दर्शनो में, महाभारत, भगवद् गीता और भागवत जैसे ग्रंथों में और भारत-बाह्य ईसाई एवं इस्लाम धर्म में भी सम्यग्दर्शन के समानार्थक विभावों का यहाँ विश्लेषण किया गया है।

अपने पी.एच. डी. के शोध-निबंध के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ साध्वीजीने लिखा है। शोध-निबंध के रूप में इसका महत्त्व है ही, किन्तु इस ग्रंथ का अधिक महत्त्व इस में है कि इससे हमें पता चलता है कि जगत् भर के धर्मों में कितने समान भाव, समान तत्त्व बिखरे पड़े हैं। यह शोध-प्रबंध अनायास ही सर्व धर्म-दर्शन के समन्वय के प्रति एक कदम आगे बढ़ने का कार्य करता है। इसलिए भी साध्वीजी धन्यवाद के पात्र है। हो सकता है साध्वीजीने केवल संशोधनात्मक बुद्धि से ही नहीं, श्रद्धापूत धर्म बुद्धि से यह ग्रन्थ लिखा है इसका यह सुपरिणाम है। इसी तरह हमें जैन धर्म के अन्य सिद्धांतों का भी विश्लेषण कर के, अन्य धर्मों के सिद्धांतों से उनकी तुलना कर के, समान तत्त्वों की खोज करनी चाहिए।

१०-१-१९८८.

र. म. शाह
 प्राकृत विभाग
 गुजरात विश्वविद्यालय,
 अहमदाबाद

दो शब्द

दर्शन धर्म का अभिन्न अङ्ग है। धर्म अथवा व्यवहार का सैद्धान्तिक पक्ष दर्शन है। यदि व्यवहार की पृष्ठ भूमि में तर्क सम्मत दर्शन नहीं है तो उस व्यवहार को स्वीकार करने में अनेक शङ्काएँ उत्पन्न होंगी। वह व्यवहार चिरस्थायी नहीं होगा।

दर्शन आचार या व्यवहार का आधार है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम सूत्र में ही कहा—“सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः”। मोक्ष यदि जीवन का लक्ष्य है तो उसे प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की महती आवश्यकता है। दर्शन को परिभाषित करते हुए आचार्य उमास्वाति ने स्पष्ट निर्देश दिया है—तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक् दर्शनम्”। अर्थात् तत्त्व में श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। तत्त्व से तात्पर्य नव तत्त्व अथवा मूल रूप में संसार में दो तत्त्व जीव और जड़ से है।

सर्व प्रथम जैन दर्शन का इस तथ्य पर आग्रह है कि हम जीव तत्त्व और जड़ तत्त्व के भेद को पहचानें। यदि जीव और जड़ के भेद ज्ञान की प्राप्ति हो गयी तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गयी। परन्तु दर्शन ज्ञान पर आधारित है। ज्ञान भी सम्यक् होना चाहिये। किसी वस्तु या तत्त्व को सभी पक्षों से देखने व समझने को सम्यग्ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। जड़ और चेतन के भेद एवं इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों को सम्यक् प्रकार से समझ लेना तथा उससे जो हेय, ज्ञेय व उपादेय के रूप में सिद्धान्त प्रगट हों उन पर आचरण करना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र हैं।

जैन दर्शन मोक्ष रूपी प्रासाद पर आरोहण हेतु प्रथम सोपान के रूप में सम्यक्त्व को अंगीकार करता है। परिणामतः सम्यक्त्व का

स्थान आध्यात्मिक धरातल पर प्रथम एवं सर्वोपरि है। जैन वाङ्मय का प्रत्येक ग्रन्थ इस सम्यक्त्व का स्पर्श किये बिना नहीं रहता। सम्यक्त्व श्रद्धान अर्थ को बोधित करता है। वस्तु तत्त्व पर श्रद्धान, पदार्थों पर श्रद्धान। अन्य दर्शनों में जिसे श्रद्धा से अभिहित किया गया है उसे जैन दर्शन में सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शन रूप में परिभाषित किया गया है।

स्वभाव से स्वाध्याय प्रेमी समाज इन तत्त्वों का अध्ययन एवं स्वाध्याय तो करता रहा और उनका रसास्वाद भी करता रहा है। उन पर सर्वाङ्गीण अनुसन्धानात्मक असाय इस कार्य को साध्वी सुरेखा श्री ने सम्पन्न कर अद्भुत साहस का परिचय दिया है। कार्य की सर्वथा पूर्णता चाहे न हुई हो पर यह एक शुभारम्भ तो अवश्य ही है जो सर्वथा स्तुत्य है।

१९-१२-१९८७

डॉ. गंगाधर भट्ट

निर्देशक, रा. च. प्राच्य शोध संस्थान, जयपुर

अभिव्यक्ति



‘सम्यक्त्व’ जैन दार्शनिक और धार्मिक परम्परा में एक वैशिष्ट्यपूर्ण महत्त्व रखता है। जैन दर्शन के मूर्धन्य आचार्य ‘उमास्वाति वाचक ने जैन दार्शनिक इतिहास में मानस्तंभरूपी ग्रन्थ ‘तत्त्वार्थ सूत्र’ के पहले सूत्र में ही ‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ कहकर सम्यक्त्व अथवा सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग के सोपानों में प्राथमिकता दी है। सम्यक्त्व प्रारम्भिक अवस्था में साधकों के लिए प्रथम सोपान की तरह है और सिद्ध लोगों की अंतिम आत्म साक्षात्कार रूपी मंजिल है। जैन धार्मिक और दार्शनिक इतिहास का अवलोकन करने से हमें विदित होता है कि यह ‘सम्यक्त्व’ विचार ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चिन्तन का केन्द्र बिन्दु बनकर रहा है।

डॉ. साध्वी श्री सुरेखा श्री जी महाराज ने अत्यन्त परिश्रम पूर्वक इस विषय में जैन परम्परा का प्रामाणिक और मूर्धन्य ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन और संशोधन के आधार पर एक प्रामाणिक ग्रंथ हमारे सामने प्रस्तुत किया है। सम्यक्त्व के बारे में समग्रदृष्टि से परिपूर्ण परिचायक एक मात्र ग्रन्थ हमारे समक्ष साध्वी श्री जी ने रखा है। यह ग्रन्थ विद्वज्जनों को, संशोधकों को और तत्त्वज्ञान के विद्यार्थियों को बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। इस ग्रन्थ में, जहाँ ब्राह्मण और श्रमण परम्परा की तुलना करते समय जो मूलभूत त्रुटियाँ और ब्राह्मण परम्परा का आधार ग्रन्थों का गहन अध्ययनाभाव दिखाई पड़ता है, उस भाग को छोड़कर सभी दृष्टि से अत्युत्कृष्ट है।

डॉ. वाय. एस. शास्त्री

कार्यकारी अध्यक्ष

१४-१-८८

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति
विद्या मन्दिर, अहमदाबाद-९

उपोद्घात



अपने वक्तव्य में यत्किंचित् कहने से पूर्व सर्व प्रथम यही प्रकाशित करूंगी कि 'जैन दर्शन में सम्यक्त्व का स्वरूप' यह ग्रन्थ मेरी किस अन्तर्प्रेरणा का सुफल है। लौकिक व्यवहार में सम्यक्त्व/समकित ये शब्द जैन धर्म के प्रायः सभी धर्मस्थानों में श्रवणगोचर होता है। कभी कभी तो यह भी सुनाई देता है कि मुझे अमुक गुरु की समकित है। मैंने उन गुरु की समकित ली है। तो क्या 'सम्यक्त्व' अथवा 'समकित' लेने-देने की वस्तु है? जो कि गुरु अपने अनुयायियों को प्रदान करते हैं। इस प्रथा के रूप में ही इसका स्वरूप है या अनेकान्तवादी जैन दर्शन में इसका अन्य स्वरूप निर्धारित है। इसी शंका को इस शोध का श्रेय है। वास्तव में सम्यक्त्व ग्रहण करना आगमोक्त नहीं है, ऐसी बात नहीं है। जैन ग्रन्थों में सम्यक्त्व ग्रहण करने की विधि का उल्लेख है। इसका तात्पर्य तो बहुत विशद व सर्वाङ्गीण है। स्व स्वरूप का साक्षात् स्पर्श सम्यक्त्व के होने पर ही हो सकता है।

भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि में आस्तिक दर्शनों में जैन दर्शन जीवात्मा को ही परमात्मस्वरूप होना स्वीकार करता है। आत्मा का अभ्युदय आत्माभिमुखता की ओर अप्रसर हुए बिना नहीं हो सकता। परामिनिवेश से मुक्त है जिसका आत्मा वही परमात्म-पदकी ओर कदम बढ़ा सकता है। जब तक निश्चित रूप से जीवात्मा स्व-पर भेद विज्ञानी नहीं बन जाता तब तक मोक्षाभिमुख नहीं हो पाता। सम्यक्त्व संसार भ्रमण की परिधि को परिमित कर देता है। इसी तथ्य का विश्लेषण इस ग्रन्थ में प्रस्तुत करने का मैंने प्रयास किया है।

जैनागम का प्रथम व प्राचीन शास्त्र आचाराङ्ग में सम्यक्त्व व मुनित्व का एकीकरण किया है। एवं मुनि जीवन का आधार सम्यक्त्व माना

है किन्तु उसके पश्चात्पूर्व आगमों में मुनि के और गृहस्थ श्रावकों के लिए भी सम्यक्त्व की अनिवार्यता स्वीकार की है। साथ ही इसे ज्ञान से पूर्ववर्ती माना है। इसी के द्वारा अज्ञान ज्ञान में परिवर्तित होकर उसमें सम्यक्त्व आती है। “तत्त्वार्थसूत्र” में वाचकवच्य उमास्वाति ने सम्यक्त्व को पूर्णरूपेण श्रद्धान अर्थ का बाना पहना दिया है। तब से ही सम्यक्त्व का अर्थ श्रद्धान ही माना जाने लगा। श्रावक के बारह व्रतों में भी श्रद्धा को प्रथम स्थान देने हेतु “आचार दिनकर” में सम्यक्त्व प्रदान करने की विधि नियोजित की गई, संभवतः वही विधि आगे जाकर गुरु-मंत्र रूप में प्रसिद्ध हुई हो।

सर्व धर्म-दर्शनों ने सम्यग्दर्शन/श्रद्धा को मोक्ष का हेतु समवेत स्वर से स्वीकार किया है। आध्यात्मिक दृष्टि से मोक्ष का कारण होने से इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है ही किंतु लौकिक, व्यावहारिक जीवन में भी इसका मूल्यांकन कम नहीं है। जैन मान्यतानुसार इसका यथार्थ दृष्टिपरक अर्थ करते हैं तो यह जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण होकर अहिंसा, अनेकांत और अमासक्त जीवन जीने की कला इससे प्राप्त होती है। जीवन दृष्टि के अनुसार ही व्यक्तित्व व चरित्र रूपी सृष्टि का निर्माण होता है।

व्यावहारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक नैतिकादि हर क्षेत्र में सम्यक्त्व ही उपयोगी है। क्योंकि दृष्टि के अनुसार सृष्टि का निर्माण होता है। सही दृष्टि सही दिशा की ओर ले जाकर मंजिल तक पहुँचाती है। व्यावहारिक सामाजिक क्षेत्र में तथा हर क्षेत्र में मैत्रीपूर्वक संबंध बनाए रखना, सम्यग् रीति से जीवन व्यतीत करना है। राजनैतिक व्यवस्था सम्यग् न होगी तो भ्रष्टाचार बढ़ेगा फलतः अनैतिका के कारण राष्ट्र का पतन हो जाएगा। धार्मिक व नैतिक क्षेत्र में स्पष्ट रूप से ही सम्यक्त्व की छाप दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार धार्मिक सिद्धांतों का व्यावहारिक जीवन में उपयोग होना ही सम्यक्त्व है। जीवन को सुव्यवस्थित रूप से, सुचारु रूप से प्रतिपादन करने में, उत्तरोत्तर आत्मिक गुणों के विकास में सम्यक्त्व ही सहायक है।

इस ग्रन्थ निर्माण में आद्यप्रेरिका-गुरुवर्या श्री विचक्षण श्रीजी. म. सा., एवं श्रीयुत स्व. अगरचंदजी नाहटा है जो कि इसके आकलन से पूर्व ही इस लोक से विदा हो गये हैं। पूज्या प्रधान पद विभूषिता अविचल श्रीजी म. सा. के आशीर्वाद, पू. शासन ज्योति श्री मनोहर श्रीजी म. सा., पू. विदुषीवर्या श्री मुक्तिप्रभा श्रीजी म. सा. के सत्प्रयासों एवं सतत प्रेरणा गुरु-भगिनियों के फलस्वरूप ही यह ग्रन्थ पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ है।

इसके अतिरिक्त पंडितवर्य आगमवेत्ता महामनीषी उदारमना दलसुखभाई मालवाणिया, डॉ. राममूर्ति शर्मा, डॉ. आर. एम. पाठक, डॉ. नरेन्द्र भानावत, डॉ. र. म. शाह, डॉ. यज्ञेश्वर शास्त्री का आत्मीयता पूर्वक प्रस्तुति प्रेषित करने हेतु आदरपूर्ण स्मरण करती हूँ और उनकी भी जिन्होंने इसमें यत्किंचित् सहयोग दिया हो।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने हेतु 'विचक्षण स्मृति प्रकाशन'का, अर्ध सौजन्य में श्री शेरमल शंकरलाल मालु, एवं बाबूभाई व उनके पुत्र भी साधुवाद के पात्र हैं जिन्होंने चंचला लक्ष्मी का सुकृत् में सदुपयोग किया है। 'भरत प्रिन्टरी' ने इसकी आकर्षक छपाई से आकर्षित किया, उसका भी आदरपूर्वक स्मरण करती हूँ।

इस ग्रन्थ का माध्यम शोधकार्य अवश्य रहा है किन्तु ज्ञान की अतल गहराई तक अपने आपको को ले जाऊँ यह उद्देश्य भी निहित है। गुरुजनों से वही प्रार्थना करती हूँ कि सम्यक्त्वमय आत्मा सुवासित हो ऐसी अनहद कृपा के वर्षण सह आशीष प्रदान करें।

१४-१२-८७

अहमदाबाद

सुरेखा श्री

“जैन दर्शन में सम्यक्त्व का स्वरूप”

क्र म दर्शन

सम्यक् समर्पण	५
आशीर्वचन	६
आमुख	७
प्रस्तुति	९
दो शब्द	११
अभिध्यक्ति	१३
उपोदघात	१४
अध्याय १—जैन दर्शन : प्राचीनता	१—१०
अध्याय २—(क) जैनागमगत सम्यक्त्व विवेचन	११—१७०
(१) आचारांग-सूत्रकृतांग-१४, (२) दशवैकालिक-उत्तरा- ध्ययन-३२, (३) निशीथि-दशाश्रुतस्कन्ध-प्रज्ञापना-४३, (४) भगवती (वियाह-पण्णत्ति)-५०, (५) नन्दी-अनुयोग- द्वार-५७, (६) स्थानांग-समवायांग-६४, (७) ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, प्रश्नव्याकरण-७३, (८) आवश्यकः निर्युक्ति- विशेषावश्यक-७७ ।	
(ख) आगमोत्तर साहित्य में सम्यक्त्व	८५—१७०
अ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र व टीकाएँ	८५
आ दिगम्बर साहित्य	१०९
(१) कुंदकुंदाचार्य के ग्रन्थ-दर्शनादि षट् पाहुड, समय- सार, नियमसार, प्रवचनसार इत्यादि-१०९, (२) षट्खण्डा- गम (धवला टीका)-११३, (३) कषायपोहुड (जयधवला टीका)-१३१, (४) सन्मति प्रकरण १३५, (५) कर्म प्रकृति-१३६।	

- (इ) (१) श्रीमद् हरिभद्रसूत्रि के ग्रन्थ-१३८, (२) उपदेशमाला-१५०, (३) महापुराण-१५१, (४) पुरुषार्थसिद्धयुपाय-१५४, (५) नेमिचंद्राचार्य-१५४, (६) योगशास्त्र-१५७ (७) ज्ञानार्णव १५८ ।
- (ई) (१) रत्नकरण्ड भावकाचार-१५९, (२) मूल शुद्धि-१६१, (३) आचार दिनकर-१६१, (४) अध्यात्म सार-१६३, (५) पंचाध्यायी-१६४, (६) लोक प्रकाश-१५७, (७) सम्यक्त्व परीक्षा-१७० ।

अध्याय ३—सम्यग्दर्शन के विषय में अन्य दर्शनों की विचारणा १७१—२३०

- (१) बौद्ध धर्म दर्शन-१७१, (२) सांख्य एवं योग दर्शन-१८१, १८६, (३) न्याय एवं वैशेषिक दर्शन-१९२, (४) वेदांत दर्शन-१९६, (५) महाभारत, गीता, भागवत-२०६, २१०, २२१, (६) अन्य धर्म दर्शन (ईसाई एवं इस्लाम)-२२७, २३० ।

अध्याय ४—उपसंहार

२३५

परिशिष्ट

- (१) "सम्यक्त्व" शब्द सूचित ग्रन्थ २३९
 (२) जैन पारिभाषिक शब्द सूची २४४

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- (१) मूल ग्रन्थ-२५३, (२) आनुषंगिक ग्रन्थ-२६५, (३) शब्द संदर्भ सूची-२७१ ।



अध्याय - १

जैनदर्शन : प्राचीनता

“जैन दर्शन में सम्यक्त्व का स्वरूप”

अपने इस विषय में सम्यक्त्व के स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व जैन-दर्शन के विषय में कुछ कहना भी आवश्यक है। ‘दर्शन’ शब्द विविध रूपों में विविध अर्थ लिए हमारे समक्ष आता है। भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन भी समाविष्ट है।

साधारणतया दर्शन शब्द पहले तीन अर्थों में प्रयुक्त होता था—

१. चाक्षुषज्ञान अर्थ में,
 २. तत्त्वों के साक्षात्कार अर्थ में, एवं
 ३. भारतीय दर्शन, न्याय दर्शन इत्यादि परम्परासम्मत निश्चित विचार शृंखला के अर्थ में।
१. चाक्षुष ज्ञान अर्थ में दर्शन उसे कहते हैं जो नेत्रादि इन्द्रियों एवं पदार्थ के सन्निकर्ष से घट, पट आदि का दर्शन अर्थात् दिखाई देते हैं।
२. तत्त्वों के साक्षात्कार अर्थ में भी दर्शन प्रयुक्त होता है। सभी दार्शनिक अपने-अपने साम्प्रदायिक दर्शन को साक्षात्कार रूप में ही मानते चले आए हैं। इस तत्त्व दर्शन के अर्थ में व्यवहार में दर्शन का अर्थ साक्षात्कार कहलाने लगा। जिस में शंका, भ्रम, मतभेद को स्थान न था। अतः आगे चलकर यह सबल प्रतीति अर्थ में लिया जाने लगा, जो कि विश्वास पर आधारित था। जब साक्षात्कार विश्वास या सबल प्रतीति अर्थ में दर्शन का अर्थ किया जाने लगा तब विभिन्न दलीलें,

कल्पनायें होने लगीं, वहाँ तर्क अर्थ भी दर्शन में समाविष्ट हो गया, क्योंकि अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए सभी को इस का सहारा लेना पड़ता था। इस तरह कल्पनाओं का एवं सत्य-असत्य अथवा मिश्र तर्क भी दर्शन अर्थ में ग्रहण होने लगा। इस प्रकार साक्षात्कार अर्थ में दर्शन आगे चलकर विश्वास-सबल प्रतीति-कल्पनाएं-तर्क अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा।

जैन दर्शन में इसके दो अर्थ और प्रचलित हैं—१. श्रद्धान, २. सामान्य बोध अर्थात् आलोचना मात्र अथवा ज्ञानवाची दर्शन में। श्रद्धान का अर्थ साक्षात्कार न लिया जाकर एक अर्थ में यह व्यवहार से सबल प्रतीति या विश्वास लिया जाता है। दूसरे अर्थ में यह निश्चय से अनुभव (आत्मतत्त्व दर्शन) पर आधारित है।

भारतीय भाषाओं में “दर्शन”, “दार्शनिक साहित्य” या “दार्शनिक विद्वान्” जैसे शब्द जो प्रचलित हैं वे सभी तत्त्व विद्या के साथ सम्बन्धित हैं। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि दर्शन शब्द का प्रचलित और सिद्ध अर्थ तो है चक्षुर्जन्य ज्ञान; तो फिर यह अतीन्द्रिय तत्त्व ज्ञान अर्थ में किस प्रकार प्रयोग में लिया जाने लगा? इस प्रश्न का उत्तर उपनिषद् में कितनेक वाक्यों में अपरोक्ष रूप से मिलता है।

उपनिषदों में बहिरिन्द्रियों की शक्ति का बलाबल या तारतम्य दर्शाते कहा है कि ‘चक्षुर्वै सत्यम्’, ‘चक्षुर्वै प्रतिष्ठा’^१। किसी बात में विवाद होने पर निर्णय के लिए साक्षी की आवश्यकता होती है। दो साक्षी में से एक ने उक्त घटना का श्रवण किया है और एक ने नजरोत्तर देखा है तो श्रवणेन्द्रिय की अपेक्षा देखने वाले को अधिक प्रामाणिक स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार चक्षु एक ऐसी इन्द्रिय

१. बृह. ५ : १४ : ४

२. वही, ६ : १ : ३.

है जो सम-विषम स्थानों का या उच्चावच प्रदेशों का अन्तर दर्शाकर मनुष्य को और अन्य प्राणियों को स्वलित होते रोककर स्थिरता या प्रतिष्ठा देती है।^१ इस प्रकार अन्य इन्द्रियों की तुलना में चक्षु का स्थान सत्य के और समत्व के समीप अधिकाधिक है, ऐसा उपनिषद् सूचित करता है।

व्यावहारिक और स्थूल जीवन में दर्शन ये सत्य के समीप अधिकाधिक होने से यही दर्शन शब्द अध्यात्म ज्ञान के अर्थ में व्यवहृत हुआ। इसी से ऋषि, कवि या योगिजनादि ने आत्मा-परमात्मा जैसी अतीन्द्रिय वस्तुओं का साक्षात्कार किया हो। व्यवहार में दर्शन की महिमा होने से ही साक्षी शब्द का अर्थ भी साक्षात् द्रष्टा इस प्रकार वैयाकरणों ने भी किया है।^२

आध्यात्मिक पदार्थों का, उनका साक्षात् आकलन सत्यस्पर्शी होकर दर्शन कहलाता है। इस प्रकार अध्यात्म विद्या के अर्थ में प्रचलित दर्शन शब्द का फलितार्थ यह हुआ कि आत्मा, परमात्मा आदि इन्द्रियातीत हैं। दर्शन यह ज्ञानशुद्धि की और उसकी सत्यता की परीक्षा है। दर्शन अर्थात् ज्ञानशुद्धि का परिपाक।

अतीन्द्रिय वस्तुओं का दर्शन हर किसी को यकायक नहीं होता। उस तक पहुँचने का क्रम है, उसके मुख्यतः तीन^३ सोपान हैं। प्रथम तो अनुभवीजनों के पास से जो तत्त्व दर्शन की लालसा हो, उस विषय को जानना पड़ता है। यह हुई श्रवण-भूमिका। जो श्रवण

१. चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयाता-
महमदर्शमहमश्रौषिमिति । य एवं त्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव
श्रद्धध्याम् तद्वै तत्सत्यं... वृ. ५. १४ ४.

२. "साक्षाद् द्रष्टा।" साक्षातो द्रष्टेत्यस्मिन्नर्थे इन् नाग्नि स्यात् । साक्षी ।
सिद्ध हेम (लघुवृत्ति) ७. १. १९७.

३. "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो । मैत्रेयि !
आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्",
बृहदा. २.४.५.

किया है, उस से जो कुछ समझा है, उस पर तर्क, न्याय और युक्ति के आधार से चिन्तन-मनन करना पड़ता है। यह हुई दूसरी भूमिका। उसके पश्चात् विशेष एकाग्रता और क्लेशमुक्त चित्त में वस्तु के हार्द में प्रवेश करने का प्रयत्न करना पड़ता है। यह हुई तीसरी भूमिका। ये तीनों भूमिकाएँ यथावत् सिद्ध न हो तब तक दर्शन या साक्षात्कार की भूमिका कभी सिद्ध नहीं होती। और इन तीन भूमिकाओं के सिद्ध होने पर दर्शन होने में विलम्ब नहीं होता। इस प्रकार देखा जाय तो दर्शन यह तत्त्वबोध का शिखर है। तत्त्व-जिज्ञासा, तत्त्वचिन्तन, तत्त्वविचारणा और तत्त्वमीमांसा जैसे शब्द ये दर्शन की कक्षा के पूर्व का मानसिक व्यापार सूचित करते हैं न कि दर्शन व्यापार।^१

तत्त्वदर्शन यह वास्तव में योगिज्ञान है। जो कि ऋतम्भराप्रज्ञा^२ या केवलज्ञानदर्शन के नाम से विभिन्न परम्पराओं में ज्ञातव्य है। किन्तु इसके साथ ही सभी परम्पराओं में दर्शन के विना भी ऐसे दर्शन के प्रति होने वाली दृढ श्रद्धा को भी दर्शन रूप में जानने में आया है।^३ इस प्रकार दर्शन शब्द का प्रारम्भिक रूप श्रद्धा अवस्था में स्वीकार कर सकते हैं तथा साक्षात्कार अर्थात् आत्मदर्शन इसकी अन्तिम अवस्था के रूप में भी मान्य कर सकते हैं।

अब हम परम्परासम्मत विचार सरणी में जैन दर्शन को देखेंगे। जैन कौन? जैन दर्शन का इतिहास और इसके प्रवर्तक कौन है? जैन दर्शन की शाब्दिक व्याख्या में 'जैन' किसे कहा जाय? तो

१. भारतीय तत्त्वविद्या, पृ. ७.

२. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। योगसूत्र, १.४८-४९.

मोक्षक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणन्तरायक्षयाच्च केवलम्। तत्त्वार्थसूत्र १०.१.

कुसल चित्तसम्पयुक्तं विपस्सना जाणं पञ्जा। विस्तुद्धिमग्ग १४ २.

३. तत्त्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वार्थसूत्र १.१

इसके समाधान में सभी को यह विदित है कि 'जिन' के अनुयायी जैन कहलाते हैं। 'जैन' संज्ञा से उन्हीं को अभिप्रेत किया जाता है जिन्होंने राग द्वेष को जीत लिया है अर्थात् विजय प्राप्त कर ली है। जिस प्रकार शिव के उपासक शैव, विष्णु के उपासक वैष्णव, ईसा के अनुयायी ईसाई कहलाये, उसी भांति जिन के अनुयायी भी जैन कहलाये। इस जैन दर्शन का इतिहास क्या है? और इसके प्रवर्तक कौन है?

कुछ समय पूर्व जैन दर्शन के प्रणेता भगवान् महावीर को ही माना जाता था और इसे बौद्ध दर्शन के पश्चात्वर्ती माना जाता था किन्तु आधुनिक विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया कि जैन दर्शन बौद्ध दर्शन से प्राचीन है एवं इस के प्रवर्तक भगवान् महावीर ही नहीं किन्तु उनसे पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ तीर्थंकर को भी स्वीकार किया। विद्वानों की शोध एवं भागवत आदि पुराणों से तो यहाँ तक सिद्ध हो गया है कि जैन दर्शन के प्रवर्तक आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इस की शोध का श्रेय जर्मन विद्वान स्व. हर्मन याकोबी को है। उनके अनुसार—“ इस में कोई सबूत नहीं कि भगवान् पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानने में एकमत हैं। अतः इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की संभावना है।”

पाश्चात्य विद्वानों ने ही नहीं भारतीय विद्वान् सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन् ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा कि “ इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि ई. पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इस में कोई संदेह नहीं कि जैन धर्म वर्द्धमान और

1. “There is nothing to prove that Parshva was the founder of Jainism Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara (as its founder) there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara”.

पार्श्वनाथ से पूर्व भी प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीनों तीर्थकरों के नामों का निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे।' इस प्रकार जैनेतर साहित्य से भी यह पुष्टि होती है कि 'ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे।' अतः जैन धर्म भगवान् महावीर व पार्श्वनाथ से तो प्राचीन है यह हम निश्चित रूप से कह सकते हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ एवं भगवान् महावीर के समय में जैन धर्म को निर्ग्रन्थ धर्म कहा जाता था। साथ ही इसे श्रमणधर्म भी कहते थे। उस समय एकमात्र जैन धर्म ही श्रमणधर्म न था बल्कि श्रमणधर्म की अन्य शाखाएं भी भूतकाल में थीं, और अद्यावधि बौद्धधर्म की शाखाएँ जीवित हैं अर्थात् बौद्धधर्म को भी श्रमणधर्म कहा जाता था। किन्तु जैन धर्म या निर्ग्रन्थ धर्म में श्रमणधर्म के सामान्य लक्षणों के होते हुए भी आचार-विचार की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो कि उसे श्रमणधर्म की अन्य शाखाओं से पृथक् करती हैं। अब हम देखेंगे कि श्रमणधर्म की क्या विशेषताएँ हैं जो उसे ब्राह्मण धर्म से अलग करती हैं। उस समय दो परम्पराएँ प्रचलित थीं— १. ब्राह्मण, २. श्रमण। इन दोनों परम्पराओं में ऐसे तो छोटे-बड़े अनेक विषयों में अन्तर है किन्तु विशिष्ट अन्तर यह है कि ब्राह्मण, वैदिक परम्परा वैषम्य पर प्रतिष्ठित है तो

1. There is evidence to show that so far back as the first Century B.C, there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhamana or Parshvanatha. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras—Rishabha, Ajitnatha and Aristanemi. The Bhagavata Puran endorses the view that Rishabha was founder of Jainism.

श्रमण परम्परा साम्य पर अधिष्ठित है। यह वैषम्य और साम्य मुख्यतया तीन बातों में देखा जाता है—^१ १. समाजविषयक, २. साध्यविषयक, ३. प्राणीजगत् के प्रति दृष्टि विषयक। समाजविषयक वैषम्य का अर्थ है कि समाज रचना में तथा धर्माधिकार में वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व व मुख्यत्व तथा इतर वर्णों का ब्राह्मण की अपेक्षा कनिष्ठत्व व गौणत्व। ब्राह्मण धर्म का वास्तविक साध्य है अभ्युदय, जो कि ऐहिक समृद्धि, राज्य और पुत्र पशु आदि के नानाविध लाभों में तथा इन्द्रपद, स्वर्गीय सुख आदि नानाविध पारलौकिक फलों के लाभों में समाता है। अभ्युदय का साधन मुख्यतया यज्ञधर्म अर्थात् नानाविध यज्ञ है।^२ इस धर्म में पशु-पक्षी आदि की बलि अनिवार्य मानी गई है और कहा गया है कि वेदविहित हिंसा धर्म का ही हेतु है। इसके विधान में बलि किये जाने वाले निरपराध पशु-पक्षी आदि के प्रति स्पष्टतया आत्मसाम्य के अभाव की अर्थात् आत्म-वैषम्य की दृष्टि है। इसके विपरीत उक्त तीनों बातों में श्रमण धर्म का साम्य इस प्रकार है। श्रमण धर्म समाज में किसी भी वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व न मानकर, गुण-कर्मकृत ही श्रेष्ठत्व व कनिष्ठत्व मानता है। इसलिए वह समाज रचना तथा धर्माधिकार में जन्मसिद्ध वर्णभेद का आदर न कर के गुण कर्म के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था करता है। अतएव उनकी दृष्टि में एक सद्गुणी शूद्र भी दुर्गुणी ब्राह्मण से श्रेष्ठ है। और धार्मिक क्षेत्र में योग्यता के आधार पर हर एक वर्ण को पुरुष या स्त्री समान रूप से उच्च पद का अधिकारी है। श्रमणधर्म का अन्तिम साध्य ब्राह्मण धर्म की तरह अभ्युदय न होकर निःश्रेयस है। जिसका अर्थ है कि ऐहिक पारलौकिक नानाविध सब लाभों का त्याग सिद्ध करने वाली ऐसी स्थिति, जिस में पूर्ण साम्य प्रकट होता है और कोई किसी से कम योग्य या अधिक योग्य नहीं रहने पाता। जीव जगत् के प्रति

१. दर्शन और चिन्तन, पृ. ११६-११७.

२. शांकरभाष्य, पृ. ३५३ एवं योगसूत्र व सांख्यतत्त्व कौमुदी.

श्रमण धर्म की दृष्टि पूर्ण आत्म साम्य की है, इस में भी किसी देहधारी का किसी भी निमित्त से किया जाने वाला वध आत्मवध जैसा ही माना गया है और वध मात्र को अधर्म का हेतु माना है।

ब्राह्मण धर्म का मूल था ब्रह्मन्—उससे ब्राह्मण परम्परा विकसित हुई। इधर श्रमण परम्परा 'सम'—साम्य, शम अथवा श्रम से विकसित हुई। ब्रह्मन् के यों तो अनेक अर्थ हैं किन्तु प्राचीन अर्थ दो हैं—१. स्तुति-प्रार्थना, २. यज्ञ-यागादि कर्म। वैदिक मंत्रों एवं सूक्तों के आधार पर जो नाना प्रकार की स्तुतियाँ व प्रार्थना की जाती हैं वह तथा इन्हीं मंत्रों के विनियोग वाला यज्ञ-यागादि कर्म 'ब्रह्मन्' कहलाता है। इन ऋचाओं का पाठ करने वाला पुरोहित वर्ग एवं यज्ञयागादि संपादित करने वाला पुरोहित वर्ग ब्राह्मण कहलाता है—यह हुई वैदिक परम्परा।

जहाँ वैदिक परम्परा में एकमात्र पुरोहित बनने का या गुरुपद का अधिकार ब्राह्मण वर्ग को दिया ठीक इसके विपरीत श्रमण परम्परा में कहा गया कि सभी सामाजिक स्त्री-पुरुष सत्कर्म एवं धर्मपद के समान रूप से अधिकारी हैं। जो प्रयत्न एवं पुरुषार्थ से योग्यता प्राप्त करता है वह वर्ग एव लिंगभेद के होने पर भी गुरुपद का अधिकारी हो सकता है। यह सामाजिक एवं धार्मिक समता की मान्यता ब्राह्मण धर्म की मान्यता से पूर्णतया विरुद्ध थी। इस तरह ब्राह्मण व श्रमणधर्म का वैषम्य और साम्यमूलक इतना विरोध है कि जिससे दोनों धर्मों के बीच संघर्ष होता रहा है, जो कि सहस्रों वर्षों के इतिहास में लिपिबद्ध है। यह विरोध ब्राह्मणकाल में भी था, और बुद्ध और महावीर के समय में भी था और उनके पश्चात् भी चलता आया है।

श्रमण संप्रदाय की शाखाएँ और प्रतिशाखाएँ अनेक थीं, जिनमें सांख्य, जैन, बौद्ध, आजीवक आदि थीं। अन्य शाखाएँ तो शनैः शनैः वेदमूलक हो गईं किन्तु जैन और बौद्ध इनसे अछूती नहीं। यह शाखा आगे चलकर निर्घन्थ नाम से प्रसिद्ध हुई। एवं इस विचार के प्रवर्तक

को 'जिन' कहा जाता था। वैसे जिन भी अनेक हुए हैं—सचक, बुद्ध, गोशालक और महावीर। किंतु आज जिनकथित जैनधर्म कहने से मुख्यतया महावीर के धर्म का ही बोध होता है जो रागद्वेष के विजय पर ही मुख्यतया बल देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म श्रमणधर्म भी है और निर्ग्रन्थ धर्म भी।

श्रमणधर्म की प्राणभूत भावना है साम्य भावना अर्थात् साम्यदृष्टि। इसी का विशुद्ध रूप सामायिक है। जैन श्रुत रूप से प्रसिद्ध द्वादशांगी या चतुर्दश पूर्व में 'सामाइय'—सामायिक का स्थान प्रथम है। इसकी पुष्टि आचारंग में होती है। इस में जो कुछ कहा गया है उस सब में साम्य, समता या समत्व पर ही पूर्णरूपेण बल दिया है। सामाइय—यह प्राकृत या अर्धमागधी शब्द समता—साम्य या सम अर्थ को लिए हुए हैं। साम्यदृष्टिमूलक और साम्यदृष्टिपोषक जो जो आचार व विचार हैं, उन सभी का समावेश सामायिक में हो जाता है। जैसे ब्राह्मण परम्परा में संध्या एक आवश्यक कर्म है, वैसे ही श्रमण परम्परा अर्थात् जैन परम्परा में बंदावश्यक त्यागी व गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। इन छः आवश्यकों में सामायिक प्रथम आवश्यक है। इस सामायिक का आधार समता या समभाव है।

'सामायिक' की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण सातवीं सदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उस पर विशेषावश्यक भाष्य नामक अतिविस्तृत ग्रन्थ लिखकर बतलाया है कि धर्म के अंगभूत श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र्य ये तीनों ही सामायिक हैं।^१

आचारंग में यह साम्यभाव कूट-कूट कर भरा है। श्रमण धर्म के आचार व विचार की नींव साम्यभावना है। आचारंग सूत्र का चौथा अध्ययन 'सम्यक्त्व' नामक है। यहाँ यह सम्यक्त्व साम्य-भावना से ही अभिप्रेत है। आत्मौपम्य का दिग्दर्शन इस अध्ययन में विशिष्ट रूप से किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा विषय 'सम्यक्त्व' प्राचीन सूत्रों में 'साम्य' अर्थ को लिया हुआ है। यह साम्यभाव श्रद्धा पर आश्रित होने से पश्चात्वर्ती ग्रन्थों में सम्यक्त्व का अर्थ श्रद्धान व्यवहृत किया है। अब हम देखेंगे कि आगमों में किस प्रकार यह अर्थ विकसित हुआ ?

अध्याय - २

(क) जैनागमगत सम्यक्त्व विवेचन

सम्यक्त्व विषय पर अपना शोध-प्रबंध प्रारंभ करने से पूर्व यह बताना आवश्यक समझती हूँ कि 'सम्यक्त्व' है क्या ? अन्य दर्शनों ने जिसे श्रद्धा कहा है उसी अध्यात्म श्रद्धा को, सम्यक् श्रद्धा को सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहने की जैन परंपरा स्थिर हुई है।

प्राचीन समय में ऋषि-महर्षि जिस प्रकार गुरु-दीक्षा के रूप में कान में मंत्र फूंकते थे और आज भी जिस प्रकार महेश योगी-ज्ञान और दादा भगवान् अक्रमविज्ञान-विज्ञान देते हैं उसी प्रकार जैनों में श्रद्धालु भक्तों को गुरु व्यावहारिक रूप से सम्यक्त्व प्रदान करते हैं। आचार दिनकर सूत्र में 'सम्यक्त्व प्रदान करने की विधि' का स्पष्ट उल्लेख है।

गुरु द्वारा प्रदत्त यह सम्यक्त्व ही वास्तव में सम्यक्त्व है या इस का अन्य स्वरूप है, इस की जानकारी के लिए जैन साहित्य का अध्ययन अपेक्षित है। अतएव इस निबंध में मैंने सम्यक्त्व के विचार की परंपरा का निरूपण जैनशास्त्रों का आधार लेकर किया है।

जैन आगमगत सम्यक्त्व विवेचन

'सम्यक्त्व' क्या है ? सम्यक्त्व का स्वरूप क्या है ? सम्यक्त्व का अर्थ हो गया है 'श्रद्धान'। वस्तु-तत्त्व पर श्रद्धान ! पदार्थों पर श्रद्धान ! अन्य दर्शनों ने जिसे श्रद्धा कहा उसी को जैनों ने पारिभाषिक शब्द दिया है सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शन। सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन रूढ शब्द हैं। श्रद्धा, प्रतीति, विश्वास, रुचि ये सभी श्रद्धा के पर्यायवाची नाम हैं। इसी श्रद्धा को सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहा गया है। सम्यग्दर्शन का स्थान प्रथम तथा उसके पश्चात् ज्ञान का

स्थान है। सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिए “वाचकवर्य श्री उमास्वाति” ने “तत्त्वार्थाधिगम सूत्र” में सर्वप्रथम उद्घोष किया—“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः”।^१ अतः मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान, आधारशिला सम्यक्त्व है। इस की विचारणा को जानने के लिए जैन-साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। तो हम देखें जैन-साहित्य में इस का स्वरूप किस प्रकार से स्थिर हुआ ?

जैन-संस्कृति आधुनिक युग में दो धाराओं में बह रही है —

१. श्वेताम्बर, २. दिगम्बर।

जैन साहित्य में आगमों को अतिप्राचीन एकमत से स्वीकार किया है। दिगम्बर मानते हैं कि आगमकाल के प्रभाव से विच्छिन्न हो गये हैं किन्तु श्वेताम्बरों ने वलभी वाचना में संकलित आगमों को स्वीकृत किया है।

आगम-ग्रन्थ क्या हैं ? आगमों के दो भेद हैं—अंग और अंग-बाह्य। उनमें से अंग के विषय में मान्यता है कि आगमों के अर्थ का उपदेश अर्हत् करते हैं और उसको शब्दबद्ध करते हैं उनके प्रमुख गणधर।^२ अर्थात् जैन परंपरा के अनुसार प्रधानरूप से अंग आगम तो तीर्थंकरों का उपदेश है किन्तु हमें जो प्राप्त है वह गणधरकृत तदनुसारी शब्दबद्ध आगम है।^३ और अंगबाह्य आगमों की रचना तो अंगों के आधार पर स्थविरों ने की है।

इन आगमों की सुरक्षा प्राचीन समय से गुरु शिष्य परम्परा से कण्ठाग्र रूप में की जाती रही। गुरु अपने शिष्यों को सौंपते हैं

१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, सूत्र १.

२. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणधरा णिउणं ।

सासणगस्स हितट्ठाए ततो सुत्तं पवत्तती । आव. निर्युक्ति गाथा १९२१,
विशेषावश्यकभाष्य १११६

३. जैन दर्शन का आदिकाल, पं. दलसुख मालवणिया, पृ. १.

और शिष्य अपने शिष्यों को सौंपते। इस तरह श्रुत की परम्परा भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष तक निरन्तर प्रवाह के रूप में चलती रही। ऐसी संभावना है कि पूर्वाचार्यों ने इसमें कुछ जोड़-तोड़ किया होगा।

भगवान् महावीर के लगभग एक हजार वर्ष बाद अर्थात् विक्रम की चौथी पाँचवी शताब्दी में देवद्वि गणि ने वलमीनगर में आगमों को पुस्तकारूढ किया।^१

इससे पूर्व भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् छठे आचार्य के काल में भद्रबाहू के समय में पाटलीपुत्र में वाचना हुई और उसका काल है ई. पू. चौथी शताब्दी का दूसरा दशक। इसके बाद दुष्काल पड़ने से (स्कन्दिल्याचार्य के समय) मथुरा में वाचना हुई। पश्चात् वलमी में मथुरावाचनानुसार लेखन हुआ उसका काल ई. ४५३ (मतान्तर से ई. ४६६) माना जाता है।

इस वाचना में संकलित आगम आज आगम रूप से मान्य है। किन्तु इस वाचना को दिगम्बरों ने मान्य नहीं किया। वे आगम को विच्छिन्न ही मानते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायों में स्थानकवासी और तेरापंथी केवल ३२ आगम ग्रन्थों को ही मात्र मूल रूप में जैनागमान्तर्गत गिनते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ने ४५ आगम ग्रन्थों को मान्यता दी है।

अंगप्रविष्ट में द्वादशांग गणिपिटक का उल्लेख है। बाहरवें अंग दृष्टिवाद का विच्छेद भद्रबाहू स्वामि की वाचना के समय ही हो गया था। बारहवें अंग के लुप्त हो जाने से अंगों की संख्या एकादश मानी जाने लगी। इस प्रकार ये एकादश अंग 'अंग प्रविष्ट' माने जाते हैं तथा इन एकादश अंगों के अतिरिक्त जो आगम ग्रन्थ है उन्हें अंगबाह्य कहा जाता है। इन एकादश अंगों में सम्भक्त्व का विचार व विकास किस प्रकार हुआ ?

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-१, पं. बेचरदास दोशी, पृ. ७

इन एकादश अंग-रूप गणिपिटक में सर्वप्राचीन है—आचारांग। आगमों को सभी चौथी पांचवी शती का मानते हैं किन्तु आचारांग का समय विद्वानों ने ईस्वी पूर्व तीसरी शती माना है। आचारांग की भाषा अर्द्ध-मागधी मानी जाती है।

सम्यक्त्व क्या है? वह किसे प्राप्त होता है? कैसे प्राप्त होता है? इसकी सुरक्षा किस प्रकार की जाय? आदि। इन प्रश्नों का समाधान इस सूत्र में कहाँ तक किया है? इसका विचार आवश्यक है—

(१) आचारांग—सूत्रकृतांग

सम्यक्त्व के विषय में यदि हम जैन धर्म के प्राचीन आगमों में सम्यक्त्व की क्या धारणा थी? इसकी शोध करें तो जैनागमों में प्राचीनतम माने जाने वाला आचारांग का चतुर्थ अध्ययन जिसका नाम ही 'सम्यक्त्व' है, हमारे समक्ष उपस्थित होता है। हम यहाँ उस अध्ययन का सार प्रस्तुत करते हैं जिससे विदित होगा कि भगवान् महावीर के काल में 'सम्यक्त्व' से क्या अभिप्राय था—

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहुसूरि ने इस अध्ययन के विषय को धे गाथाओं में उद्धृत किया है—

पढमे सम्मावाओ वीए धम्मप्पवाइयपरिक्खा ।

तइए अ-णवज्जतवो न हु बालतवेण मुक्खु त्ति ॥२१५॥

उद्देशंसि चउत्थे समासवयणेण नियमणं भणियं ।

तम्हा य नाणदंसण-तव-चरणे होई जहयठवं ॥२१६॥

'पढमे सम्मावाओ' प्रथम उद्देशक में सम्यग्वाद का अधिकार है। सम्यग्—'अविपरितो वादः सम्यग्वादो—यथावस्थितवस्तुवाविर्भावनं' अविपरीत अर्थात् यथार्थ वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन हो वह सम्यग्वाद है। इस उद्देशक में हिंसा का स्वरूप बताकर उसका निषेधात्मक रूप अहिंसा का विधान किया है कि जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, हुए थे तथा होंगे उन सभी का यही कहना है कि किसी भी प्राणी की

हिंसा नहीं करनी चाहिये। यही धर्मशुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है और जिन प्रवचन में प्ररूपित है।

इस प्रकार अहिंसा तत्त्व का सम्यक् एवं सूक्ष्म निरूपण के साथ अहिंसा की त्रैकालिक एवं सार्वभौमिक मान्यता, सार्वजनीनता एवं सत्यतथ्यता का सम्यग्वाद के रूप में प्रतिपादन किया है। अहिंसा व्रत को स्वीकार करने वाले साधक को कहाँ कहाँ, कैसे कैसे सावधान रहकर अहिंसा के आचरण के लिए पराक्रम करने चाहिये ? इसका निर्देश भी किया है। इस प्रकार निर्युक्तिकार के अनुसार आचारांग के ४-१ में सम्यग्वाद के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा धर्म की चर्चा की है। दूसरे उद्देशक में निर्युक्तिकार के अनुसार 'वीए धम्मपवाइ परिक्रमा' इसका विश्लेषण करते हुए 'धम्मं प्रवदितुं शीलं येषां ते धम्मप्रवादिनस्त एव धर्मप्रवादिकाः', अर्थात् विभिन्न धर्म प्रवादियों के प्रवादों में युक्त-अयुक्त की विचारणा होने से धर्मपरीक्षा का निरूपण है।

इस उद्देशक में हिंसा और अहिंसा में युक्त क्या है और अयुक्त क्या है ? इसकी परीक्षा की गई है। विभिन्न मतावलम्बियों में जो यह कहते हैं कि "यज्ञयागादि में होने वाली हिंसा दोषयुक्त नहीं" उनको बुलाकर पूछा जाय कि दुःख सुख रूप है या दुःख रूप ? तो सत्य तथ्य यही वे कहेंगे कि दुःख ही दुःख रूप है क्योंकि दुःखार्थी कोई प्राणी नहीं, सभी प्राणी सुखार्थी है। अतः हिंसा अनिष्ट एवं दुःखरूप होने से त्याज्य है, हेय है तथा अहिंसा इष्ट एवं सुखरूप होने से ग्रहण करने योग्य उपादेय है।

इसी के साथ आस्रव और परिस्रव की परीक्षा के लिए आस्रव पड़े हुए ज्ञानीजन कैसे परिस्रव (निर्जरा धर्म) में प्रवृत्त हो जाते हैं तथा परिस्रव (धर्म) का अवसर प्राप्त होने पर भी अज्ञानीजन कैसे आस्रव में फंसे रहते हैं। इस प्रकार आस्रवमग्नजनों को विभिन्न दुःखों का स्पर्श होता है, फलस्वरूप प्रगाढ़ वेदना होती है। इस प्रकार अहिंसा धर्म का आचरण करना/चाहना यह आर्यवचन और जो

अहिंसा धर्म का निषेध करते हैं उनका वचन 'अनार्य वचन' कहकर ज्ञानी और अज्ञानियों की गतिविधियों एवं अनुभव के आधार पर धर्मपरीक्षा की है।

तीसरे उद्देशक में निर्युक्तिकार के अनुसार "तदए अणवज्जतवो न हु बाल तवेण मुक्खु त्ति" अर्थात् निर्दोष/अनवद्य तप से ही मोक्ष प्राप्ति हो सकती है न कि बाल-अज्ञान तप से। इस प्रकार विश्लेषण किया है। तपस्वी कौन है? उनके गुण एवं प्रकृति तथा वे किस प्रकार तपश्चर्या कर कर्मक्षय करते हैं उनका विधान किया गया है। जो अहिंसक हैं वे ज्ञानी हैं। उनकी वृत्तियों का निरीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि ये धर्म के विशेषज्ञ होने के साथ सरल व अनसक्त हैं। वे कषायों को भरसीभूत कर कर्मों का क्षय करते हैं। ऐसा सम्यग्दृष्टि कहते हैं, क्योंकि "दुःख कर्मजनित है" वे इसे भली-भाँति जानते हैं। अतः कर्मस्वरूप जानकर उसका त्याग करने का वे उपदेश देते हैं।

जो अरिहंत की आज्ञा के आकांक्षी, निस्पृही, बुद्धिमान पुरुष हैं, वे सर्वात्मदर्शन करके देहासक्ति छोड़ देते हैं। जिस प्रकार जीर्ण काष्ठ को अग्नि शीघ्र जला देती है उसी प्रकार समाहित आत्मा वाला वीर-पुरुष कषायरूपी कर्म शरीर को तपश्चर्या द्वारा शीघ्र जला देते हैं। इस प्रकार आचारांग में सम्यक् तप का उल्लेख इस उद्देशक में किया है।

चतुर्थ उद्देशक में निर्युक्तिकार के अनुसार "समासवयणेण नियमणं भणियं" अर्थात् संक्षेप में चारित्र का निरूपण किया है। संयत जीवन कैसा हो? जो पूर्व संबंधों का त्याग कर विषयासक्ति छोड़ देता है वह। इस प्रकार पुनर्जन्म को अवरुद्ध कर दिया है जिन्होंने ऐसे वीर पुरुषों का यह संयम मार्ग दुरुह है। स्थिर मन वाला ब्रह्मचर्य से युग ऐसा वह वीर पुरुष संयम में रत, सावधान, अप्रमत्त तथा तप द्वारा शरीर को कृश करके कर्मक्षय करने में प्रयत्नशील होता है।

जो विषयभोगों में लिप्त है उन्हें जानना चाहिये कि मृत्यु अवश्यभावी है। जो अपनी इच्छाओं के वशीभूत हैं, असंयमी हैं और परिग्रह में गुद्व हैं वे ही पुनः पुनः जन्म लेते हैं। जो पाप कर्मों से निवृत्त हैं, वे ही वस्तुतः वासनारहित हैं। भोगैषणारहित पुरुष की निद्य प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? जो समितियों से समित, ज्ञान सहित, संयत, शुभांशुभदर्शी हैं, ऐसे ज्ञानियों को क्या उपाधि हो सकती है? सम्यग्दृष्टा के कोई उपाधि नहीं होती, ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं। इस प्रकार इस उद्देशक में सम्यक् चारित्र एवं चारित्रवान् का विश्लेषण किया है।

टीकाकार ने निर्युक्तिकार के आशय को स्पष्ट करते हुए चारों उद्देशकों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् तप और सम्यक् चारित्र का स्वरूप निर्धारित किया है। जबकि मूल आचारांग में ऐसा कहीं भी लक्षित नहीं होता।

वर्तमान समय में प्रचलित सम्यक्त्व का अर्थ जो श्रद्धान है वह आचारांग सूत्र में दृष्टिगत नहीं होता। चतुर्थ अध्ययन 'सम्यक्त्व' में सम्यक्त्व और मुनिजीवन का एकीकरण किया है। इस प्रकार सम्यक्त्व को मुनि जीवन के समान माना है, श्रद्धान अर्थ में स्पष्ट रूप से तो नहीं। किंतु इस प्रकार हम मान सकते हैं कि श्रद्धा के बिना मुनि-जीवन स्थिर नहीं हो सकता। अतः चारित्र से पूर्व ज्ञान और ज्ञान से पूर्व दर्शन अर्थात् श्रद्धा का होना अनिवार्य है, यह सिद्ध होता है।

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन हैं। चतुर्थ अध्ययन के अलावा पूर्ववर्ती और पश्चात्वर्ती अध्ययनों में भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ अध्ययन में तो 'सम्यक्त्व' का उल्लेख व अध्ययन का नाम 'सम्यक्त्व' होने के बावजूद भी सम्यक्त्व को स्पष्ट रूप से मुनि आचार कहा गया है।

आचारांग में सम्यक्त्व और मुनित्व को समान माना है। संयमी चारित्रवान् मुनि के आचार को ही सम्यक्त्व से अभिप्रेत किया

गया। अतएव इस में सम्यक्त्व और मुनित्व का एकीकरण किया है। मुनि सम्यग्दर्शन युक्त है इस का कथन अनेक स्थानों पर किया है। इस प्रकार मुनित्व और सम्यक्त्व का एकीकरण करते हुए कहा है—

“जो सम्यक्त्व है उसे मुनि धर्म के रूप में देखो और जो मुनिधर्म है उसे सम्यक्त्व के रूप में देखो।”

आचारांग चूर्णि में जिनदास गणि ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा—
“संयम मुनिभाव है, निश्चयनय की अपेक्षा से चारित्रवान् सम्यग्दृष्टि होता ही है। सम्यक्त्व है वहाँ नियम से सम्यग्ज्ञान है, जहाँ सम्यग्ज्ञान है वहाँ सम्यक्त्व है ही। विरति ज्ञानपूर्वक और ज्ञान सम्यक्त्वपूर्वक है।”^२

यहाँ सूत्रकार के आशय को स्पष्ट करने के लिए सम्यक्त्व और मुनिधर्म के एकीकरण की व्याख्या चूर्णिकार को करनी पड़ी। मुनिभाव क्योंकि सम्यक्त्वपूर्वक है अतएव सम्यक्त्व और मुनिभाव का एकीकरण सूत्र में सूचित है।

आचारांग वृत्ति में श्रीमद् शीलांकाचार्य ने इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया है—“सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान में सहचारित्व है। इसलिए एक के ग्रहण से दूसरे का ग्रहण न्यायोचित है। मौन अर्थात् मुनिधर्म-संयमानुष्ठान है। जहाँ मुनिधर्म है वहाँ सम्यग्ज्ञान और जहाँ सम्यग्ज्ञान है वहाँ सम्यक्त्व है। ज्ञान का फल विरति होने से सम्यक्त्व की भी अभिव्यक्ति होती है। इस तरह सम्यक्त्व, ज्ञान

१. “ज सम्मति पासहा तं मोणंति पासहा ।

जं मोणंति पासहा तं सम्मति पासहा ॥”

—आचा०सू०प्र०श्रु० पंचम अध्याय उद्देशक ३. पृ. ३८६

२. “संजमभावो मोणं, णिच्छयणयस्स जो चरिंती सो सम्मदिंटी, अतो वुच्चति-जं सम्मत्तं, तत्थ णियमा नाणं, जत्थ नाणं तत्थ णियमा सम्मत्तं अतो तदुभयभविसम्मत्तम् ।”-

आचा० चूर्णि पंचम अध्यायन उ० ३. पृ. १७९

और चारित्र में एकता है।”^१

मुनि जीवन कैसा हो ? समतायुक्त ! इस अपेक्षा से श्री जिनदास गणि ने आचारांग चूर्णि तथा श्री शीलांकाचार्य ने आचारांग वृत्ति में जो व्याख्या की है उनमें ‘सम्मं’ शब्द का रूपांतर सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्व किया। किन्तु उसका रूपांतर ‘साम्य’ लिया जाय तो अधिक संगत हो जाएगा। क्योंकि आचारांग में ही कहा गया है—

“सभी प्राणियों को आयु प्रिय है। सभी सुखार्थी है, दुःख सभी को प्रतिकूल और अनिष्ट है। सभी को मृत्यु अप्रिय है, जीना सभी को प्रिय है। प्रत्येक प्राणी जीवन की अभिलाषा रखता है।”^२

दशवैकालिक सूत्र में भी यही कहा है।^३ इसीलिए सूत्रकार ने ‘सम्यक्त्व’ नामक चतुर्थ अध्ययन के प्रारंभ में इसी दृष्टिकोण को रखकर अहिंसा धर्म को प्रधानता देते हुए कहा है कि—

“सभी प्राणी (वेइन्द्रियादि) सभी भूत (वनस्पति) सभी जीव (पंचेन्द्रिय) और सभी सत्त्वों (पृथ्वीकायादि) को नहीं मारना, उन पर हुकूमत नहीं करना, दास नहीं बनाना, उन्हें संताप नहीं देना, प्राण-रहित नहीं करना। यही धर्म शुद्ध नित्य और शाश्वत है।”

१. सम्यगिति-सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वं वा तत्सहचरितं, अनयोः सहभावा-
देकग्रहणे द्वितीयं ग्रहणं न्याय्यं, यदिदं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वं वेत्ये-
तत्पश्यत तन्मुनेर्भावो मौनसंयमानुष्ठानमित्येतत्पश्यत, यच्च मौनमित्येतत्
पश्यत तत्सम्यग्ज्ञानं नैश्रयिक सम्यक्त्वं वा पश्यतः; ज्ञानस्य विरति-
फलत्वात् सम्यक्त्वस्य चाभिव्यक्ति कारणत्वात् सम्यक्त्वज्ञानचरणा-
नामेकताऽध्यवसेयेति भावार्थः।”

-आचा० वृत्ति, पंचम अध्ययन पृ. २१२

२. “सव्वे पाणा पिआउया, सुहसाता, दुक्खपडिकूला अप्पियवधा, पिय-
जीविणो जीवितुकामा”-आचा० द्वि० अध्य० तृ० उद्दृशक पृ. १२१ ॥

३. देखो-दशवैकालिक सूत्र. अध्ययन ६, गा १० ॥

४. “सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण
अज्जावेतव्वा, ण परिवेत्तव्वा ण परितावेयव्वा ण उह्वेयव्वा। एस
धम्मं सुद्धे णित्तिप सासप।”-आचा० च० अध्य० प्रथम उद्दे० पृ. २८४

सूत्रकृतांग में भी इस विषय पर प्रकाश डाला है।^१ दशवैकालिक सूत्र में भी इसी विषय का दूसरे शब्दों में उल्लेख किया है।^२ आत्मोपम्य की भावना का इस सूत्र में दिग्दर्शन होता है और वह आत्मोपम्य ही 'साम्य' है। उसी साम्य भावना को लेकर आगे विस्तारपूर्वक कहा है।^३

इस प्रकार तीर्थंकरों द्वारा दिया गया यह उपदेश श्रद्धा को पुष्ट करता है। जहाँ श्रद्धा, विश्वास है वहाँ शंका को तनिक भी स्थान नहीं है। साधक को इस विषय में तनिक भी शंका नहीं करनी चाहिये उसके लिये कहा है कि—“शंका को छोड़कर परीषहों को संहनन करके सम्यग्दर्शन को धारण कर।”^४

अन्यत्र भी कहा है कि “मुनि ने जिस श्रद्धा के साथ प्रव्रज्या अंगीकार की है उसी श्रद्धा का शंका को छोड़कर यावज्जीवन पालन करें।”^५ इसी शंका त्याग का दशवैकालिक सूत्र में भी उल्लेख किया है तथा कहा है कि “वित्तिगिच्छा समापन्न” अर्थात् श्रद्धान के फल में शंका करने वाला समाधि प्राप्त नहीं कर सकता है।”^६

सूत्रकृतांग एवं दशवैकालिक में भी स्थान-स्थान पर इसी का कथन किया है।^७

हरिण जिस प्रकार शंकास्पद स्थानों में निःशंक और निःशंक

१. देखो-सूत्रकृतांग चतु. खण्ड. प्रथम अध्या०, सू० १५, पृ० ८७ ॥
२. दश०, अध्या० ४, गा० २९, एवं अध्या० ६, गा० १० ॥
३. आचा० चतु० अध्ययन, प्रथम उद्देशक ॥
४. चिच्छा स०व विमुत्तियं फासे समियदंसणे। आचा.अ.६ उ.२ पृ.४२९
५. जाए सद्भाए णिकखंते तमेव अणुपालेज्जा विजहिता विसोत्तियं ।
अध्य. १, उद्देशक ३, गाथा १९, पृ. ४९
६. वित्तिगिच्छासमावन्नेण अप्पाणेण नो लहइ समाहिं”, आचा० अ० ५,
उ० ५, गा० १६३.
७. सूत्रकृ० तृतीय अध्या०, उद्दे० ३, गा० १५। दश० ९, गा० १० ॥

स्थानों में शंका करने से फंस जाते हैं उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि इस प्रकार करने से भवभ्रमण करते रहते हैं।^१

इस प्रकार इससे हमें यह ज्ञात होता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यहाँ सूत्रकार को अभिप्रेत है। मुनिभाव और सम्यक्त्व की अभेदता दृष्टिगोचर होती है। मुनित्व व सम्यक्त्व की एकता का पुनः दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं कि “तत्त्ववेत्ता मुनि कल्याणकारी मोक्षमार्ग को जानवर सम्यग्दृष्टि होता हुआ पाप कर्म नहीं करता।”^२ यही उल्लेख दूसरे शब्दों में दशवैकालिक सूत्र में किया है।^३

यहाँ भी यह स्पष्ट है कि जो मुनि सम्यग्दर्शन से युक्त है वह मोक्षमार्ग का ज्ञाता होने से पापकर्म नहीं करता। और जो पाप-कर्म करता है, सम्यग्दर्शन से रहित है, उससे मुनित्व का पालन नहीं हो सकता। उस के लिए कहा है—

“धैर्यहीन, ममता से आर्द्र, विषयासक्त, मायावी, प्रमादी, घर में रहने वालों से सम्यक्त्व या मुनित्व पाला नहीं जा सकता। जो वीर सम्यक्त्वदर्शी/सम्यग्दृष्टि मुनि है वही संसार को तिरता है।^४

स्पष्ट है कि मुनिजीवन सम्यक्त्वपूर्वक होता है। पुनः कहा है—
“अक्षय वैभव के लिए कोई निमन्त्रण करे, देवता की माया में मुनि श्रद्धा न करे। सब प्रकार से दूर रहकर सत्य वस्तु को समझे”^५

१. वही, प्रथम अध्या० उद्दे० २, गा० १०-११, एवं अध्या० १२ एवं अ० १३

२. “तम्हाऽऽतिविज्जे परमं ति णच्चा सम्मत्तदंसी न करेइ पावं”-आचा० अध्या० ३, उद्दे० २, पृ २१६

३. दश०, अध्या० १०, गा० ७, एवं अध्या० ४, गा० ९ ॥

४. न इम्मं सक्कं सिद्धिलेहि अदिज्जमाणेहि, गुणासाएहि, वंकरमायरेहि, पमत्तेहि गारमावसतेहि” वीरा सम्मत्तदंसिणो एस ओहन्तरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरण वियाहिए त्ति वेमि” आ० अध्या० ५, उ० ३, पृ ३६

५. आचा० अध्या० ८, उद्दे० ८, गा० २४.

उत्तराध्ययन सूत्र में भी यह उल्लेख है।^१

मुनि यथार्थ वस्तु स्वरूप पर ही श्रद्धा करे। यहाँ पर मुनिभाव के साथ श्रद्धा का अनिवार्यतः होना बताया है। मुनिजीवन के साथ श्रद्धा अर्थात् सम्यक्त्व का सहभावित्व दिखाते हुए पुनः कथन किया है—

“जो महापुरुष कर्मों से रहित होकर, सब जानता है सब देखता है। परमार्थ का विचार कर पूजादि की अभिलाषा नहीं करता है। संसार की गति-आगति को जानकर जन्म-मरण के मार्ग को पार कर लेता है, मोक्ष में विराजमान हो जाता है।”^२

मुनि सम्यग्दृष्टि है उसके कर्तव्य क्या है ? उसका स्पष्ट उल्लेख किया है—“रागद्वेषरहित, सम्यग्दृष्टि, शास्त्रों का ज्ञाता मुनि प्राणियों पर दया करके पूर्व-पश्चिम-दक्षिण और उत्तर दिशा में रहते हुए जीवों को धर्मोपदेश दे। धर्म के विभाग बतावे, धर्म का कीर्तन करे। वह मुनि धर्म सुनने के अभिलाषी व सेवा-शुश्रूषा करने वाले साधुओं और गृहस्थों को शांति, विरति-त्याग, क्षमा, मुक्ति, पवित्रता, सरलता कोमलता का, अगम मर्यादा का उल्लंघन न करके उपदेश दे। मुनि विचार कर सब प्राणियों, भूतों, सत्त्वों और सब जीवों को धर्म का कथन करे।”^३

सम्यग्दृष्टि अन्यो को उपदेश देता हुआ इस प्रकार कहे—

१. उत्तरा० अध्या० ६, गा० १४॥

२. “एस महं अकम्मा जाणइ पासइ पडिलेहाए नावकंखइ इह आगइ गइ परिन्नाय, अच्चेइ जाइमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए”
अ. ५, उद्दे. ६, पृ. ४२८.

३. ओए समियदंसणे, दंय लोगस्स जाणित्ता पाईणं, पडीणं, दाहिणं, उदीणं, आइक्खे, विभए किट्ठेवेयवी । से अट्ठिणसु वा, अणुट्ठिणसु वा, सुस्सुसमाणेसु पवेयए सन्ति विरइ उवसमं, निव्वाणं सोयं अज्जवियं मद्दवियं लाघतियं अणइवत्तियं । सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं सत्ताणं, सव्वेसिं जीवाणं अणुवीइ भिक्खू धम्माइ-क्खिज्जा”-आचा अध्या. ६, उद्दे. ५ ॥

“तू सम्यक् रूप से विचार कर। इसी तरह संयम में प्रवृत्ति से ही कर्म का नाश होता है। इस जागृत श्रद्धाशील की एवं शिथिला-चारी की गति को बराबर देखो। इस बालभाव में अपनी आत्मा को स्थापित न कर।”

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के कर्तव्य बताकर उनके प्रकारों का भी इस सूत्र में उल्लेख किया है। परिणामों (विचारों) की विचित्रता के अनुसार श्रद्धा और संदेह को लेकर विभिन्न भंगों (प्रकारों) का दिग्दर्शन करते हैं—

श्रद्धालु महापुरुषों द्वारा समझाए हुए त्यागमार्ग अंगीकार करते समय जिनभाषित सत्य ही है, ऐसा मानने वाले साधक की श्रद्धा कदाचित् अन्त तक सम्यग् होती है। (१) पहले सम्यग् मानने वाले की श्रद्धा कभी खराब हो जाती है। (२) पहले जिनभाषित को असम्यग् मानने वाले की श्रद्धा पश्चात् सम्यक् हो जाती है। (३) पहले असम्यग् मानने वाले की श्रद्धा बाद में भी असम्यग् रहती है। (४) जिनभाषित सत्य ही है” ऐसा मानने वाले के सम्यग् अथवा असम्यग् दिखने वाले तत्त्व-विचार द्वारा सम्यग् परिणमते है। (५) जिस की श्रद्धा दूषित है उसको अच्छे या बुरे असम्यग् विचारणा से असम्यग् रूप ही परिणमते है (६)।”

१. “उवेहमाणे अणुवेहमाणं वृया-उवेहाहि समियाप, इच्चेवं तत्थ संधी झोसिओ भवइ, से उट्टियस्स ठियस्स गइं समणुपासह इत्थिषि बाल-भावे अण्णाणं नो उवदंसिज्जा।” आचा० अ० ५, उ० ५, पृ ४१५.

२. “सद्धिढस्स णं समणुत्तस्स संपव्वयमाणस्स समियंति मन्नमाणस्स एगया समया होइ (१) समियंति मन्नमाणस्स पगया असमिया होइ (२) असमियंति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ (३) असमियंति मन्नमाणस्स पगया असमिया होइ (४) समियंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होइ उवेहाए (५) असमियंति मन्नमाणस्स समिया वाअसमिया वा असमिया होइ उवेहाए (६)।” आचा० अ० ५, उ० ५, पृ. ४११॥

यहाँ श्रद्धालु के चार भंग बताये हैं और दो में उनका उपसंहार किया है कि (१) जिस की श्रद्धा शुद्ध है वह वस्तु को चाहे सम्यग् या असम्यग् रूप से ग्रहण करे लेकिन वह सम्यक् विचारणा से उसे सम्यक् रूप में परिणमता है और (२) जिस की श्रद्धा दूषित है वह चाहे सत्य को सत्य रूप में भी कदाचित् ग्रहण करे तो भी असद् विचारणा के कारण वह असत् रूप ही है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान भी अज्ञान ही है।

इस प्रकार श्रद्धालुओं के भंग बताए गए हैं। सूत्र में बताया गया है कि “भगवान् महावीर स्वयं सम्यक्त्व भावना भावित थे, इन्द्रियों और मन से शांत थे।” भगवान् महावीर ने स्वयं आचरित किया और सभी को तथाप्रकार से करने का उपदेश दिया।

मुनि जीवन सम्यक्त्व से अभिन्न है, सर्वत्र यही दृष्टिगोचर होता है। सम्यक्त्व का स्थान प्रथम है। इसके अभाव में ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं और सम्यग्ज्ञान नहीं तो चारित्र भी सम्यक् नहीं हो सकता। अतः सूत्रकार ने कहा है—“जिस प्रकार भगवान् ने फरमाया है उसको जानकर पूर्णरूपेण सम्यक्त्व के अभिमुख बर्ताव करे।”^२ इस प्रकार सम्यग्दृष्टि कहते हैं वे सभी प्रवादी तत्त्वदर्शी कर्म को सभी तरह से जानकर दुःख की चिकित्सा में कुशल होकर सावद्य के त्याग का उपदेश करते हैं।^३

इस प्रकार आचारांग सूत्र में सम्यक्त्व विषय पर विचार व विकास पाया जाता है। सम्यक्त्व के लिए यहाँ सम्मत्त, सम्मं,

१. “एगत्तगए पिहियच्चे से अहिन्नायदंसणे सन्ते।” आचा० अध्या० ९, उ० १. गा. ११, पृ ५९३ ॥

२. “जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वताए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा” आचा० अध्या० ६, उ० ३, पृ ४६९

३. एवमाहु संमत्तदंसिणो, ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स ।

कुसला परिणणमुदाहरंति इय कम्मं परिण्णाय सव्वसो ॥

—वही, अ० ४, उ० ३, पृ ३१३ ॥

समियदंसण तथा सम्यग्दृष्टि के लिए सम्मत्तदंसी सम्मत्तदंसिण शब्द प्रयुक्त हुए हैं। दृढ़ श्रद्धान, अहिंसा सम्यक्त्व की नींव है। इसके अभाव में मुनिभाव भी संभव नहीं। शंका, कांक्षा तथा विचिकित्सा ये श्रद्धा/सम्यक्त्व के घातक हैं। अतएव दृढ़ श्रद्धान, विश्वास रूपी नींव पर मुनिभाव युक्त सम्यक्त्व रूपी भित्ति का निर्माण इस में हुआ है।

आचारांग सूत्र के बाद दूसरा अंग-ग्रन्थ है—सूत्रकृतांग।

सूत्रकृतांग में सम्यक्त्व विषयगत विचार और विकास कितना हुआ है इस का हम अवलोकन करेंगे।

द्वितीयांग सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का काल आचारांग के समान ही स्वीकार किया गया है। अतः यह भी उतना ही प्राचीन है जितना आचारांग सूत्र।

सूत्रकृतांग में सम्यक्त्व विषयक विचार जो आचारांग के सदृश हैं उस का उल्लेख मैंने आचारांग के साथ ही कर दिया है। सम्यक्त्व के स्वरूप का निरूपण इस सूत्र में इस प्रकार किया गया है—
“श्री अरिहन्त देव के द्वारा भाषित युक्ति संगत शुद्ध अर्थ और पद वाले इस धर्म को सुनकर जो जीव इस में श्रद्धान करते हैं वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं अथवा वे इन्द्र की तरह देवताओं के अधिपति होते हैं।”

इस बात की प्रतीति इस अवतरण से होती है कि आचारांग की अपेक्षा यहाँ सम्यक्त्व का विषय अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ यही सूचित है कि मोक्षगामी वहाँ हो सकता है जिसे तीर्थकरोक्त धर्म पर श्रद्धान हो और साथ ही यह भी कहा कि वह धर्म शुद्ध अर्थ और पदों से युक्त हो। इस प्रकार यहाँ सम्यक्त्व का स्वरूप ‘श्रद्धान’ लक्षित होता है। किंतु यदि शास्त्रों के ज्ञानी होने पर भी

१. सोच्चा य धम्मं अरिहन्तभासियं, समाहितं अट्टपदोवसुद्धं ।

तं सहहमाणा य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगभिस्संति ।

-सूत्रकृतांग षष्ठ अध्याय, गा० २९, पृ २८५ ॥

जो सम्यक्त्व से रहित है उनकी क्रियाएँ वृथा हैं, वे मोक्ष के कारण-भूत नहीं हो सकतीं। उसका उल्लेख करते हुए कहा है—

“ जो पुरुष धर्म के रहस्य को नहीं जानते हैं किंतु जगत् में पूजनीय माने जाते हैं एवं शत्रु की सेना को जीतने वाले वीर हैं तथा सम्यग्दर्शन से रहित हैं उनका तप दान आदि में उद्योग अशुद्ध है और वह कर्मबन्धन के लिए होता है। ”

यहाँ तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व के बिना केवल व्याकरण के ज्ञानी, जगत् में पूजनीय हो जाने से वस्तु का सत्य स्वरूप नहीं जाना जाता। उनकी क्रियाएँ कर्म बंधन से युक्त होती हैं।

इस के विपरीत जो सम्यक्त्व-धारी है उनकी ही क्रिया सफल है—जो वस्तु तत्त्व को जानने वाले; महापूजनीय एवं कर्म को विदारण करने में समर्थ है तथा सम्यग्दृष्टि है, उनका तपादि अनुष्ठान शुद्ध तथा कर्म के नाश के लिए होता है। यहाँ ‘सफल’ शब्द का अर्थ ‘कर्मबन्धन से युक्त’ लिया गया है तथा ‘अफल’ कर्माभाव के लिए प्रयुक्त हुआ है। जो सम्यग्दृष्टि है उसकी सभी क्रियाएँ सफल है, वे कर्मों का क्षय करके मुक्ति महल की ओर प्रयाण कराती हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट हो रहा है कि ज्ञान से मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। जब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक उसकी क्रियाएँ मोक्ष के कारणभूत नहीं हो सकती। इस प्रकार मुनि को ज्ञान प्राप्ति से ही संतुष्ट नहीं होना चाहिये तथा अपनी ज्ञान की गरिमा का गर्व भी नहीं करना चाहिए। कहा भी है—

१. जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो ।

असुद्धं तेसि परकंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥

-वही प्र० श्रु० अध्य० अष्टम, गा० २२, पृ ३६२ ॥

२. जे य बुद्धा महाभागा, वीरा समत्तदंसिणो ।

सुद्धं तेसि परकंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥ २३ ॥

-वही, प्र० श्रु० अष्टम अध्य०, गा० २३, पृ ३६४ ॥

“सूत्र और अर्थ के विषय में शंका रहित भी साधु गर्व न करे तथा विभज्यवाद युक्त वचन बोले, धर्माचरण करने में प्रवृत्त रहने वाले साधुओं के साथ विचरता हुआ साधु सत्यभाषा और जो असत्य नहीं, मिथ्या नहीं है ऐसी भाषाओं को बोले। उत्तम बुद्धि सम्पन्न साधु धनवान् और दरिद्र सब को समभाव से धर्म कहे।”

अन्यत्र भी कई स्थलों पर इसी का उल्लेख दूसरे शब्दों में किया गया है।^२

इस प्रकार “जो संशय को दूर करने वाला है वह पुरुष सब से ज्यादा पदार्थ को जानता है”।^३

स्पष्ट है कि वस्तु तत्त्व का ज्ञाता वही हो सकता है जिस के सभी संशय दूर हो चुके हैं। अब आगे सूत्रकार बता रहे हैं कि किस कारण से श्रद्धान में रूकावट आती है—

“सर्वज्ञोक्त सिद्धांत में श्रद्धाशील बनो। हे असर्वज्ञोक्त आगम को स्वीकार करने वाले जीवों! जिनकी ज्ञानदृष्टि अपने किये हुए मोहनीय कर्म के प्रभाव से बंद हो गई है वह सर्वज्ञोक्त आगम को नहीं मानता है, यह समझो।”^४

यहाँ यह विदित होता है कि मोहनीयकर्म के कारण सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। साथ ही यह भी फलित होता है कि

१. संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खु विभज्जवायं च वियागरेज्जा।

भासादुयं धम्मसमुट्ठितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपन्ने ॥

-वही, अध्य. चतुर्दश, गां. २२ ॥

२. वही, अध्य. दशम, गाथा ३ ॥

३. अंतप वितिगिच्छाप, से जाणति अणेत्तिंस।

अणेत्तिंसस्स अक्खाया, ण से होइ तहिं तहिं ॥

-सूत्र., तृ. ख., अध्य. पंचदश, गां २, पृ. २३५ ॥

४. अदक्खुव दक्खुवाहियं (तं) सहसु अदक्खुदंसणा।

हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा। ११ ॥

-वही, प्र०ख०अध्य०द्वितीय उद्दे० ३, गा० ११, पृ. २८४ ॥

ज्ञानदृष्टि भी जमी खुल सकती है जब मोहनीय कर्मावरण दूर होगा।

इस प्रकार सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में सम्यक्त्व का विषय तथा सम्यक्त्व के न होने के कारण का उल्लेख विशेष रूप से लक्षित होता है तथा सम्यक्त्व के अभाव में मोक्ष तो दूर ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता है यह बताया गया है।

अब हम सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सम्यक्त्वविषयक विचार व विकास की ओर दृष्टिपात करेंगे। सूत्रकृतांग का प्रथम-श्रुत-स्कन्ध द्वितीय श्रुतस्कन्ध से प्राचीन है।^१ विद्वानों ने यह स्वीकार किया है। इस में यह कहा है कि “जो पुरुष कषायों और सब इंद्रियों के भोगों से निवृत्त है वे धर्मपक्ष वाले हैं। यह स्थान आर्थ स्थान है जो कि समस्त दुःखों का नाशक है। यह एकांत सम्यक् स्थान/उत्तम स्थान है।”^२

इस प्रकार धर्मपक्ष वालों का स्थान सम्यक्, आर्थ स्थान कहा। आगे सूत्रकार कह रहे हैं कि श्रमण और ब्राह्मण जो धर्मश्रद्धालु हैं उन्हीं के पास जाते हैं—विभिन्न कुलों में उत्पन्न व्यक्तियों में से जो कोई धर्म में श्रद्धा रखने वाला होता है, उस धर्मश्रद्धालु के पास श्रमण या ब्राह्मण जाने का निश्चय करते हैं।^३

यहाँ धर्म पक्ष वालों का स्थान सम्यक् तथा आर्थ स्थान तो कहा ही है साथ ही हमें यह दृष्टिगोचर होता है कि धर्मश्रद्धालु के लिए कोई निश्चित कुल का कथन नहीं किया बल्कि विभिन्न कुलों में उत्पन्न व्यक्तियों का कथन है बेशर्त कि वे धर्म पर प्रगाढ श्रद्धा रखने वाला हो।

१. देखो जन दर्शन का आदिकाल, पृ २६

२. सव्वोवसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुडेत्ति बेमि ।

एस ठाणे आरिए केवले जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंत सम्भे साहु ।

-सूत्र० द्वि० श्रु० अध्या० द्वितीय, सू० ३३ ॥

३. तेसिं च णं पगत्तीए सड्ठी भवइ कामं तं समणा वां माहणा वा संपहारिंसु गमणाए”

-द्वि. श्रु. प्रथम अध्या. सू. ९, पृ २५॥

किन्तु जो शरीरात्मवादी हैं, उस में श्रद्धा रखते हुए, उसे सत्य मानते हुए, उसमें रुचि रखते हुए, वे पापकर्म से निवृत्त नहीं होते हैं। इसी तरह वे स्त्री काम भोगों में आसक्त, उस में अत्यंत इच्छा वाले, उनमें लुब्ध होते हैं। राग द्वेष से आर्त वे अपनी आत्मा को संसार रूपी पाश से मुक्त नहीं कर सकते।^१ इस सूत्र में शरीरात्मवादी अर्थात् चार्वाक, ईश्वरकर्तृत्ववाद, आत्माद्वैतवाद का खण्डन किया है। इस प्रकार जो भी सत्य स्वरूप के यथार्थता के ज्ञाता नहीं उनकी मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि वे राग-द्वेष, विषय-कषाय से आवृत्त हैं।

आचारांग सूत्र तथा सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध तक सम्यक्त्व और मुनित्व का एकीकरण किया गया था किन्तु सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध श्रमणोपासक (गृहस्थ-श्रावक) जो कि श्रद्धाशील है, उस में भी सम्यक्त्व के लक्षणों द्वारा श्रद्धान लक्षित किया है और उन श्रमणोपासकों की इतनी दृढ श्रद्धा है कि उन्हें उस से चलायमान नहीं किया जा सकता—

“वे श्रमणोपासक जीव-अजीव के ज्ञाता, जिन्होंने पुण्य और पाप का ज्ञान कर लिया है। तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बंध और मोक्ष के स्वरूप में कुशल अर्थात् तत्त्वज्ञ होते हैं। निर्ग्रन्थ प्रवचन में वे निःशंक, कांक्षारहित और फल में सदेहरहित होते हैं कि वे असहाय होने पर भी देव, असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गन्धर्व आदि देवगणों के द्वारा निर्ग्रन्थ प्रवचन से अनतिक्रमणीय होते हैं अर्थात् उस से अलग नहीं किये

१. तं सद्दहमाणा तं पतियमाणा तं रोपमाणा...पावं कम्मं णो करि-
स्सामो समुट्ठाय ते अप्पणा अप्पडिविरया भवन्ति...एवमेष ते
इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्ठा
ते णो अप्पाणं समुच्छेदेति”-वही, पृ. ३४-३६.

जा सकते हैं।”

उन श्रमणोपासकों की इतनी अगाध श्रद्धा है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन से उनको अलग नहीं किया जा सकता। ‘तत्त्व’ जो कि जिन प्रणीत हैं उनका भी यहाँ उल्लेख है। अन्यत्र भी तत्त्वों के अस्तित्व का उल्लेख किया है—

“लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बंध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, वेदना-निर्जरा, क्रिया-अक्रिया, क्रोध-मान, माया-लोभ, प्रेम (राग)-द्वेष, चातुर्गतिक संसार, देव-देवी, सिद्धि-असिद्धि, सिद्धि गति निज स्थान, साधु-असाधु, कल्याणवान और पापी इन सभी का अस्तित्व है यह मानना चाहिये। इसी के साथ यह भी बताया गया है कि ये सभी पदार्थ नहीं हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये।”

इस प्रकार इन दो सूचियों को देखते हुए हमें ज्ञात होता है कि यहाँ सम्यक्त्व का, श्रद्धान का, विषय क्या हो? वस्तु का स्वीकार और अवस्तु का अस्वीकार ही दृढ़ता, विश्वास और श्रद्धान है।

श्रमणोपासकों का उदाहरण भी इसमें दिया है—

“वह लेप नाम का गाथापति श्रमणोपासक जीवादि तत्त्वों को जानने वाला था। निर्ग्रन्थ प्रवचन में निःशंक, निःकांक्षित और निर्विचिकित्सक था। वह वस्तु स्वरूप को जानने वाला, मोक्ष मार्ग को स्वीकार किया हुआ एवं विद्वानों से पूछ कर विशेष रूप से निश्चय किया हुआ, पदार्थों को अच्छी तरह समझा हुआ था।

१. “समणोवासगा भवन्ति अभिगय जीवा-जीवा उवलद्धपुण्णपावा आस्रवसंवर वेयणाणिज्जगकिरियाहिरणबंधमोक्खकुसला असहेज्ज-देवासुरनागसुवण्ण जक्ख रक्खस किन्नर किंपुरिस गस्सलगन्धव-महोरगाइएहि देवगणेहि निगंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा इणमेव निगन्थे पावयणे णिहसंक्रिया णिक्कंखिया निद्वितिगिच्छा”

सूत्र. द्वि. श्रु. द्वि. अध्या सूत्र ३९, पृ १८२-८३ ॥

२. वही, पंचम अध्याय० गा० १२-२८, पृ० ३०३-३०२ ॥

उसका हृदय सम्यक्त्व से वासित था तथा उसकी अस्थि और मज्जा भी धर्मानुगाग से अनुरंजित थी। वह कहता था हे आयुष्मान् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, यही परमार्थ है अन्य सब अनर्थ है।^१

लेप गाथापति के पश्चात् उदक पेढालपुत्र ने जब इस धर्म के स्वरूप को जानकर श्रद्धा की उसका वर्णन है—“उदक पेढालपुत्र ने भगवान् गौतमस्वामी से कहा—“पूर्व में मैंने इस अर्थ में श्रद्धान नहीं किया, विश्वास नहीं किया, रुचि नहीं की। हे भदंत अब इन पदों को मैंने जाना है, सुना है यावत् धारण किया है इसलिए अब इन पदों में श्रद्धा करता हूँ विश्वास करता हूँ और रुचि करता हूँ। यह बात वैसी है जैसी आप कह रहे हैं।”^२

इस प्रकार सोदाहरण यहाँ सम्यक्त्व/श्रद्धान का विषय और स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार पंचमांग व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) में जमाली अणगार का उदाहरण है^३, शिव राजर्षि का उदाहरण है^४, तथा मंखलिपुत्र गोशालक के मिथ्यात्व त्याग और सम्यक्त्व ग्रहण के अध्यवसायों का उदाहरण है।^५

१. “से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था, अभिगय-
जीवांजीवे जाव विहरइ, निग्गन्थे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए
निधिवतिगिच्छे लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभि-
गहियट्ठे अट्ठिम्मिजापेमाणुरागरत्ते, आयमाउसो ! निग्गन्थे पावयणे
अयं अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे”—सूत्र. सप्तम अध्या, गा. ६९,
पृ. ३७९-३८०

२. “तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी... पयमट्ठं णो
सहहियं णो पत्तियं णो रोइयं, एतेसि णं भते ! पदाणं एणिहं
जाणयाए सवणयाए बोहिए जाव उवहारणयाए पयमट्ठं सद्दहामि
पत्तियामि रोएमि एवमेव से जहेयं तुब्भे वदह।”

वही. सप्तम अध्या, सू. ८१, पृ. ४४२-४४३ ॥

३. भगवती, श. ९, उ. ३^१, पृ. १७६०-६२ ॥

४. भग., श. ११, उ. ९, पृ. १८९२ ॥

५. भग., श. १५, पृ. २४२७ ॥

जब प्रश्नकर्त्ता अन्यो के उदाहरण देखकर जानना चाहता है कि सत्य क्या है ? तो सूत्रकार कहते हैं—“वही यथार्थ है, सम्यक् है जो मैंने पूर्व में कहा है।”

इस प्रकार इस ग्रन्थ में सम्यक्त्व विषय का पूर्व ग्रन्थ की अपेक्षा विकास दृष्टिगोचर होता है—

- १ यहाँ निःशंका, निःकांक्षा और निर्विचिकित्सा सम्यक्त्व के ये अंग एक साथ प्रयोग में आए हैं।
- २ सम्यक्त्व का विषय जीव अजीव आदि तत्त्व है इसका स्पष्ट उल्लेख है।
- ३ मुनि के अलावा श्रमणोपासक भी सम्यग्दृष्टि हो सकता है, इसका इस सूत्र में उदाहरण सहित कथन किया है।
- ४ अहिंसा, संयम, ज्ञान, तप, इन्द्रियनिग्रह के साथ यहाँ जीवादि तत्त्वों के रूप धर्म के श्रद्धान ने सम्यक्त्व के स्वरूप को धारण किया।

२. दशवैकालिक सूत्र—उत्तराध्ययन

हालांकि आचारांग और सूयगडांग के पश्चात् तृतीय अंग ठाणांग है। यहाँ मैंने उसका स्थान पश्चात् करके दशवैकालिक आदि सूत्र को प्राथमिकता दी है। इसको प्राथमिकता देने का कारण यह है कि इन सूत्रों के रचयिता व उनका समय निर्धारित एवं विद्वानों द्वारा सम्मत है। वैसे दसवेयालिय/दशवैकालिक जैन आगमों में तीसरा मूल सूत्र है। शश्यंभव सूरि इसके कर्त्ता है, जो कि श्रमण भगवान् महावीर के चौथे पट्टधर थे।

इस सूत्र की रचना कुछ उद्देश्यपूर्ण है। अपने पुत्र मणग का जीवनकाल शश्यंभव सूरि ने दिव्य ज्ञान से जाना, और कम समय में वह आत्मोद्धार कर सके, इस अपेक्षा से पूर्वश्रुत में से, संक्षिप्त-करण कर इस दशवैकालिक सूत्र का उद्धार किया। दस अध्यायों में

इस सूत्र की रचना की तथा विकाल अर्थात् संध्या के समय पढ़े जाने के कारण इसका दशवैकालिक नाम पडा ।^१

यह तो निर्विवाद है कि इसके रचयिता शर्यभसूरि हैं । श्रमण भगवान् महावीर से ७५ वें वर्ष से ९८ वें वर्ष के मध्य इस सूत्र की रचना हुई है । क्योंकि शर्यभवाचार्य का स्वर्गवास वीर निर्वाण सम्बन्ध ९८ वें है । अतः इसी के मध्य इस सूत्र की रचना हुई है ।

इस मूल सूत्र में सम्यक्त्व विषयक विचार आचारांग एवं सूत्रकृतांग की भाँति ही हुआ है जिसे इन दोनों सूत्रों के साथ दर्शाया जा चुका है । साथ ही मुनि को श्रद्धापूर्वक जीवन-यापन करना चाहिये उसके लिए कहा है—

“ जिस श्रद्धा से संसार से निकल कर प्रब्रज्या प्राप्त करी है, उसी आचार्यसम्मत गुणों में रही हुई श्रद्धा का साधु को पूर्ण दृढता के साथ पालन करना उचित है ।”

जो साधु अमोहदर्शी अर्थात् भ्रान्तिरहित यथावत् तत्त्व के स्वरूप को जानने वाले हैं, वे पूर्वकृत कर्मों का क्षय करते हैं और नवीन कर्मों को नहीं बाँधते हैं एवं निजात्मा को पूर्ण विशुद्ध बनाकर स्वस्वरूप में लाते हैं ।^३

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-२, पृ. १७९, दशवैकालिक सूत्र-आत्मारामजी म., प्रस्तावना पृ. ७ ॥

२. जाइ सद्दाइ निक्खंतो परिआयट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरिअ संमए ॥

अ. ८, गाथा ६१, पृ. ५०४ ॥

३. खवंति अप्पाणममोह दंसिणो तवेरया संजम अज्जवगुणे ।
धुणन्ति पावाइं पुरे कडाइं, नवाइं पावाइं न ते करन्ति ॥

अ. ६, गाथा ६८, पृ. ३८ ३८१ ॥

इस प्रकार जिस समय जीव अबोधि (मिथ्यादृष्टि) भाव से संचित किये हुए कर्म-रज को आत्मा से पृथक् कर देता है, वह लोकालोक को प्रकाश करने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करता है ।^१

यहाँ तक यह स्पष्ट है कि संच्यती सम्यग्दृष्टि ही होता है । पश्चात् एक तथ्य पुनः सम्मुख आता है—

पहले ज्ञान है पीछे दया है । इसी प्रकार से सब संयत् वर्ग स्थित है अर्थात् मानता है । अज्ञानी क्या करेगा ? और पुण्य पाप के मार्ग को वह क्या जानेगा ?^२

यहाँ स्पष्ट है कि ज्ञान के पश्चात् दया अर्थात् विरति है और पूर्व में स्पष्ट हो चुका है कि विरति का मूल सम्यक्त्व है । पुण्य और पाप का मार्ग सम्यग्दृष्टि जान कर सम्यग्ज्ञानी बनता है । अतः सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है, यह तथ्य हमारे सामने आता है ।

इस प्रकार दशवैकालिक सूत्रान्तर्गत सम्यक्त्व सम्बंधी विचार व विकास पर दृष्टिपात कर अब हम उत्तराध्ययन सूत्र में इसका विकास, विचार देखें ।

उत्तराध्ययन सूत्र

उत्तराध्ययन-उत्तराध्ययन जैन आगमों का प्रथम मूल सूत्र है । लायमान के अनुसार यह सूत्र उत्तर-बाद का होने से अर्थात् अंग ग्रन्थों की अपेक्षा उत्तरकाल का रचा हुआ होने के कारण उत्तराध्ययन

१. जया धुणइ कम्मरयं अबोहि कलुसं कडं ।

तया सव्वतगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥

म. ४, गाथा २१, पृ. १३० ॥

२. पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्व संजण ।

अन्नाणी किं काही ? किं वा नाही सेयपावगं ।

-दश. अ. ४, गाथा १०, पृ. १२० ॥

कहा जाता है। लेकिन इस ग्रन्थ के टीकाग्रन्थों से मालूम होता है कि भगवान् महावीर ने अन्तिम चौमासे में जो बिना पूछे हुए छत्तीस प्रश्नों के उत्तर दिये, उनके इस ग्रन्थ में संग्रहित होने के कारण इसका नाम उत्तराध्ययन पड़ा।^१

उत्तराध्ययन सूत्र की रचना के विषय में कुछ मतभेद देखने में आता है। निर्युक्तिकार तो इसके कतिपय अध्ययनों को दृष्टिवादांग से उद्धृत किया हुआ मानते हैं। कितनेक स्थलों को जिनभाषित कहते हैं और कितनेक प्रत्येकबुद्धादि रचित एवं अन्य स्थविरादि के द्वारा कहे गए स्वीकार करते हैं।^२

चूर्णिकार श्री जिनदास गणि महत्तर और बृहद्वृत्तिकार वादि वैताल श्री शान्तिसूरि ने भी निर्युक्ति के इसी विचार को मान्य रखा है। परन्तु उत्तराध्ययन के छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा और श्रमण भगवान् महावीरस्वामी के निर्वाण संबंधी कल्पसूत्र के पाठ को देखते हुए निर्युक्तिकार का ध्यान कुछ विचार की अपेक्षा रखता है। उत्तराध्ययन सूत्र की अन्तिम गाथा में लिखा है कि श्रमण भगवान् महावीरस्वामी ने उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों को प्रकट करने के अनन्तर निर्वाण पद को प्राप्त किया।^३

कल्पसूत्र का निम्नपाठ भी इसी बात का समर्थन करता है—

“छत्तीसं अपुट्ठवागरणां वागरित्ता पहाणं नाम अज्झयणं विभावेमाणे २ कालगए विइकन्ते समुज्जाए छिन्नजाइ जरामरणबन्धणे सिद्धे मुत्ते अंतगडेपरिनिव्वुडे सव्वदुक्खपर्हाणे।”

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ. १४६ ॥

२. अंगपरभा जिणभासियाय पत्तेयबुद्ध संवाया।

बन्धे मुखे य कण, छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥ निर्युक्ति गाथा ४ ॥

३. इति पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए।

छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धीए संभए ॥ गाथा २७०, प्रस्तावना-
उत्तराध्ययन सूत्र, आत्मारामजी म., पृ. ९-१० ॥

अर्थात् ३६ अपृष्ठ व्याकरणों-उत्तराध्ययन रूप ३६ अध्ययनों का कथन करके, प्रधान नाम के अध्ययन मरुदेत्यध्ययन का चिंतन करते हुए निर्वाण पद को प्राप्त हो गये । (कल्पसूत्रवाचना ११ वीं)

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उत्तराध्ययन के निर्माता भगवान् महावीरस्वामी हैं और वह उनका अन्तिम उपदेश है । श्री हेमचन्द्रसूरि ने त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र में इसी सिद्धांत का अनुसरण किया है ।^१

अतः उत्तराध्ययन सूत्र के निर्माता (अर्थ रूप से) श्रमण भगवान् महावीर के अतिरिक्त और कोई नहीं है, यह ऐतिहासिक मत है ।

किंतु आधुनिक विद्वानों में जार्ज चोर्पेन्टर आदि का मत है कि उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है किन्तु यह एक संग्रह है जो कि विभिन्न समय में भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से उद्भूत हुआ है ।^२

अब हम उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक्त्व, विषयगत विचार व विकास पर दृष्टिपात करेंगे ।

सम्यक्त्व का स्वरूप क्या है ? इसका निरूपण करते हुए ग्रंथकार ने २८ वें मोक्षमार्ग नामक अध्ययन में कहा है-

तथ्यभावों के अर्थात् जीवाजीवादिक पदार्थों के सद्भाव में स्वभाव से या किसी के उपदेश से भावपूर्वक जो श्रद्धा है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं ।^३

१ षट्त्रिंशत्तमाप्रश्नव्याकरणान्यभिधाय च ।

प्रधानं नामाध्ययनं जगद्गुहरभावयत् ॥

त्रि. श. पु. पर्व १०, सर्ग १३, श्लोक २२४ ॥

२. द उत्तराध्ययन सूत्र, जार्ज चोर्पेन्टर, पृ. ४० ॥

३. तहियाणं तु भावाणं सद्भावे उवएसणं ।

भावेण सहहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥ अध्ययन २८, गाथा १५ ॥

जीवाजीवादिक पदार्थों में श्रद्धा होना सम्यक्त्व है। यह यहाँ द्योतित होता है। आचारांग से लेकर अब तक के अंग सूत्रों में तथा अंग बाह्य अर्थात् अंगों से इतर आगम ग्रन्थों में सम्यक्त्व का अर्थ क्या है? यह यहाँ स्पष्ट हुआ।

उपर्युक्त गाथा में कहा है कि “जीवाजीवादिक पदार्थों के सद्भाव में” तो वे जीवाजीवादिक पदार्थ कौन से हैं? उसके लिए कहा है—जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं।”

अर्थात् इन नव पदार्थों पर श्रद्धान सम्यक्त्व है यह इससे तात्पर्य निकलता है।

इस प्रकार यहाँ जीवादि नौ पदार्थों पर श्रद्धा होना सम्यक्त्व है यह निर्धारित हुआ। तत्त्वार्थ पर श्रद्धा होना दुर्लभ है उसका सूत्रकार कथन करते हैं—

सांसर में इस जीव को मनुष्यत्व, श्रुतधर्म का श्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ इन चार अंगों की प्राप्ति होना बहुत कठिन है।^१

कदाचित् धर्मश्रवण प्राप्त हो जाय तो भी धर्म में श्रद्धा—रुचि होना परम दुर्लभ है। यह श्रद्धा संसार रुपी सागर से पार कराने के लिए नौका जैसी है। कितने ही मनुष्य ऐसे हैं जो मोक्ष मार्ग को सुनकर भी श्रद्धा नहीं होने से भ्रष्ट हो जाते हैं।^३ अन्यत्र भी कहा

१. जीवाजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावाऽऽसवो तथा ।

संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्त्येए तहिया नव ॥

अध्ययन २८, गाथा १४ ॥

२. चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।

माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥

उत्त. अध्ययन ३, गाथा १ ॥

३. आहच्च संवणं लद्धं, सद्धा परमदुल्लहा ।

सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सइ ॥ अध्ययन ३ गाथा ९ ॥

है—उत्तम धर्मश्रुति के मिलने पर भी तत्त्व की श्रद्धा फिर भी दुर्लभ है क्योंकि मिथ्यात्व सेवी पुरुष बहुत देखे जाते हैं। अतः गौतम समय मात्र भी प्रमाद मत कर। धर्म में श्रद्धान होने पर भी उसका काया के द्वारा सेवन करना बहुत कठिन है। क्योंकि इस संसार में काम-गुणों से मूर्च्छित जीव अधिक देखे जाते हैं।^१

उपर्युक्त गाथाओं से विदित होता है कि 'श्रद्धा' परम दुर्लभ है। धर्म में श्रद्धा—सम्यग्दर्शन, तत्त्वों पर श्रद्धा—सम्यग्ज्ञान तथा काया द्वारा इस श्रद्धा का सेवन—सम्यक् चारित्र यह अभिप्राय इस से निकाल सकते हैं। किंतु श्रद्धा—सम्यक्त्व तो आध्यात्मिक विकास के लिए आधारशिला है।

सम्यक्त्व के स्वरूप को दर्शा कर अब सूत्रकार बता रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि पुरुष के कर्म और कर्त्तव्य कैसे हो ? सम्यग्दृष्टि पुरुष विषय को अपनी बुद्धि से विचार करके देखे और अपने पूर्वपरिचय की अभिलाषा न रखता हुआ ममत्त्व और स्नेहभाव को तोड़ देवे।^२

इस प्रकार सांसारिक विषयभोगों को हेय तथा मोक्षमार्ग को उपादेय समझ कर मुनि शंका-कांक्षाओं का त्याग करे—ऐसा इस सूत्र में स्थान-स्थान पर कहा गया है।^३

१. [क] लध्व्रुण वि उत्तमं सुइं, सहहणा पुणरवि दुल्लहा ।

मिच्छन्तनिसेवए जणे, समयं गोयम मा पमायए ॥

[ख] धम्मं पि हु सहहंतया, दुल्लहया काएण फासया ।

इह कामगुणेहि मुच्छिया, समयं गोयम मा पमायए ॥

वही अध्ययन १०, गाथा १९-२० ॥

२. एयमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंरुणे ।

छिन्दे गेहिं सिणेहं च, न कंखे पुट्ठं संथव ॥

वही अध्ययन ६, गाथा ४ ॥

३. उत्तरा० अध्ययन ६ गाथा १४, अध्ययन २ गाथा ४४-४५,

अध्ययन ९ गाथा २६, अध्ययन १९ गाथा ४२, अध्ययन ५ गाथा २३ ॥

सम्यग्दृष्टि की क्रियाएँ कैसी होती हैं ? उस का कथन है कि “दर्शन सम्पन्न जीव क्षायिक दर्शन को प्राप्त करता है जो कि संसार के हेतुभूत मिथ्यात्व का सर्वथा उच्छेद कर देने वाला है, पश्चात् उस के दर्शन का प्रकाश वृद्धता नहीं किन्तु उस दर्शन के प्रकाश से युक्त हुआ जीव अपने अनुत्तर ज्ञान दर्शन से आत्मा का संयोजन करता है तथा सम्यक् प्रकार से भावित होता हुआ विचरता है” ।^१

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि की गतिविधियों का कथन करके ग्रन्थकार बता रहे हैं कि सम्यक्त्व जिस कारण से अवरूद्ध होता है वह कर्म है मोहनीय । तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्मावरण से जीव को सम्यग्-दर्शन की उपलब्धि नहीं हो सकती उस का उल्लेख करते हुए कहा है—मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय । दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्व-मोहनीय और सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय—ये तीनों कर्म प्रकृतियाँ मोहनीय कर्म की दर्शन विषयक होती हैं ।^२

जो मिथ्यादर्शन में रत है उसे सम्यक्त्व-प्राप्ति नहीं होती, उस का कथन है—

जो जीव मिथ्यादर्शन-मिथ्यात्व में अनुरक्त है, तथा निदानपूर्वक क्रियानुष्ठान करते हैं और हिंसा में प्रवृत्त हैं, उनको मृत्यु के पश्चात् बोधिलाभ-सम्यक्त्व की प्राप्ति होना कठिन है । ठीक इस के विपरीत

१. दंसणसंपन्नाए णं भंते । जीवे किं जणयइ ? दंसणे संपन्नयाए णं भवमिच्छत्तच्छेयणं करेइ । परं न विज्झायइ । परं अविज्झाएमाणे अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ॥

-वही अध्ययन २९, गाथा ६० ॥

२. मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तथा ।

दंसणे ति विहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥

सम्मत्तं चैव मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तमेव य ।

पयाओ तिन्नि पयडीओ मोहणिज्जस्स दंसणे ॥-वही अध्य० ३३, गा ८-९ ॥

जो जीव सम्यग्दर्शन में अनुरक्त, निदान कर्म से रहित और शुद्ध लेश्या में प्रतिष्ठित हैं उनको परलोक में बोधि प्राप्ति सुलभ होती है।^१

उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक्त्व के दस भेदों का निरूपण विस्तार के साथ किया गया है। जिन्हें 'रुचि' संज्ञा से अभिहित किया गया है—

१. निसर्गरुचि-जिनको जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर. इन का स्वरूप स्वाभाविक मति से किसी के उपदेश बिना सत्य रूप से ज्ञात हो गया है और उस पर उनकी श्रद्धा है, वह निसर्गरुचि है तथा जिनेश्वर द्वारा उपदेशित चार प्रकार के भावों की 'जो कि उसी प्रकार है अन्यथा नहीं है' इस प्रकार स्वयमेव श्रद्धा करे उसे निसर्गरुचि जाननी चाहिये।^२
२. उपदेशरुचि-जो अन्य छद्मस्थ के या जिनेश्वर द्वारा उपदेशित भावों पर श्रद्धा करे उसे उपदेश रुचि कहते हैं।^३
३. आज्ञारुचि-हेतु को जाने बिना, पर आज्ञा प्रमाण कि 'यही है अन्यथा नहीं है' इस प्रकार प्रवचन पर रुचि रखने वाला हो तो वह आज्ञा रुचि है।^४

१. मिच्छादंसणरत्ता, सनियाना हु हिंसगा ।

इय जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥

सम्महंसणरत्ता अनियाना सुक्कलेसमोगाढा ।

इय जे मरंति जीवा तेसिं सुलहा भवे बोही ॥

-वही अध्ययन ३६, गाथा २५८-२५९ ॥

२. भूअत्थेणाधिगया जीवाजीवं य पुण्ण पावं च ।

सहसम्मुइयाऽऽसव-संवरो य रोएइ उ निसग्गो ॥ वही अ० २८ ॥१७॥

जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सहहाइ सयमेव ।

एमेव नन्नह त्ति य, स निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥ वही ॥१८॥

३. एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सहहई ।

छउमत्थेण जिणेण व, उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥ वही ॥१९॥

४. रागो दोलो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ ।

आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नामं ॥ वही ॥२०॥

४. सूत्ररुचि-जो सूत्रों का अध्ययन करता हुआ अंग या अंगबाह्य श्रुत द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त करे वह सूत्र रुचि है ।^१
५. बीजरुचि-जीवादि तत्त्व के एक पद की रुचि से अनेक पद के विषय में जिस का सम्यक्त्व पानी में तेल की बूंद के सदृश प्रसरता है, बीज रुचि है ।^२
६. अभिगमरुचि-जिसने ग्यारह अंग, पञ्चा और दृष्टिवादरूप श्रुत ज्ञान अर्थ से जान लिया है वह अभिगम रुचि है ।^३
७. विस्ताररुचि जिसे सर्वप्रमाण और सर्व नय द्वारा द्रव्यगत सर्व भाव उपलब्ध है, उसे विस्तार रुचि वाला जानना ।^४
८. क्रियारुचि दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय सर्व समिति और गुप्ति विषयगत क्रिया भाव की जिस की रुचि हो वह क्रिया रुचि है ।^५
९. संक्षेपरुचि-जिसने किसी भी कुदृष्टि अर्थात् कुदर्शन का स्वीकार नहीं किया, एवं जिन प्रवचन में भी अकुशल है और अन्य दर्शनों का जिसे ज्ञान नहीं है, उसे संक्षेपरुचि जानना ।^६

१. जो सुनमहिज्जंतो, सुपण ओगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बाहिरेण व, सो सुत्तरई त्ति नायव्वो ॥ वही २१॥
२. एणेण अणेगाई, पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं ।
उदप एव तेल्लबिइ, सो वीयरइ त्ति नायव्वो ॥ वही ॥२२॥
३. सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं ।
पक्कारस अंगाई, पइण्णमं दिट्ठिवाओ य ॥ वही ॥२३॥
४. दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवल्लद्धा ।
सव्वार्हिं नयविहीहिं, वित्थाररइ त्ति नायव्वो । वही ॥२४॥
५. दंसणनाण चरित्ते, तवविणप सच्चसमिइगुत्तीसु ।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुईनाम ॥ वही ॥२५॥
६. अणभिग्गहियकुदिट्ठि, संखेवरइ त्ति होइ नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥ वही ॥२६॥

१०. धर्मरुचि-जिनेश्वर प्ररूपित अस्तिकाय, धर्मास्तिकाय आदि धर्म की श्रुतधर्म और चारित्रधर्म पर श्रद्धा करे उसे धर्मरुचि जानना।^१

इन दस प्रकार की रुचियों का वर्णन प्रज्ञापना सूत्र में दर्शनार्यों के अन्तर्गत किया है। यहाँ हमें यह विदित होता है कि किसी रुचि में 'श्रद्धा' शब्द प्रयुक्त हुआ है तो कहीं कहीं 'सम्यक्त्व' शब्द का उपयोग किया गया है। अतः सम्यक्त्व का श्रद्धा पर्यायवाची नाम द्योतित होता है। इस प्रकार यहाँ सम्यक्त्व का स्वरूप श्रद्धान बताकर, वह श्रद्धान किस प्रकार से हो सकता है उसे दस प्रकार की रुचि के माध्यम से होना बताया है।

इस के पश्चात् सूत्रकार दर्शनाचारों का वर्णन करते हैं—

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ (दर्शनाचार) हैं।^२

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक्त्व विषयक विचारणा विस्तृत रूप से की गई है, तथा उत्तरोत्तर विकास की विशद सामग्री इस में उपलब्ध होती है। विशेषकर सम्यक्त्व का स्वरूप क्या है? यह इस ग्रन्थ में स्पष्ट हो जाता है तथा सम्यक्त्व को यहाँ निश्चितरूप से मोक्षरूपी प्रासाद का प्रथम सोपान घोषित किया है। साथ ही दस प्रकार की रुचि रूप सम्यक्त्व के दस भेद एवं सम्यक्त्व के अतिचारों का इस में उल्लेख किया गया है।

१. जो अत्थिकाय-धम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च।

सद्दहइ जिजाभिहियं, सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो । वही ॥२७॥

२. निस्सकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य। उववूह थिरीकरणे वच्छल्ल प्रभावणे अट्ट।-उत्त०अध्ययन २८, गाथा ३१ ॥

एवं प्रज्ञापना सूत्र, गाथा १३२, पृ. ४०, निशीथ सूत्र प्रथम भाग गाथा २३, पृ० १४ ॥

(३) निशीथ सूत्र — दशाश्रुतस्कन्ध — प्रज्ञापना

निशीथ सूत्र

छेद सूत्रों में निशीथ सूत्र का स्थान सर्वोपरि है। यह आचारांग सूत्र का ही एक भाग माना जाता है। आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पाँच चूला हैं। निशीथसूत्र पाँचवी चूला है। इसीलिए निशीथसूत्र को निशीथचूला अध्ययन भी कहा जाता है। इस सूत्र का एक नाम आचार-प्रकल्प भी है।^१

निशीथ सूत्र की रचना किसने और कब की? अब हम इस पर विचार करेंगे। निशीथसूत्र दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों को ही मान्य है। अतः इतना तो कहा ही जा सकता है कि श्वेताम्बर दिगम्बर मतभेद से या दोनों शाखाओं के पार्थक्य से पूर्व ही इसकी रचना हो चुकी थी। पट्टावलियों का अध्ययन इस बात की तो साक्षी देता है कि दोनों परम्परा की पट्टावलियाँ आचार्य भद्रबाहू तक तो समान रूप से चलती आती हैं, किन्तु उन के बाद से पृथक् हो जाती हैं। निशीथसूत्र के कर्ता कौन है? इस विषय में कई मत हैं—

एक परम्परा यह है कि आचार्य भद्रबाहूकृत माने जाने वाले व्यवहार सूत्र में 'आचार प्रकल्प' का कई बार उल्लेख है। अतएव स्पष्ट है कि आचार्य भद्रबाहू के समक्ष किसी न किसी रूप में वह उपस्थित था यह तो मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में निशीथ आचार्य भद्रबाहू के समय की रचना तो मानी ही जा सकती है इस दृष्टि से वीर निर्वाण के १५० वर्ष के भीतर ही निशीथ का निर्माण हो चुका था, इसे हम असंदिग्ध होकर स्वीकार कर सकते हैं।

'एक परम्परा यह भी है कि आचार्य भद्रबाहू ने निशीथसूत्र की रचना की है।' तब भी इस का समय वीर निर्वाण के १५० वर्ष के बाद तो हो ही नहीं सकता। और एक पृथक् परम्परा यह भी

१. निशीथ सूत्रम्, संपादकीय प्रथम भाग, पृष्ठ ३ ॥

है कि “विशाखाचार्य ने इसकी रचना की।” विशाखाचार्य भद्रबाहू के अनन्तर ही हुए हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ वीर निर्वाण के १७५ वर्ष के आसपास तो बन ही चुका होगा।^१

अब हम निशीथसूत्रान्तर्गत सम्यक्त्व विषय पर अवलोकन करेंगे—
निशीथसूत्र में दर्शनाचार आठ प्रकार के कहे हैं—

१. निःशंकित, २. निष्कांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढदृष्टि,
५. उपबृंहण, ६. स्थिरीकरण, ७. वात्सल्य और ८. प्रभावना।^२

इस सूत्र में आगे इन आठों ही आचारों की व्याख्या की है तथा चूर्णिकार जिनदास गणि महत्तर ने इनके भेद दृष्टान्त सहित कहे हैं।

१. निःशंकित—इस की व्याख्या करते हुए कहा है—“संसयकरणं संका” अर्थात् संशय करना शंका है।^३ यह शंका चूर्णिकार दो प्रकार की बताते हैं कि—

१. देशशंका, एवं २. सर्वशंका।

देशशंका किसी विषय में अंशतः भी शंका करना। जैसे समान होने पर भी जीवों में भव्य और अभव्य भेद कैसे हो सकते हैं? यह देशशंका है।

सर्वशंका—समस्त द्वादशांग गणिपिटक प्राकृत भाषा में ही बना है, अथवा किसी कुशल व्यक्ति द्वारा कल्पित है, इस प्रकार की शंका सर्व शंका है। इस प्रकार शंका न करके निःशंक रहना चाहिये।

२. निष्कांक्षित—‘कंखा अण्णोण दंसणग्गाहो’ अर्थात् अन्य अन्य दर्शनों की कांक्षा अर्थात् अभिलाषा करना यह कांक्षा है।^४ जो इस से रहित है वह निष्कांक्षित है।

१. निशीथसूत्रम्, भाग ४, प्रस्तावना, पं. दलसुख मालवणिया पृ. २४-२५

२. गिस्संकिय गिक्खिय, गिद्वित्तिगिच्छा अमूढदिट्ठिय।

उववृह-थिरीकरणे वच्छल्ल पभावणे अट्ट वही॥ प्र.भाग, गा. २३, पृ. १०१४॥

३. वही प्रथम भाग, गाथा २४, पृष्ठ १५ ॥

४. संसयकरणं संका, कंखा अण्णोणदंसणग्गाहो।

संतमि वि वित्तिगिच्छा, सिज्जेज्ज ण मे अयं अट्टो ॥ वही॥ गा. २४, पृ. १५

३. निर्विचिन्निगच्छा - 'संतमि वि वितिगिच्छा, सज्जेज्ज ण मे अयं अट्ठो' 'यह कार्य होगा या नहीं इस प्रकार यह वितिगिच्छा है। प्रत्यक्ष में यह ऐसा है परोक्ष में इस का फल मिलेगा या नहीं ? यह वितिगिच्छा है।' वितिगिच्छा अर्थात् मति का विप्लव होना। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष है ? आदि आदि। इस का त्याग अथवा इस से रहित होना निर्विचिकित्सा है।

अन्य प्रकार से भी वितिगिच्छा की व्याख्या सूत्र में की है— जो साधु के मलिन वस्त्र पात्र उपकरण आदि देखकर निंदा, गर्हा करे विदुगुच्छा कही जाती है। पूर्व में कही वितिगिच्छा से यह विशेष है।^२

४. अमूढदृष्टि-परवादियों की अनेक प्रकार की ऋद्धि, पूजा समृद्धि, वैभव देखकर जो आकर्षित नहीं होता वह अमूढदृष्टि है।^३ सुलसा अमूढदृष्टि है।
५. उपवृहण-तपस्वी की, वैयावृत्य करना तथा विनय सज्जायादि से युक्त देखकर प्रशंसा करना वह उपवृहण है। प्रशंसा करना, श्रद्धा-श्लाघा करना वह है उपवृहण।^४
६. स्थिरीकरण जो संयम में साधु शिथिल हो रहा है उस में धैर्यता, स्थिरता उत्पन्न करना है अर्थात् उसे प्रेरणा देना स्थिरीकरण है।^५

१. विदु कुच्छत्ति व भणत्ति, सा पुण आहारमोयमसिणाइं ।

तीसु वि देसे गुरुगा, मूलं पुण सच्चिहि होती ॥वही॥ गा.२५, पृ.१६॥

२. विदु कुच्छत्ति व भणत्ति, सा पुण आहारमोयमसिणाइं ।

तीसु वि देसे गुरुगा, मूलं पुण सच्चिहि होती ॥वही गा.२५, पृ.१६॥

३. णेगविधा इड्ढीओ, पूयं परवादिणं चदत्तूणं ।

जस्स ण मुज्झइ दिट्ठी, अमूढदिट्ठं तयं वेत्ति ॥वही॥ गा.२६, पृ.१७॥

४. खमणे वेयावच्चे, विणयसज्जायमादि संजुत्तं ।

जो तं पसंसए पस, होति उपवृहणा विणओ ॥वही॥ गा.२७, पृ.१८॥

५. एतेसुं चिअ खमणादिपसु सीदंतवोयणा जा तु ।

बहुदोसे माणुस्से, मा सीदं थिरीकरणमेयं ॥वही गा. २८, पृ.१८॥

वचन क्रिया के माध्यम से संयम में स्थिर करने का नाम है स्थिरीकरण ।

७. वात्सल्य-अर्थात् साधर्मिक का वात्सल्य करना । आहार भैषज, सेवा, वैयावृत्त आदि के द्वारा अतिथि साधु की विशेष परिचर्या करना वात्सल्य है ।^१

आचार्य, ग्लान, बाल, तपस्वी आदि की वात्सल्य करना ।

८. प्रभावना-शब्दों को अवधारण कर जो प्रवचन की प्रभावना करते हैं वह प्रभावना है ।^२

इस प्रकार दर्शन के आठ आचारों का वर्णन इस सूत्र में किया गया है ।

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रम्

दशाश्रुतस्कन्ध छेद सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है । सम्भवतः छेद नामक प्रायश्चित्त को दृष्टि में रखते हुए इन सूत्रों को छेदसूत्र कहा जाता है । छेदसूत्रों में जैन साधुओं के आचार से सम्बन्धित प्रत्येक विषय का पर्याप्त विवेचन किया गया है । दशाश्रुतस्कन्ध का दूसरा नाम 'आचार दशा' भी है । इसमें जैनाचार से सम्बन्धित दस अध्ययन हैं । दस अध्ययनों के कारण ही इस सूत्र का नाम दशाश्रुतस्कन्ध अथवा आचार दशा रखा गया है । यह मुख्यतया गद्य में है । इस सूत्र के मूल प्रणेता तो श्री श्रमण भगवान् महावीर ही हैं किन्तु शिष्य परम्परा में उनके इस कथन को स्थिर रखने के लिये इसका संकलन श्री भद्रबाहूस्वामी ने किया ।^३ दस दशाओं में नवमी-दशा में

१. साहम्मि य वच्छल्लं, आहारातीहि होइ सव्वत्थ ।

आएसगुरुगिलाणे, तवस्सिबालादि सविसेसं ॥वही॥ गा०२९, पृ०१८॥

२. कामं सभावसिद्धं, तु पवयणं दिप्पते सयं चेव ।

तहवि य जो जेणहिआं, सो तेण पभावते तं तु ॥

॥ वही गाथा ३१, पृ. १९ ॥

३. द० शु० स्क० अनु०-आत्मारामजी म०, भूमिका, पृ. ६ ॥

मोहनीय कर्म के ३० स्थानों का वर्णन किया है जो कि सम्यक्त्व का अवरोधक है।

इस सूत्र में बताया गया है कि मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर अन्य कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती—जैसे मूल सूत्र जाने पर वृक्ष को खूब पानी पिलाया जाय तो भी उसमें पल्लव और अंकुरादि नहीं होते हैं वैसे ही मोहनीयकर्म के क्षय होने पर शेष कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती है।^१

यहाँ निश्चित रूप से कहा गया है कि मोहनीयकर्म के कारण जीव अन्य कर्मों का भी बंधन करता है। आगे ग्रन्थकार बता रहे हैं कि किन कारणों से जीव मोहनीयकर्म का बन्धन करता है। जो व्यक्ति त्रस प्राणियों को मारता है यावत् पानी में डुबोकर, डराकर, अग्नि जलाकर, हाथादि से, प्रहार या डण्डे से मारता है वह महा-मोहनीयकर्म का बन्ध करता है।^२

इसी प्रकार जो अपने दोषों को छिपाता है, माया को माया से आच्छादन करता है, झूठ बोलता है तथा सूत्रार्थ का गोपन करता है, निर्दोष पर दोषारोपण करता है, सत्य व असत्य रूप मिश्र वचन बोलता है, कलह करता है, तिरस्कार करता है, अब्रह्म का सेवन करके भी अपने आपको ब्रह्मचारी कहता है, विषय सुखों में लिप्त रहता है, धन का लोभी होता है, उपकारी के लाभ में विघ्न उपस्थित करता है, अथवा पालनकर्त्ता, सेनापति, या धर्माचार्य की हिंसा करता है, अथवा देश के व्यापारियों व नेता व महायशस्वी श्रेष्ठी की हिंसा करता है अथवा दीक्षार्थी व दीक्षित व्यक्ति को धर्म से भ्रष्ट करता है

१. जहा दड्ढाणं वीयाणं न जायति पुण अंकुरा ।

कम्मवीएसु दड्ढेसु न जायति भवांकुरा ॥

—दशाश्रुतस्कन्ध, अध्ययन ५, गाथा १५, पृ १६८ ॥

२ दशाश्रुतस्कन्ध, नवमी दशा, गाथा १ से ७ तक-पृ. ३२२-३२८

अथवा जिनेन्द्र देवों की निन्दा करता है, जिनसे श्रुत व विनय प्राप्त किया उन आचार्यों और उपाध्यायों की निन्दा करता है, उनकी सेवा नहीं करता, एवं जो अबहुश्रुत होकर भी अपने को बहुश्रुत प्रख्यात करता है, तपस्वी न होकर अपने आपको तपस्वी प्रख्यात करता है, अथवा छल करने में निपुण होता है, हिंसा युक्त कथा का उपयोग बार-बार करता है, अधार्मिक वशीकरण योगों का प्रयोग करता है, जो व्यक्ति मनुष्य अथवा देव संबंधी काम भोगों की अतृप्ति से अभिलाषा करता है, वह महामोहनीयकर्म का उपार्जन करता है ।^१

इस प्रकार इस सूत्र में सम्यक्त्व के अवरोधक तत्त्व मोहनीयकर्म का विवेचन विस्तृत रूप से किया गया है ।

प्रज्ञापना सूत्र

पन्नवणा अथवा प्रज्ञापना जैन आगमों का चौथा उपांग है । जैसे अंगों में भगवती सबसे बड़ा है वैसे ही उपांगों में प्रज्ञापना सबसे बड़ा है । इसके कर्त्ता वाचकवंशीय पूर्वधारी आर्य श्यामाचार्य हैं जो कि गणधर सुधर्मास्वामी की तेईसवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे, एवं वीर निर्वाण के ३७६ वर्ष बाद मौजूद थे । यह आगम समवायांग सूत्र का उपांग माना जाता है यद्यपि दोनों की विषय-वस्तु में समानता नहीं है ।^२

इस सूत्र में सम्यक्त्व की पहचान किन गुणों अथवा लिंगों से होती है उसका उल्लेख है—

१. परमार्थ-संस्तव-परमार्थ तत्त्व का बार-बार गुणगान करना,
२. सुदृष्ट परमार्थ सेवना अर्थात् जिन्होंने परमार्थ को अच्छी तरह से जाना है, ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुषों की शुश्रूषा करना,

१. वही, गाथा ८ से ३० तक. पृ ३२९-३५४ ॥

२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग- , पृ. ८३ ॥

३. व्यापन्नकुदर्शन वर्जना-असत्य दर्शन में जो विश्वास रखते हैं उनकी संगति न करना यह सम्यक्त्व की श्रद्धा है ।^१

यहाँ विशेष लक्ष्य देने योग्य यह है कि यहाँ सर्वप्रथम प्रकट रूप से 'सम्भक्त सदहणा' प्रयुक्त हुआ है । सम्यक्त्व व श्रद्धान का अलग-अलग अप्रकट रूप से वर्णन तो मिलता है किंतु एक साथ प्रकट रूप से यहीं प्रयुक्त हुआ है । प्रज्ञापना सूत्र में सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, एवं सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों के अल्पत्व-बहुत्व का कथन किया है कि-सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव कितने-कितने हैं ? अल्प हैं या बहुत हैं ? समान हैं या विशेष, उसकी प्ररूपणा करते हुए कहा है-

सबसे अल्प सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं, सम्यग्दृष्टि अनन्तगुणा हैं और मिथ्यादृष्टि भी अनन्तगुणा हैं ।^२

इस प्रकार प्रज्ञापना सूत्र में उत्तराध्ययन सूत्रोक्त दस प्रकार की रुचि एवं दर्शनाचारों का भी वर्णन किया है । यहाँ सर्वप्रथम सम्यक्त्व के साथ श्रद्धान को प्रकट किया । पूर्वागमों में जो अप्रकट रूप से हमारे सामने आया, उसका यहाँ स्पष्ट उल्लेख आया है । यहाँ से ही श्रद्धान शब्द सम्यक्त्व के अर्थ में रुढ हो जाता है ।

दूसरी बात यह प्रकाश में आती है—सम्यक्त्व के लिंग ।

१. परमत्थसंथवो वा सुदिदृष्टपरमत्थ सेवणा वा वि ।

वावण्ण-कुदंसणवज्जणा य सम्भक्तसद्दहणा ॥

-प्रज्ञापना, गाथा १३१, पृ. ४० ॥

संपादक : पुण्यत्रिजय मुनि, बम्बई : श्री महावीर जैन विद्यालय

२. एतेसि ण भंते ! जीवाणं सम्भदिदृठीणं मिच्छदिदृठीणं सम्भामिच्छादिदृठीणं च कतरे कतरेहितो अप्पा या बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा सव्वत्थोवा जीवा सम्भामिच्छादिदृठी सम्भामिदृठी अणंतगुणा मिच्छदिदृठी अणंतगुणा ।

-वही तृतीय अल्पत्वबहुत्व पदं सूत्र २२६, द्वार ९, पृ. ९७ ॥

(५) पंचमांग भगवती (वियाह-पण्णत्ति)

पाँचवें अंग का नाम वियाह-पण्णत्ति-व्याख्याप्रज्ञप्ति हैं। अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक विशाल एवं अधिक पूज्य होने के कारण दूसरा नाम भगवती भी प्रसिद्ध है। कहीं-कहीं इसका नाम विवाह-पण्णत्ति और विवाह-पण्णत्ति भी उपलब्ध होता है, किन्तु वियाहपण्णत्ति ही प्रतिष्ठित है। वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने भी इसकी व्याख्या प्रथम करके इसे ही विशेष महत्त्व दिया है।

उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति में जो शैली विद्यमान है वह गौतम के प्रश्नों एवं भगवान् महावीर के उत्तरों के रूप में है। यह शैली अति प्राचीन प्रतीत होती है।^१

उपर्युक्त कथन से हमें इसकी अति-प्राचीनता का बोध अवश्य होता है किन्तु इसका रचनाकाल कब है ? यह ज्ञात नहीं होता।

इन विविध प्रश्नोंत्तरो में सम्यक्त्व विषयक उल्लेख भी है। इस अंग में सम्यक्त्व विषयक चर्चा अति-विस्तारपूर्वक एवं सूक्ष्म रीति से हुई है।

सर्वप्रथम यहाँ गौतम गणधर को श्रद्धापूर्वक संशय और कुतूहल उत्पन्न हुआ। वह श्रद्धा, संशय एवं कुतूहल विशेषण लगाकर भी प्रयुक्त हुआ है। यथा-जाय-सड्ढे, संजाय-सड्ढे तथा उप्पण-सड्ढे। जाय-सड्ढे-‘जात श्रद्धे’ से यहाँ तात्पर्य है कि गौतमस्वामी को श्रद्धा अर्थ तत्त्व जानने की इच्छा पैदा हुई।

संजाय सड्ढे-इसमें ‘सम’ उपसर्ग अधिक लगा है जो कि प्रकर्ष लाता है। इससे अर्थ यह हुआ कि गौतम को प्रकर्षरूप से/विशेषरूप से श्रद्धा उत्पन्न हुई।

उप्पण-सड्ढे-यह पद पूर्व पद के साथ हेतु-हेतुमद-भाव-कार्यकारण भाव बतलाने के लिये दिया है। उन्हें श्रद्धा उत्पन्न हुई इसी कारण

श्रद्धा में प्रवृत्ति हुई। उत्पत्ति के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए 'उपपन्न सङ्घे' आदि पद कारण है और 'जाय सङ्घे' आदि पद इनके कार्य हैं।^१

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का दृष्टिकोण कैसा होता है उसका कथन है—

राजगृहीनगरी में रहा हुआ सम्यग्दृष्टि और अमायी भावितात्मा अणगार वीर्यलब्धि से, वैक्रियलब्धि से और अवधिज्ञान लब्धि से वाराणसीनगरी की विकुर्वणा करके वह यथाभाव (यथार्थ रूप) से जानता और देखता है। किन्तु इसके विपरीत जो मायी मिथ्यादृष्टि है वह वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और विभंगज्ञानलब्धि युक्त है, वह तथाभाव (यथार्थ रूप) से नहीं जानता और न देखता है किन्तु अन्यथा भाव से जानता देखता है।^२ उस साधु का विपरीत दर्शन होता है।

दर्शन और ज्ञान आत्मा से भिन्न है, या अभिन्न, उसके लिए कहा है—आत्मा नियम से दर्शन रूप है और दर्शन भी नियम से आत्मरूप है।^३ जिसके ज्ञानात्मा है उसके नियम से दर्शनात्मा है और जिसके दर्शनात्मा है उसके ज्ञानात्मा हो भी और न भी हो।^४

१. भगवतीसूत्र, प्रथम भाग, सम्पादक-वेवरचन्द्रजी बाढिया ॥

२. "अणगारे णं भत्ते। भावियप्पा अमाई सम्मदिट्ठी वीरियलब्धीप वेउव्वियलब्धीप ओहिणाणलब्धीप रायगिहं णयरं समोहप, समोहणित्ता वाणारसीप णयरीप रूवाइं तहाभावं जाणइ पासइ णो अण्णहाभावं जाणइ पासइ। माई मिच्छदिट्ठी वीरिएलब्धीप वेउव्वियलब्धीप, विभगणाणलब्धीप वाणागसिं णयरीं समोहप समोहणित्ता रायगिहे णयरे रूवाइं णो तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ। से से दंसणे विवच्चासे भवइ।"

भग०, श० ३, उद्दे० ३, पृ० ६९७ से ७०१ ॥

३. "आया नियमं दंसणे, दंसणे वि णियमं आया"

-श० १२, उद्दे० १०, पृ० २११६ ॥

४. जस्स णाणाया तस्स दंसणाया नियमं अत्थि जस्स पुण दंसणाया तस्स णाणाया भयणाप

-श० १२, उद्दे० १०, पृ० २१०८ ॥

यहाँ यह निश्चित होता है कि दर्शनपूर्वक ही ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) होता है। प्रत्येक आत्मा दर्शनयुक्त होता है, उदाहरण देते हुए उल्लेख किया है—

नैरयिक जीवों की आत्मा नियम से दर्शनरूप है और उसका दर्शन भी नियम से आत्मरूप है इस प्रकार यावत् चौबीस दण्डवों में कहना चाहिये ।^१

स्पष्ट है कि आत्मा से दर्शन अभिन्न है, चाहे वह दर्शन सम्यक् रूप से हो या मिथ्या रूप से।

भगवतीसूत्र में मिथ्यात्व मोहनीय 'कांक्षा मोहनीय' शब्द से प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है उस समय मिथ्यात्व मोहनीय को कांक्षा मोहनीय कहा जाता हो। 'अभिधान राजेन्द्र' में कांक्षा मोहनीय के लिए कहा गया है—“मोहयतीति मोहनीयं कर्म सच्चारित्रमोहनीयमपि भवतीति विशिष्यते कांक्षाऽन्यान्य दर्शन ग्रहः। उपलब्धत्वाच्चाऽस्यशंकादिपरिग्रहः। ततःकांक्षायामोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीयमित्यर्थः।”

कांक्षा मोहनीय अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय का विचार यहाँ विस्तार पूर्वक हुआ है—

क्या जीव कांक्षा मोहनीय कर्म करते हैं? तो उत्तर दिया-हाँ, करते हैं। नैरयिकों के लिए पूछते हैं, वे भी कांक्षामोहनीय कर्म करते हैं? हाँ! करते हैं! इसी प्रकार चौबीस दण्डकों के विषय में कहना चाहिये।^२ पुनः प्रश्न करते हैं कि कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन/भोग भी करते हैं? हाँ! करते हैं। किस प्रकार करते हैं?

१. आया णेरइयाणं नियमा दंसणे, दंसणे वि से णियमं आया एवं जाव वेमाणियाणं निरन्तरं दंडओ ॥

वही, ॥ पृ० २११६ एवं श० ८, उद्दे० २, पृ० १३२८ ॥

२. जीवा णं भत्ते। कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे? हंता कडे। नेरइयाणं भंते। कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे? हंता जाव वेमाणियाणं दंडो भणियद्वो।

श० १, उद्दे० ३, पृ० १६३ ॥

गौतम ! अमुख अमुख कारणों से जीव शंकायुक्त, कांक्षायुक्त विचिकित्सायुक्त भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं।^१

यहाँ स्पष्ट होता है कि शंका, कांक्षा, विचिकित्सा भेद-समापन्न और कलुष-समापन्न होकर जीव मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का वेदन करते हैं। इस का समर्थन करते हुए कहा है—

वही सत्य है, निश्चक है जो अरिहन्त भगवन् ने प्ररूपित किया है।^२

पुनः प्रश्नोत्तर द्वारा बताया गया है—जीव कांक्षा मोहनीय कर्म बांधते है ? हाँ ! तो किस प्रकार बांधते हैं ? प्रमाद के कारण और योग के निमित्त से बांधते हैं। प्रमाद किस से उत्पन्न होता है ? तो कहा योग से ! योग किस से उत्पन्न होता है ? वीर्य से और वीर्य किस से ? शरीर से ! शरीर किस से उत्पन्न होता है ? शरीर जीव से और जीव उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम से उत्पन्न होता है।^३

इस प्रकार नैरथिक से लेकर स्तनित कुमार तक के जीवों के लिए कहा कि वे भी कांक्षा मोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

१. जीवाणं भंते कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदंति ? हंता वेदंति । कहणं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदंति ? तेहिं तेहिं कारणेहिं संकिया, कंखिया, वितिगिच्छिया, भेदसमावन्ना कलुस समावन्ना एवं खलु जीवा कंखा मोहणिज्जं कम्मं वेदंति ।

भग०, वही, पृ० १६९ ॥

२. "तमेव सच्चं णिसकं जं जिणेहिं पवेइयं" श० १, उद्दे० ३, पृ० १६९ ॥

३. जीवाणं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति ? हंता बंधंति । कहणं भंते ? पमादपच्चया, जोगनिमित्तं च । पमाप किं पवहे ? जोगप्पवहे । जोग किं पवहे ? वीरियप्पवहे । वीरिय किं पवहे ? सरीरप्पवहे । सरीरे किं पवहे ? जीवप्पवहे । एवं संति अत्थि उट्टाणेइ वा, कम्मैइ वा, बल्लेइ वा, वीरियेइ वा, पुरिसक्कारपरिक्कमेइ वा ।

-वही, श० १, उद्दे० ३, पृ० १७८ ॥

किन्तु पृथ्वीकाय के जीव जो कि एकेन्द्रिय हैं, वे किस प्रकार वेदन करते हैं ? उन जीवों के ऐसा तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा, मन या वचन नहीं होता कि हम कांक्षामोहनीय कर्म को वेदते हैं। किन्तु वे उसे वेदते हैं। इस प्रकार चतुरिन्द्रिय जीव एवं पंचेन्द्रिय तिर्यच से यावत् वैमानिक जीवों तक कहना चाहिये।^१

इसके पश्चात् श्रमण-निर्ग्रन्थ के लिए प्रच्छा है क्या वे भी कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं ?

हाँ वेदते हैं ! किस कारण से ?

उन उन कारणों से ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चरित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर, कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तर के द्वारा शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर श्रमण निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म वेदते हैं।^२

इस से स्पष्ट होता है कि सभी जीव शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर ही मिथ्यात्व मोहनीय का वेदन करते हैं, श्रमण निर्ग्रन्थ भी इस से अछूते नहीं रहते।

अब ग्रन्थकार स्पष्टीकरण कर रहे हैं कि—“केवली यावत् केवलिपाक्षिक से सुने बिना भी क्या बोधि प्राप्ति हो सकती है ?”

-
१. नेरइया णं भंते ! कंखा मोहणिज्जं कम्मं वेइंति ? हंता वेइंति । जहा ओहिआ जीवा तहा नेरइया जाव थणिय कुमारा । पुढविक्काइया कहणं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेति ? गोयमा ! तेसि णं जीवाणं णो एवं । वही पृ० १८९ ॥
२. समणा वि निग्गंथा कंखा मोहणिज्जं कम्मं वेइंति ? हंता । कहणं भंते ! तेहिं तेहिं कारणेहिं नाणंतरेहिं, दंसणंतरेहिं चरित्तंतरेहिं, लिंगंतरेहिं, पवयणंतरेहिं, पावयणंतरेहिं, कप्पंतरेहिं, मग्गंतरेहिं, मयंतरेहिं, भंगंतरेहिं णयंतरेहिं, नियमंतरेहिं, पमाणंतरेहिं, संक्रिया, कंखिया, वित्तिगिच्छिया भेयसमावन्ना, कलुससमावन्ना एवं खलु समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेइंति”-शा० १ उहे० ३, पृ० १८९-१९०॥

तो उत्तर है—गौतम ! केवलि आदि के पास सुने बिना कुछ जीव शुद्धबोधि को प्राप्त करते हैं और कितनेक जीव शुद्ध बोधि को प्राप्त नहीं करते ।

पुनः प्रश्न है कि भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा गया कि यावत् शुद्ध बोधि को प्राप्त नहीं करते ?

“ गौतम ! जिस जीव ने दर्शनावरणीय (दर्शनमोहनीय) कर्म का क्षयोपशम किया है, उस जीव को केवलि आदि के पास सुने बिना भी शुद्ध बोधि का लाभ होता है और जिस जीव ने दर्शनावरणीय का क्षयोपशम नहीं किया, उस जीव को केवलि आदि के पास सुने बिना शुद्ध बोधि का लाभ नहीं होता । इसलिये हे गौतम वे सुने बिना शुद्ध बोधि लाभ नहीं करते ।^१ यहाँ बोधि सम्यक्त्व से अभि-
प्रेत हैं ।

मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दृष्टि किस प्रकार होता है ? उस संबंध में उल्लेख है—

निरंतर छठ-छठ कां तप करते हुए सूर्य के संमुख ऊँचे हाथ करके आतापना भूमि में आतापना लेते हुए, उस जीव के प्रकृति की भद्रता, प्रकृति की उपशान्तता, स्वभाव से ही क्रोध, मान, माया

१. असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा जाव तथाविखय उवासियाए वा
x x x केवलं बोहिं बुज्जेज्जा ? गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा
जाव अत्थेगइए केवलं बोहिं बुज्जेज्जा, अत्थेगइए केवलं बोहिं णो
बुज्जेज्जा । से केणट्टेणं भंते ! जाव णो बुज्जेज्जा ?

—श० ९, उद्दे० ३१, पृ० १५८९-९० ॥

२. जस्स णं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे णो कडे भवइ से
णं असोच्चा केवलिस्स वा जाव केवलं बोहिं णो बुज्जेज्जा । जस्स
णं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, सेणं असोच्चा
केवलिस्स वा जाव केवलिपणत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए, केवलं
बोहिं बुज्जेज्जा जाव केवलणाणं उप्पाडेज्जा ।

—वही, श० ९, उद्दे० ३१, पृ० १५८९-९० ॥

और लोभ के अत्यंत अल्प हो जाने पर, मार्दव अर्थात् कोमलता आने पर, काम भोगों में अनासक्ति, भद्रता और विनीतता से किसी दिन शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम, विशुद्ध लेश्या होने पर एवं तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से ईहा अपोह मार्गणा और गवेषणा करते हुए विभंग नामक अज्ञान उत्पन्न होता है।'

उस के द्वारा वह जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट असंख्यात् हजार योजन तक जानता देखता है। वह पाखण्डी, आरम्भी, परिग्रही और संकलेश को प्राप्त हुए जीवों को जानता है, और विशुद्ध जीवों को भी जानता है। इस के बाद वह विभंगाज्ञानी सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। उसके बाद श्रमणधर्म पर रुचि करता है। तब उस विभंगाज्ञानी के मिथ्यात्व पर्याय क्रमशः क्षीण होते होते और सम्यग्दर्शन की पर्याय क्रमशः बढ़ते बढ़ते वह विभंगाज्ञान सम्यक्त्व युक्त होता है और शीघ्र ही अवधि ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है।'

यहाँ बताया गया है कि परोपदेश के बिना भी, दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है। एवं मिथ्या-

१. तस्स णं भंते ! छट्ठच्छट्ठेण अणिक्खित्तेणं तवो कम्माणं उडढं बाहाओ पगिज्झयxx पगइउवसंतयाए पगइपयणु कोह-माण-माया लोभयाए मिउमह्व संपणयाए, अल्लीणयाए, भइयाए, विणीययाए, अणया कयावि सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं लेस्साहि विसुज्झ-माणीहिं २ तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा-ऽपोह-मग्गण-गवेषणं करेमाणस्स विभंगे णामं अणणाणे समुप्पजइ ।”

-वही, श० ९, उद्दे० ३१, पृ० १५९२-९३ ॥

२. से णं तेणं विभंगणणेणं समुप्पणणेणं जीवे वि याणइ, अजीवे वि याणइ, पासंडत्थे, सारंभे, सपरिग्गहे, संकिलिस्समाणे वि जाणइ, विसुज्झमाणे वि जाणइ से णं पुट्टवामेव सम्भत्तं पडिवज्झइ, सम्भत्तं पडिवज्जित्ता स-णधम्मं रोएइ xxxतस्स णं तेहिं मिच्छत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं २ सम्भइसण-पज्जवेहिं परिवड्ढमाणेहिं २ से विभंगे अणणाणे सम्भत्तं परिग्गहिए खिप्पामेव ओहीपरावत्तइ।” भग० वही ॥

दृष्टि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति किस प्रकार करता है। अध्यावसायों अर्थात् विचारों या परिणामों की विशुद्धि एवं कषायों की उपशांतता होने पर सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

एक बात और ध्यान आकर्षित करती है वह यह कि सम्यक्त्व-प्राप्ति के पश्चात् ही विभंग अज्ञान का परिणमन अवधिज्ञान रूप हो जाता है। स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन से पूर्व सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस प्रकार भगवती सूत्र में सम्यक्त्वविषयक विचार व विकास पाया जाता है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि—

- (१) सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है।
- (२) सम्यक्त्व का अवरोधक दर्शन-मोहनीय कर्म है।
- (३) सम्यक्त्व का अधिकारी कौन कौन सा जीव हो सकता है।

(५) नंदी-अनुयोगद्वार

नंदीसूत्र

यद्यपि नंदीसूत्र चूलिका सूत्र है, किन्तु आगम वाचना के प्रारंभ में सर्वप्रथम नंदी को ग्रहण किया जाता है।^१ चूंकि कल्याण-विजय जी देववाचक और देवर्द्धि को एक ही व्यक्ति मानते हैं अतः इन का समय वीर निर्वाण २८० वां वर्ष मानते हैं। जबकि नंदी सूत्र का उल्लेख विशेषावश्यक, आवश्यकनिर्युक्ति, भगवतीसूत्र में आता है अतः इन का समय पूर्व का होना चाहिये। अतः विक्रम संवत् ५२३ से पूर्व इस की रचना मानी जा सकती है।^२ इसके रचयिता देववाचकजी है।

नंदीसूत्र का विषय ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन का पश्चात्-वर्ती है। सम्यक्त्व का इसमें स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है किन्तु सम्यक्

१. प्रस्तावना, नंदीसुत्तंभणुओगहाराई च, पृ० २३ ॥

२. वही, पृ० ३२-३३ ॥

श्रुत और मिथ्याश्रुत के अन्तर्गत स्पष्टतया उल्लेख है कि सम्यग्दृष्टि का श्रुत ही सम्यग्ज्ञान है ।

इसका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं—

“ जो सम्यग्दृष्टि है उसकी मति मतिज्ञान है और जो मिथ्या दृष्टि है उसकी मति मतिअज्ञान है । ”^१

अतः सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ही ज्ञानरूप-सम्यग्रूप है । सम्यग्दर्शन पूर्वक ही सम्यग्ज्ञान होता है इसकी यहाँ पुष्टि होती है ।

ज्ञान का पहला भेद मतिज्ञान है और दूसरा भेद है श्रुतज्ञान । सूत्रकर्त्ता ने ग्रन्थ में उसका भी उल्लेख करते हुए कहा—

सम्यग्दृष्टि का श्रुत श्रुतज्ञान है, मिथ्यादृष्टि का श्रुत श्रुत-अज्ञान है ।^२

इससे भी यही पुष्टि होती है कि सम्यग्दृष्टि को ही श्रुतज्ञान होता है । श्रुतज्ञान के भेद से और भी स्पष्ट होता है—श्रुतज्ञान के भेदों में सम्यक् श्रुत और मिथ्याश्रुत ये दो भेद हैं—सम्यक् श्रुत क्या है ?

सम्यक् श्रुत—“ उत्पन्न ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले त्रिलोक द्वारा सन्मानपूर्वक देखे गये, तथा यथावस्थित उल्कीर्तित, भावयुक्त नमस्कृत्य सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अर्हन्त भगवन्त द्वारा प्रणीत जो यह द्वादशांग रूप गणिपिटक है, जैसे—“ आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपातिकदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद—इसप्रकार यह द्वादशांग गणिपिटक है । चौदह पूर्वधारियों का श्रुत सम्यक् श्रुत होता है । उसके कम अर्थात् दशपूर्वधर से कम के भजना है अर्थात्

१. “ विसेशिया सम्मदिदट्टिस्स मई मइणाणं, मिच्छादिट्ठिस्स मई मइअण्णाणं ”
—नंदीसूत्र, सू० २५, पृ० १६० ॥

२. विसेशियं सुयं-सम्मदिट्ठिस्स सुयं-सुयनाणं, मिच्छादिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं ॥ वही ॥

हो भी और न भी ।”^१

इस प्रकार द्वादशांग गणिपिटक को सूत्रकार ने सम्यक् श्रुत कहा है । मिथ्याश्रुत क्या है ? उसके लिए कहा है—“मिथ्याश्रुत अल्पज्ञ मिथ्यादृष्टि और स्वाभिप्राय बुद्धि व मति से कल्पित किये हुए जो भारत रामायण...नाटकादि ग्रन्थ हैं अथवा बहोत्तर कलाएं, चार वेद अंगोपांग सहित हैं, ये सभी मिथ्यादृष्टि के मिथ्यारूप में ग्रहण किये हुए मिथ्याश्रुत हैं ।”^२

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि की रचना सम्यक्श्रुत तथा मिथ्यादृष्टि की रचना मिथ्याश्रुत है । उसके बावजूद भी ग्रन्थकर्त्ता का कथन है कि—

मिथ्यादृष्टि द्वारा रचित श्रुत सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक्श्रुत ही है क्योंकि सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व रूप में ग्रहण होने से सम्यक् श्रुत है ।^३

साथ ही मिथ्यादृष्टि के भी यही ग्रन्थशास्त्र सम्यक्श्रुत हैं, क्योंकि ये उनके सम्यक्त्व में हेतु हैं, जिससे कई एक मिथ्यादृष्टि उन ग्रन्थों

१. “से कि तं सम्मसुअं ? सम्मसुअं जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्प-
ण्णणाणं दंसणधरेहिं-सव्वण्णहिं सव्वदरिसीहिं पणीयं दुवालसंगं
गणिपिडगं, तं जहा आयारो, स्यगडो, ठाणं, समवाओ, विवाहपण्णत्ती,
णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अन्तगडदसाओ, अणुत्तरोववाइय-
दसाओ, पण्हावागरणाइं, विवागसुयं, दिट्ठिवाओ । इच्चेयं दुवालसंगं
गणिपिडगं चोददसपुट्ठिवस्स सम्मसुयं, अभिण्णदसपुट्ठिवस्स सम्मसुयं,
तेण परं भिण्णसु भयणा ॥”

-नंदीसूत्र, सूत्र ४१, पृ. २६१ ॥

२. “मिच्छसुयं जं इमं अण्णाणिपहिं मिच्छहिट्ठीहिं सच्छंदबुद्धिमति-
वियप्पियं, तं जहा-भारहं, रामायणं...णाडगादि । अहवा बावत्तरि
कलाओ चत्तारि य वेदा संगोवंगा । पयाइं मिच्छहिट्ठिस्स
मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छसुयं,”

-सूत्र० ४१-४२, पृ० २६५-२६६ ॥

३. “पयाणि चैव सम्महिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं” ॥वही॥

से प्रेरित होकर स्वपक्षमिथ्यादृष्टित्व को छोड़ देते हैं ।^१

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव में सम्यक्त्व के प्रभाव से मिथ्याश्रुत को सम्यक्श्रुत के रूप में परिणत करने की अपूर्व शक्ति प्राप्त हो जाती है । जो श्रुत मिथ्यात्व के पोषक होते हैं वे सम्यक्त्व के पोषक बन जाते हैं ।

इस विषय को वृत्तिकार ने और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि—“ एतानि भारतादीनि शास्त्राणि मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्व परिगृहीतानि भवन्ति, ततो विपरीताभिनिवेशवृद्धिहेतुत्वान्मिथ्याश्रुतम्, एतान्येव च सम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्व परिगृहीतानि भवन्ति, सम्यक्त्वेन यथावस्थिताऽसारतापरिभावनरूपेण परिगृहीतानि, तस्य सम्यक् श्रुतम्, तद्गताऽसारतादर्शनेन स्थिरतर सम्यक्त्वपरिणामहेतुत्वान् । ”

भावार्थ यह है कि ये भारत आदि शास्त्र मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व के कारण होते हैं क्योंकि विपरीत अभिनिवेश की वृद्धि में हेतु होने से मिथ्याश्रुत है । ये ही भारत आदि शास्त्र सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक् रूप से ग्रहण किये जाते हैं । इससे सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि के लिए लौकिक तथा लोकोत्तरिक सभी ग्रन्थ सम्यक् श्रुत हैं ।

ठीक इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि के लिए द्वादशांग गणपिटक भी मिथ्याश्रुत रूप है विपरीत अभिनिवेश के कारण । इस प्रकार इस सूत्र से स्पष्टतया हमें ज्ञात हो जाता है कि सम्यग्ज्ञान तभी हो सकता है जबकि उससे पूर्व सम्यग्दर्शन हो चुका हो अन्यथा वह ज्ञान नहीं अज्ञान है । उत्तराध्ययन सूत्र में भी इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं हो सकता और दर्शन में उसकी भजना होती है । यदि दोनों एक काल में हो तो उनमें सम्यक्त्व की उत्पत्ति प्रथम होगी । इसी प्रकार दर्शन (सम्यक्त्व) से रहित को ज्ञान नहीं होता, ज्ञान

१. एयाणि चेव सम्महिद्विस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं”—वही ॥
२. “अहवा मिच्छदिदद्विठस्स वि सम्मसुयं, कम्हा ? सम्मत्तहेउत्तणओ, जम्हा ते मिच्छदिदद्विठया तेहिं चेव समएहिं चोइया समाणा केइ सपक्खदिद्विठो चयंति ” ॥ वही ॥

के बिना चारित्र्य गुण प्रकट नहीं होते, चारित्र्य के गुणों के बिना कर्मों से मुक्ति नहीं होती और कर्म-मुक्ति के बिना निर्वाण नहीं हो सकता ।^१

ग्रन्थकार ने आगे यहाँ तक कहा है कि बुद्धिमान् अग्रमादी संयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य को ही मनःपर्यव ज्ञान हो सकता है ।^२

इससे तात्पर्य यह निकलता है कि मिथ्यादृष्टि को मनःपर्यव ज्ञान नहीं होता है ।

इस प्रकार इन सब तथ्यों से यही पुष्ट होता है कि सम्यग्ज्ञान से पूर्व सम्यक्त्व अनिवार्यतः होना चाहिये । एक बात और ध्यान देने योग्य है कि इस सूत्र में ग्रन्थकार ने मति अज्ञान तथा श्रुत अज्ञान की चर्चा की है किंतु विभंग ज्ञान की चर्चा दृष्टिगत नहीं होती ।

नदीसूत्र के प्रारम्भ में देववाचकजी ने 'संघ' की स्तुति करते हुए संघ को विभिन्न उपमाओं से उपमित किया है । उन उपमाओं में 'सम्यक्त्व' को भी ग्रहण किया है । संघ को नगर की उपमा में कहा-

“दंसण विसुद्धरत्थांगा” अर्थात् विशुद्ध (सम्यग्) दर्शन ही उस नगर की वीथियाँ अर्थात् मार्ग है ।^३

संघ को चक्र की उपमा में कहा-“सम्यक्त्व उस संघ चक्र का घेरा या परिधि है ।”^४

संघ को चन्द्र की उपमा में कहा-“निर्मल सम्यक्त्व रूप स्वच्छ चांदनी वाले हे संघ चन्द्र ! सर्वकाल अतिशयवान् हो ।”^५

१. नत्थि चरित्तं सम्मत्तं विहूणं, दंसणे उ भइयव्वं । सम्मत्तं चरित्ताइं जुगवं पुट्ठं व सम्मत्तं । नादंसिणस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरण गुणा । अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अभोक्खस्स निट्ठवाणं ।

-उत्तरा० अ० २८, गाथा २९ ३० ॥

२. देखो-नदीसूत्र, पृ० १०६ १०७ ॥

३. नदी, गाथा ४ ॥

४. नदी, गाथा ५, संजम-तव-तुंबारयस्स, नमो सम्मत्तपारियल्लस्स ।

५. “जयसंघचन्द्र ! निर्मल-सम्मत्तविसुद्ध जोणहागा ।” गाथा ९ ॥

संघ को मेरुपर्वत की उपमा में कहा—“संघ का आधार उत्तम सम्यग्दर्शन है ।”^१

इस प्रकार विभिन्न उपमाओं में सम्यक्त्व को ग्रन्थकार ने स्थान दिया है। सर्वप्रथम नदीसूत्र में ही यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि ज्ञान तभी सम्यक् हो सकता है जबकि सम्यग्दर्शन हो चुका हो।

अनुयोगद्वार सूत्र

आर्यरक्षित सूरि की यह रचना ‘अनुयोगद्वार सूत्र’ प्रवाद के आधार पर मानी जाती है। इस का रचनाकाल इस्वी सन् द्वितीय शती मानी जा सकती है क्योंकि इसमें तरंगवती का उल्लेख है, जिस का समय प्रथम शती है।^२

इस सूत्र में छः प्रकार के नामों का उल्लेख है, यथा—औद्यिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिमाणिक और सन्निपातिक।

जीव में उदय से जो औद्यिक भाव निष्पन्न होते हैं, वे अनेक प्रकार के हैं—मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि और मिश्रदृष्टि।^३

यहाँ सूत्रकार यह स्पष्ट कर रहे हैं कि जीवों के कर्मों के उदय से ही मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि आदि भाव उत्पन्न होते हैं। औपशमिक भाव दो प्रकार का है—१. उपशम, २. उपशम निष्पन्न। मोहनीय कर्म का जो उपशम है वही उपशम है। उपशम निष्पन्न औपशमिक भाव अनेक प्रकार का है, जैसे—दर्शन मोहनीय का उपशांत होना, मोहनीय कर्म का उपशांत होना, औपशमिकी सम्यक्त्वलब्धि आदि उपशमनिष्पन्न

१. “सम्मदूदंसण वर-वइर-दढ-रूढ-गाढावगाढपेढस्स” - गाथा १२ ॥

२. प्रस्तावना, नदीसुत्त अणुयोगहाराई च, पृ० ५१ ॥

३. से किं तं छ नामे ? छव्विहे पणत्ते । तंजहा-उदइए, उवसमिप; खइए, खओवसमिप. पारिणामिए, सन्निवातिप । जीवोदयनिष्फणणे अणेगविहे पणत्ते-मिच्छादिट्ठी सम्मदिट्ठी मीसदिट्ठी अनु० गा० २३३-२३८ पृ० १०८ ॥

औपशमिक भाव है।^१

मोहनीय कर्म का उपशम, उपशम श्रेणी में होता है, इसलिए मोहनीय कर्म का उपशम रूप औपशमिक भाव होना कहा गया है। उपशम निष्पन्न से अभिप्राय है कि मोहनीय कर्म के उपशम से दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनों ही उपशांत हो जाते हैं।

अब सूत्रकर्त्ता क्षायिक भाव का निरूपण करते हैं—

क्षायिक भाव क्या है ? क्षायिक भाव दो प्रकार का है—

१. क्षय रूप क्षायिक, २. क्षय निष्पन्न।

आठ प्रकृतियों का जो क्षय है, वह क्षायिक है और क्षयनिष्पन्न क्षायिक भाव अनेक प्रकार का है यथा—क्षीण दर्शनमोहनीय, क्षीण चारित्रमोहनीय, अमोह, निर्मोह, क्षीणमोह इस प्रकार मोहनीय कर्म से विप्रमुक्त बने हुए जीव के ये नाम हैं।^२

अमोह, निर्मोह और क्षीणमोह—ये नाम भी मोहनीय कर्म के अभाव में होते हैं। अर्थात् मोहनीय कर्म से जो अपगत है वह अमोह, इसी कारण निर्मोह है। कालांतर में मोहोदय से युक्त बन सकता है इस आशंका को निर्मूल करने के लिए क्षीणमोह पद रखा है।

अब क्षायोपशमिक भाव का कथन है—

१. से किं तं उसमिप ? दुविहे पणत्ते । तं जहा उवसमे व उवसम-
निष्फण्णे य । उवसमे मोहणिज्ज कम्मस्स उवसमेण । उवसमनिष्फण्णे
अणेगविहे पणत्ते, तं जहा उवसंत दंसणमोहणिज्जे, उवसतमोह-
णिज्जे उवसमिया सम्मत्तलद्धी' अनु० गा० २३९-२४१, पृ० १०९ ॥

२. से किं तं खइए ? दुविहे पणत्ते । तं जहा-खए य खय-निष्फण्णे य ।
अट्टण्हं कम्मपगडीण खपणं । खय निष्फण्णे अणेगविहे पणत्ते, तं जहा-
खीण दंसणमोहणिज्जे खीण चरित्तमोहणिज्जे अमोहे निम्मोहे खीण-
मोहे मोहणिज्जकम्मविप्पमुक्क' । -अनु० गा० २४२-४४, पृ० १०९ ॥

क्षायोपशमिक भाव भी दो प्रकार का है—१. क्षायोपशम रूप क्षायोपशमिक, २. क्षायोपशमनिष्पन्न क्षायोपशमिक। केवलज्ञान के प्रति-बन्धक घातिकर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का जो क्षयोपशम है, वह क्षायोपशमिक है।^१

क्षायोपशमनिष्पन्न क्षायोपशमिक भाव अनेक प्रकार का है—मति अज्ञानावरण के क्षयोपशम से मति अज्ञान, श्रुत अज्ञानावरण से श्रुत-अज्ञान विभंग—ज्ञानावरण से विभंग ज्ञान।^२

देववाचक गणि ने नंदी सूत्र में मिथ्यादृष्टि को होने वाले मति अज्ञान और श्रुताज्ञान का विचार किया है, किंतु विभंग ज्ञान की चर्चा नहीं की। आर्य रक्षित सूरि ने अनुयोगद्वार सूत्र में विभंगज्ञान का विचार किया है। विभंगज्ञानावरण के क्षयोपशम से विभंगज्ञान होता है। इस प्रकार अनुयोगद्वार सूत्र में छः नामों के माध्यम से सम्यक्त्व के भेदों का स्पर्श किया है।

६ स्थानांग-समवायांग

तृतीयांग ठाण/स्थानांग

अब हम तृतीयांग ठाण में सम्यक्त्व विषयक अवलोकन करेंगे किन्तु उस से पूर्व हम यह जान लें कि स्थानांग का समय क्या है? इस की रचना कब हुई?

वास्तव में इस ग्रंथ की रचना ऐसी है कि उस में समय समय पर कुछ जोड़ा जा सकता है, कारण यह है कि इस में पूर्वापर विषय का संबंध नहीं है। मात्र सख्या का ही इस में संबंध है।

१. खओवसमिए दुविहे पणते, तं जहा-खओवसम-निप्फन्ने य। खओ-वसमे चउण्हं चाइकम्माणं खओवसमेणं तं जहा नाणावरणिज्जस्स, दंसणावरणिज्जस्स, मोहणिज्जस्स, अंतराइस्स-अनु० गा० २४५-४६, पृ० ११०-११ ॥

२. अनु० गा० २४७ ॥

ग्रन्थ के अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि समय-समय पर इसमें कुछ न कुछ जोड़ा गया है। उसका निश्चित प्रमाण इस ग्रन्थ में आसत्तात निह्नवों का उल्लेख है। जबकि सातवाँ निह्नव भगवान् महावीर के निर्वाण के ५८४ वर्ष पश्चात् हुआ है। अतः कहा जा सकता है कि उक्त वर्ष तक इसमें पूर्वाचार्यों द्वारा कुछ न कुछ जोड़ा तोड़ा गया है। आठवें बोटिक निह्नव का वर्णन इसमें नहीं है, जिसका समय वी० नि० पश्चात् ६०९ है। बलभी वाचना में भी इसमें परिवर्तन नहीं किया। अतः वी० नि० संवत् ५८४ के समय इसका अन्तिम संकलन हुआ है यह निश्चित हुआ।

इससे पूर्व के अंगों में सम्यक्त्व व मुनिजीवन के एकीकरण तथा उसके पश्चात् श्रद्धावान् श्रावक भी सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है तथा सम्यग्ज्ञान से सम्यग्दर्शन पूर्ववर्ती है, ये तथ्य हमारे सामने आए। अब इस सूत्र ठाणांग में सम्यक्त्व का वर्गीकरण किया गया है। इसमें इसके भेद प्रभेद के साथ इसका अधिकारी कौन हो सकता है? चारों गतियों में, एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक किन-किन जीवों को यह प्राप्त हो सकता है? इसका उल्लेख किया गया है। यहाँ 'सम्यक्त्व' का विचार 'दर्शन' (सम्यग्दर्शन) पद से किया है।

दर्शन पद एक प्रकार का, दो प्रकार का, तीन प्रकार का, सात प्रकार का व आठ प्रकार का बताया गया है।

दर्शन एक प्रकार का है।^१

दर्शन दो प्रकार का प्ररूपित किया है—सम्यग्दर्शन और मिथ्या-दर्शन।^२

१. पगे दंसणे-ठाणांग, पढमं ठाणं, सूत्र ४६, पृ० ७ ॥

२. दुविहे दंसणे पणत्ते, तं जहा- सम्महंसणे चेव मिच्छादंसणे चेव ।
वही, वीअं ठाणं, पढमं उहे०, सूत्र ७९, पृ० ४८ ॥

दर्शन तीन प्रकार का—सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन और सम्यग्मिथ्यादर्शन ।^१

दर्शन सात प्रकार का—सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन और सम्यग्मिथ्यादर्शन, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ।^२ यहाँ ये सात प्रकार के भेद श्रद्धावाची दर्शन और ज्ञानवाची दर्शन के सम्मिलित रूप से किये गये हैं ।

दर्शन का वर्गीकरण कर अब सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हैं—सम्यग्दर्शन २ प्रकार का है— १. निसर्ग सम्यग्दर्शन, २. अभिगम सम्यग्दर्शन । पंचमांग भगवतीसूत्र में यह वर्णन विस्तार से किया गया है ।^३

यहाँ यह स्पष्ट होता है कि द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव सम्यक्त्व के अधिकारी हो सकते हैं । सभी जीवों के द्वारा २ प्रकार की क्रिया की जाती है—१. सम्यक्त्व क्रिया, २. मिथ्यात्व क्रिया ।^४

चौबीस दण्डकों में सम्यग्दृष्टि आदि जीवों की क्रियाएँ कैसी होती हैं ? यहाँ उसका उल्लेख किया है । इन क्रियाओं के देखने से हमें यह ज्ञात होता है कि जिसका जैसा विचार होता है, उसकी वैसी ही क्रिया होती है । दृष्टि के अनुसार क्रियाओं में भिन्नता आना स्वाभाविक है ।

१. तिविहे दंसणे पणत्ते, तं जहा-सम्महंसणे, मिच्छाहंसणे, सम्मामिच्छदंसणे । तइयं टाणं, तइओ उददे०, सू० ३९२, पृ० २३१ ॥

२. सत्तविहे दंसणे पणत्ते, देखो-सतमं टाणं सू० ७६, पृ० ७३६ ॥

३. भगवतीसूत्र, शतक २४, उद्दे० १२, पृ० ३०६४, शतक १९, उद्दे० ३ पृ० २७७२; शतक ११, उद्दे० १, पृ० १८५०; शतक २०, उद्दे० १, पृ० २८२८; शतक ३६, उद्दे० १, पृ० ३७५२; शतक १, उद्दे० २, पृ० १२२; शतक १, उद्दे० २, पृ० १३५, शतक १, उद्दे० २, पृ० १४१ ॥

४. जीव किरिया दुविहा पणत्ता, तं जहा-सम्मत्तकिरियां चेव, मिच्छत्तकिरिया चेव-टाणं बीअं टाणं, पढमो उद्दे० सू० ३, पृ० ३६ ॥

पंचेन्द्रिय सम्यग्दृष्टि जीव के चार प्रकार की क्रिया होती है ।^१ अन्य जो चार क्रियाएँ हैं वे हो भी और न भी हो । इसके अलावा एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय के जीवों के पांचों ही क्रियाएँ होती हैं ।^२

सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्वप्रत्यया क्रिया नहीं करता क्योंकि मिथ्यात्व का त्याग होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । निसर्ग व अभिगम सम्यग्दर्शन के भी दो-दो भेद हैं—प्रतिपाती और अप्रतिपाती ।^३

सूत्रकार ने आगे सराग सम्यग्दर्शन के दस भेद किये हैं—

१. निसर्गरुचि, २. उपदेशरुचि, ३. आज्ञारुचि, ४. सूत्ररुचि, ५. बीजरुचि
६. अभिगमरुचि, ७. विस्ताररुचि, ८. क्रियारुचि, ९. संक्षेपरुचि,
१०. धर्मरुचि ।^४

प्रज्ञापनासूत्र में एवं उत्तराध्ययन सूत्र में भी इन दस प्रकार की रुचियों का विस्तार से वर्णन किया गया है ।^५

दर्शन के भेद बताकर ग्रन्थकार कथन करते हैं कि—सभी जीवों के तीन प्रकार हैं—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि ।^६ इन तीन दृष्टियों में कौन कौनसा जीव किस दृष्टि से युक्त हो सकता है, इसका भी ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है । चौबीस दण्डकों में स्थित जीवों की दृष्टि का कथन करते हुए कहा है कि—

१. देखो—चउत्थं ठाणं उद्दे० चउत्थो स्रु० ६१८-२०, पृ० ४७५ ॥
२. देखो—पंचमं ठाणं, बीओ उद्दे०, स्रु० ११३-११४, पृ० ५८१ ॥
३. सम्महंसणे दुविहे पणत्ते, देखो—बीअं ठाणं, पढमो उद्दे० स्रु० ८०-८१, पृ० ४८ ॥
४. दसविधे सरागसम्महंसणे पणत्ते, तं जहा—
निसर्गुवणसरुई, आणारुई सुत्तवीयरुई मेव ।
अभिगम वित्थाररुई, किरिया संखेव धम्मरुई ॥

-दसमं ठाणं स्रु० १०४, पृ० ९३१ ।

५. प्रज्ञापना सूत्र, गाथा १०९-११०, उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २८, गा० १६ ॥

६. तिविहा सध्वजीवा पणत्ता, तं जहा—सम्महिट्ठी, मिच्छाहिट्ठी सम्मामिच्छाहिट्ठी—तइयं ठाणं, बीओ उद्दे० स्रु० ३१८, पृ० २१३ ॥

एकेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि है । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि है । पंचेन्द्रिय तीनों दृष्टि से युक्त होते हैं । भगवतीसूत्र में इन क्रियाओं का उल्लेख जीवों में स्थित दृष्टियों के वर्गीकरण के साथ ही कर दिया गया है ।

अब यहाँ ग्रन्थकार पांच संवर द्वार और पांच ही आस्रव द्वारों का कथन कर रहे हैं । कर्मों का आना आस्रव और आते हुए कर्मों का रुक जाना संवर कहलाता है । वे आस्रव द्वार पांच हैं—मिथ्यास्व, अविरति, प्रमाद, कषाय योग । संवर द्वार भी पांच हैं—सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ।^१

इससे तात्पर्य यह निकलता है कि सम्यक्त्व भी संवर का एक कारण है । सम्यक्त्व के पश्चात् की अवस्था विरति आदि है ।

जिसके द्वारा व्यक्ति धर्म में स्थिर होता है उसे यहाँ ग्रन्थकार ने सुख-शय्यापद कहा है और धार्मिक भ्रंशता जिससे प्राप्त करता है उसे दुःख-शय्या पद से सम्बोधित किया है । वैसे तो दुःख शय्या चार प्रकार की है, उसमें प्रथम है निर्ग्रन्थ प्रवचन !

वह व्यक्ति जो मुण्डित तथा आगार से अणगार धर्म में प्रव्रजित होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन में शंक्ति, कांक्षित, विचिकित्सिक, भेद समपन्न,

१. एगा मिच्छदिद्वियाणं पुढविक्काइयाणं वग्गणा पवं जाव वणस्सह-
काइयाणं । एगा सम्मदिद्वियाणं मिच्छदिद्वियाणं वेइदियाणं वग्गणा ।
एगा सम्मदिद्वियाणं मिच्छदिद्वियाणं तेइदियाणं चउरिदियाणं
वग्गणा । सेसा जहा णेरइया जाव एगा सम्मामिच्छदिद्वियाणं
वेमाणियाणं वग्गणा, पढमं ठाणं सू० १७७ से १८५, पृ० ११-१२ ॥
एवं प्रज्ञापनासूत्र एगूणवीसइयं पदं सूत्र १३९९ से १४०२, पृ० ३१८॥

२ पंच आस्रवद्वारा पणत्ता, तं जहा-मिच्छत्तं, अविरती पमादो
कसाया जोगा । पंच संवरद्वारा पणत्ता, तं जहा-संमत्तं, विरती
अपमादो अकसाइत्तं अजोगित्तं-पंचमं ठाणं, वीओ उद्दे०, सू० १०९-
११०, पृ. ५८० ॥

और कलुष समापन्न होकर श्रद्धा नहीं करता, प्रतीति और रुचि नहीं करता है। इस प्रकार निर्ग्रन्थ प्रवचन में अश्रद्धा, अप्रतीति और अरुचि करता हुआ मानसिक उतार-चढाव और विनिघात (धर्मभ्रंशता) को प्राप्त होता है।^१

सूत्रकार ने स्पष्ट कथन किया है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन में अश्रद्धा करने वाला धर्मभ्रंशता को प्राप्त करता है। यहाँ एक बात पर विशेष ध्यान देना है कि आचारांग सूत्र में सम्यक्त्व और मुनित्व का एकीकरण किया था, किंतु यहाँ सूत्रकार यह बता रहे हैं कि मुनि बनने के पश्चात् भी अश्रद्धा की तो पतन हो जायगा।

अब आगे सुख-शय्या पद का विवरण करते हैं—वह व्यक्ति जो मुण्डित तथा आगार से अणगार धर्म में प्रव्रजित होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन में निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सिक, अभेदसमापन्न तथा अकलुष समापन्न होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करता है। इस प्रकार श्रद्धा प्रतीति और रुचि करता हुआ आभ्युपगमिकी और औपक्रमिका को सहन करता हुआ धर्म में स्थिर होता है।^२

यहाँ स्पष्ट होता है कि श्रद्धावान् ही धर्म में स्थित हो पाता है।

१. “तत्थ खलु इमा पढमा दुहसेज्जा-से णं मुंडे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइए निग्गंथे पावयणे संकिते कंखिते वित्तिगिच्छित्ते भेयसमावण्णे कलुससमावण्णे निग्गंथं पावयणं णो सद्दहति णो पत्तियति णो रोएइ, निग्गंथं पावयणं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे मणं उच्चावयं णियच्छति, विणिघातमावज्जति पढमा दुहसेज्जा”। -चउत्थं ठाणं, तइओ उददे. सू. ४५०, पृ० ४१९ ॥

२. तत्थ खलु इमा पढमा सुहसेज्जा-“से णं मुंडे भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइए निग्गंथे पावयणे णिस्संकिते णिक्कंखिते णिव्वित्तिगिच्छिण्णो भेदसमावण्णे णो कलुससमावण्णे निग्गंथं पावयणं सद्दहइ पत्तियह रोएति निग्गंथं पावयणं सद्दहमाणे पत्तियमाणे रोएमाणे णो मणं उच्चावयं णियच्छति, णो विणिघातमावज्जति।”

-चउत्थं ठाणं, तइओ उददे०, सू० ४५१, पृ० ४२१ ॥

आगे सूत्रकार बता रहे हैं कि अश्रद्धावान् चाहे वह श्रमण है किन्तु वह आत्मविजय नहीं कर सकता—अश्रद्धावान् निर्ग्रन्थ के लिए तीन स्थान अहित, अशुभ, अक्षम, अनिश्रेयस और आनुगामिता के हेतु हैं—

वह श्रमण मुण्डित तथा आगार से अणगार धर्म में प्रव्रजित होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन (१) पंच महाव्रतों, (२) छः जीवनिक्काय, (३) में शंकित, कांक्षित, विचिकित्सक, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन आदि तीनों में श्रद्धा, प्रतीति, रुचि नहीं करता। उसे परीषद् जूझ जूझ कर अभिभूत कर देते हैं, वह परीषदों से जूझ जूझ कर उन्हें अभिभूत नहीं कर पाता।^१

ठीक इसके विपरीत जो श्रद्धावान् है उसके लिए कहा है—

श्रमण निर्ग्रन्थ के लिये तीन स्थान हित, शुभ, क्षम, निःश्रेयस और आनुगामिता के हेतु होते हैं—

वह मुण्डित होकर आगार से अणगार धर्म में प्रव्रजित होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन में पंचमहाव्रतों में, छः जीव-निवायों में निःशंकित निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सिक अभेद समापन्न और अकलुष समापन्न होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन में, पंचमहाव्रतों में, छः जीवनिक्कायों में श्रद्धा प्रतीति रुचि करता है। वह परीषदों से जूझ-जूझ कर उन्हें अभिभूत करता है, उसे परीषद् जूझ-जूझ कर अभिभूत नहीं कर पाते।^२

१. तओ ठाणा अव्ववसितस्स अहिताए असुभाए खमाए अणस्सेसाए अणुगामियत्ताए भवन्ति, तं जहा-से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए १. निग्गथे पावयणे, २. पंचहिं महव्वएहिं, ३. छहिं जीवणिकाएहिं सक्किते कंखिते त्तिगिच्छे भेदसमावन्ने कलुस-समावण्णे १. निग्गथं पावयणे, २. पंच महव्वताइं, ३. छजीवणिकाए णो सहहति, णो पत्तियति णो रोएति, तं परिस्सहा अभिजुजिय अभिजुजिय अभिभवन्ति णो से परिस्सहे अभिजुजिय-अभिजुजिय अभिभवइं”। तइयं ठाणं चउत्थो ॥ तइयं ठाणं चउत्थो उहे०, सू० ५२३, पृ० २५५ ॥

२. “तओ ठाणा ववसियस्स हिताए, सुभाए, खमाए णिस्सेसाए अणुगामि-यत्ताए भवन्ति, तं जहा-से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए

यहाँ सूत्रकार का आशय यह दृष्टिगत होता है कि जो निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा रखता है तथा शंकादि दोषों का त्याग करता है वह आत्मविजय को प्राप्त कर सकता है और जो शंकायुक्त तथा अश्रद्धावान् होता है वह परीषहों से ही हार जाता है तो क्या आगे बढ़ सकेगा ?

एक बात पर और लक्ष्य रखना है कि यहाँ श्रमण अर्थात् मुनित्व एवं श्रद्धा का एकीकरण न कर भिन्नत्व दिखाया है साथ ही श्रद्धा आध्यात्मिक विकास के लिये तो परमावश्यक है, इस की स्पष्ट झलक मिलती है।

शासन संचालक जो गण को धारण करने वाले हैं, उनके ६ स्थानों में प्रथम है श्रद्धावान् अर्थात् श्रद्धावान् अणगार ही गण धारण करने में समर्थ है।

‘एकल-विहार प्रतिमा’ को श्रद्धावान् पुरुष धारण करता है उस का भी उल्लेख है।

इस प्रकार तृतीयांग ठाण में सम्यक्त्वविषयक विकास पाया जाता है। सम्यक्त्व के भेद सर्वप्रथम इसी अंग में उपलब्ध होते हैं। इस से पूर्व हमें दृष्टिगोचर नहीं होते।

चौबीस दण्डकों में कौन-कौन सा जीव सम्यक्त्व का अधिकारी होता है इस का इस सूत्र में उल्लेख किया है।

१. निग्गंथे पावयणे, २. पंचहि-महव्वपहि, ३. छहि जीवणिकाएहि निस्सकिते, निक्कंखिते निद्वित्तिगिच्छिते णो भेद समावणणे णो कलुससमावणणे १. निग्गंथं पावयणं, २. पंच महव्वताइं, ३. छजीवणिकाए सहहिति पत्तियति रोएति से परिस्सहे अभिजुजिय अभिजुजिय अभिभवति णो तं परिस्सहा अभिजुजिय-अभिजुजिय अभिभवति।’-तइयं ठाणं, चउत्थो उहे०, सू० ५२४, पृ० २५६ ॥

१. छहि ठाणेहि संपण्णे अणगारे अरिहति गणं धारित्तए,

तं जहा-सड्ढी पुरिसजाते xxx । छट्ठं ठाणं सू० १, पृ० ६५५ ॥

चतुर्थांग समवाय

ठाणांग की भाँति समवायांग का समय निश्चित निर्धारित नहीं किया जा सकता। किंतु इस में कल्प एवं प्रज्ञापना का उल्लेख होने से सामान्यतया वीर निर्वाण के ४०० वर्ष तक समवायांग का विद्यमान रूप प्राप्त हो गया होगा, ऐसा माना जा सकता है।

समवायांग में सम्यक्त्वविषयक सामग्री अत्यल्प प्राप्त है। इस का कारण यह भी हो सकता है कि 'ठाणं' सूत्र में एक से लेकर दस तक के स्थानों का विवरण मिलता है और समवायांग में एक से लेकर करोड़, असंख्य तक का। जिन-जिन विषयों पर 'ठाणं' सूत्र में विचार दर्शाया है संभवतः पुनरावृत्ति न हो इस अपेक्षा से इस सूत्र में उन-उन स्थानों की विचारणा न की हो।

सूत्रकार ने तीन प्रकार की विराधना कही है—१. ज्ञानविराधना, २. दर्शनविराधना, ३. चारित्रविराधना।^१ इन विराधनाओं को लक्ष्य में रखकर उनको दूर करने का प्रयास किया जाय तो कर्मों की विशुद्धि होती है। आवश्यकसूत्र में भी इसका उल्लेख है।^२

कर्मों की विशुद्धि की गवेषणा की अपेक्षा को लेकर चौदह जीव स्थान कहे गये हैं वे इस प्रकार हैं—

१. मिथ्यादृष्टि, २. सास्वादन, ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ४. अविरत सम्यग्दृष्टि, ५. विरताविरत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. निवृत्तिवादर (अपूर्वकरण), ९. अनिवृत्तिवादर, १०. सूक्ष्मसंपराय, ११. उपशांतमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगीकेवली, १४. अयोगीकेवली।^३

१. तओ विराहणा पणत्ता, तं जहा-नाण विराहणा दंसण विराहणा, चरित विराहणा। तृतीय समवाये, पृ० ५५, नि० कन्हैयालालजी० म०
२. आवश्यकसूत्र, चतुर्थ अध्ययन।

३. "कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउहस जीवट्टाणा पणत्ता, तं जहा-मिच्छदिट्ठा, सासायणसम्मदिट्ठा, सम्मामिच्छदिट्ठी, अविरयसमदिट्ठी, विरयाविरण, पमत्त संजए, अप्पमत्त संजए, नियट्ठि बायरे, अनियट्ठिबायरे, सुहुमसंपराए, उवसामप वा खवप वा, उवसत मोहे, खीणमोहे सजोगीकेवली, अजोगीकेवली-चतुर्दश समवाये, पृ० १७६॥

इन चौदह जीवस्थानों को गुणस्थान भी कहते हैं। इन गुणस्थानों से ज्ञात होता है कि जो अविरत है उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है।

भवसिद्धिक जीवों में कितनेक जीवों के मोहनीयकर्म की अट्टाईस प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं—सम्यक्त्ववेदनीय, मिथ्यात्ववेदनीय, सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीय, सोलह कषाय नव नो कषाय।^१ इकत्तीस जो सिद्धों के गुण है, उन में दर्शनमोहनीय का क्षय आवश्यक है।^२

इस प्रकार चतुर्थांग समवाय में सम्यक्त्व विषयक विचार है।

(७) ज्ञातार्धमकथांग—उपासकदशांग—प्रश्नव्याकरण

ज्ञातार्धमकथांग

षष्ठांग ज्ञातार्धमकथा में सम्यक्त्व विषयक विचार—विकास जानने से पूर्व हम उसका लेखनकाल कब है? यह ज्ञात करेंगे। ज्ञातार्धमकथांग में सुधर्मास्वामि के वर्णन के बाद जम्बूस्वामि का वर्णन आता है वहाँ उनको 'घोरतव्वसी' आदि विशेषणों से अलंकृत किया है। किन्तु साथ ही उस में क्रियापद का प्रयोग तृतीय-पुरुष में किया है। इस से प्रतीत होता है कि यह उपोद्घात भी सुधर्मा व जम्बूस्वामि के अतिरिक्त किसी अन्य महानुभाव ने बनाया है।^३

इस अंग में कथाओं के माध्यम से बोध दिया गया है। जिन्दत्तसार्थवाहपुत्र और सागरदत्तसार्थवाहपुत्र द्वारा मयूरी के अंडों

१. भवसिद्धियाणं जीवाणं अत्थेगइथाणं मोहणिजस्स कम्मस्स अट्टावीसं कम्मंसा पणत्ता, तं जहा—समत्तवेअणिज्जं, मिच्छत्तवेयणिज्जं, सम्मा-मिच्छत्तवेयणिज्जं, सोलसकसाया, नवनोकसाया।” अष्टाविंशति समवाये, पृ० ३१५ ॥

२. एकत्तीसं सिद्धाइगुणा पणत्ता, तं जहा...खीणे...खीणे...दंसणमोह-णिज्जे...। एकत्रिंशत् समवाये, पृ० ३२७ ॥

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास।

के दृष्टांत से श्रमणों व श्रमणोपासकों को बोध दिया गया है। इस प्रकार उल्लेख करते हुए कहा है—

“सागरदत्तपुत्र एक बार जहाँ उस मयूरी के अंडे थे उस के पास गया, जाकर उसके विषय में शक्ति काक्षित हो गया। उसने उस अंडे को हिलाया टकराया जिस से वह अंडा शक्तिहीन अर्थात् निःसार बन गया। उसको निष्प्राण देखकर उसे दुःख हुआ यावत् आर्त्तध्यान में पड़ गया। इसी प्रकार सागरदत्तपुत्र की तरह हे आयुष्यमान् श्रमणो ! जो हमारे निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थी हैं वे आचार्य उपाध्याय के पास प्रव्रजित होते हुए पंच-महाव्रतों में छह जीविकायों में एवं निर्ग्रन्थ प्रवचन में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, भेदसमापन्न और क्लृप्तसमापन्न हैं वे इस भव में अनेक श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों और श्राविकाओं द्वारा हीलनीय, निंदनीय, खिसणीय, गर्हणीय तथा अभ्युत्थान आदि से परिभवनीय होते हैं। परभव में अनेक दुःखों को प्राप्त करते हैं तथा अनादिकाल तक इस चतुर्गतिकरूप संसार में परिभ्रमण करते हैं।”

जिनदत्तसार्थवाह पुत्र मयूरी के अंडे के विषय में निःशंक था, वह उसे हिलाता डुलाता न था तो उस में से मयूर शवक की उसे प्राप्ति हुई। जिनदत्त पुत्र की तरह जो हमारे श्रमण निर्ग्रन्थ अथवा

१. सागरदत्तपुत्र सन्धवाहदारप अन्नया कयाइं जेणेव से मयूरी अंडप तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तं मऊरी अंडयं पोचउमेव पासइ पासित्ता अहोणं ममं एस किलावणए मऊरी पोयए ण जाए तिकट्टु ओहयमण जाव झियायइ। एवामेव समणाउसो। जो अभ्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा आयरियं उवज्झायाणं अंतिप पव्वइए समाणे पंच महव्वपसु छज्जी-वनिकाएसु निग्गंथे पावयणे संकिते कंखिते जाव कलुससमावणणे से णं इहभवे चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावगाणं बहूणं साविगाणं हीलणिज्जे निर्दाणिज्जे सिंखणिज्जे गरहणिज्जे परिभवणिज्जे परलोपवियणं आगच्छइ बहूणं दंडणाणिय जाव अणुपरियट्टइ।”

निर्ग्रन्थी हैं वे प्रव्रजित होकर पंच महाव्रतों में, छः जीव निकायों में तथा निर्ग्रन्थ प्रवचन में निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सक सम्पन्न होकर बिचरते हैं वे इस भव में अनेक श्रमण और श्रमणियों द्वारा पूजनीय होते हैं और इस अनादि अनंत रूप चतुर्गति वाले संसार के पार पहुँच जाते हैं।'

इस प्रकार इस अंग में सम्यक्त्व के अंग व अतिचारों का वर्णन किंचित मात्र प्राप्त होता है।

उपासक दशांग

विद्यमान अंग सूत्रों व अन्य कई आगम ग्रन्थों में प्रधानतः श्रमण-श्रमणियों के आचारादि का निरूपण ही दिखाई देता है। उपासकदशांग ही एक ऐसा सूत्र है जिस में गृहस्थ धर्म के संबंध में विशेष प्रकाश डाला गया है। इस से श्रावक अर्थात् श्रमणोपासकों के मूल आचार अनुष्ठान का पता चलता है।

श्रमण भगवान् महावीर के दश श्रावकों में प्रथम आनन्द श्रावक को धर्मोपदेश देते हैं। तदन्तर्गत सम्यक्त्व के पाँच अतिचारों का उल्लेख है—

हे आनन्द ! जीवाजीव आदि पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले, धर्म से विचलित न होने वाले को सम्यक्त्व के पाँच अतिचार जान लेने चाहिये, पर आचरण नहीं करना चाहिये। वे इस प्रकार हैं—

१. "एवामेव समणाउसो जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा पव्वइए समणे पंचसु महव्वएसु छसु जीवनिपासु निग्गंथे पावयणे 'निस्सं-
क्किप, निक्कंखिप, निव्वितिगिच्छे सेणं इहभवे चेव बहूणं समणाणं
बहूणं समणीणं जाव वीर वीइस्सइ।" ज्ञाता-धर्म० प्र० भाग, अध्य०
तीन, पृ० ७१६, अनु० पं० मुनि कन्हैयालालजी प्रका० अ० भा०
श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट।

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परपाखण्डप्रशंसा, परपाखण्डसंस्तव ।^१

इस सूत्र में सर्वप्रथम वर्तमान में प्रचलित पांच अतिचारों का एक साथ उल्लेख मिलता है। इस अंग के पूर्व के छः अंगों में प्रथम तीन नाम तो ये ही प्राप्त होते हैं किंतु पश्चात् के दो नामों के स्थान पर भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न दृष्टिगत होते हैं। किन्तु वहाँ “ये सम्यक्त्व के अतिचार हैं”, यहाँ जो उल्लेख किया है वैसा नहीं किया गया। यहाँ इस अंग में स्पष्टतया “सम्यक्त्व के पांच अतिचार ये हैं” ऐसा उल्लेख मिलता है।

प्रश्नव्याकरणांग

विद्यमान प्रश्नव्याकरण अंग में और स्थानांग, समवायांग में वर्णित प्रश्नव्याकरण के विषय में अंतर है। स्थानांग में प्रश्नव्याकरण के के उपमा आदि दस अध्ययनों का उल्लेख है। जबकि समवायांग में बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न और १०८ प्रश्नाप्रश्न है तथा इसके ४५ अध्ययन हैं। नंदी सूत्र में भी यही वर्णन उपलब्ध होता है। विद्यमान प्रश्नव्याकरण में न तो उपर्युक्त विषय ही है और न ४५ अध्ययन। इस में हिंसादिक पांच आस्रव और अहिंसादिक पांच संवर का दस अध्ययन में निरूपण है। इसका अर्थ यह हुआ कि विद्यमान प्रश्न व्याकरण बाद में होने वाले गीतार्थ मुनि की रचना है।^२

तृतीय आस्रव द्वार में बताया है अदत्तादान ग्रहण करने वाले “धम्मसन्न-सम्मत् पब्भट्टा” अर्थात् धर्मबुद्धि और सम्यक्त्व से भ्रष्ट

१. एवं खलु आणंदाइ समणे भगवं महावीरे आणंदं समणोवासणं एवं वयासी-पवं खलु आणंदा ! समणोवासणं अभिगय जीवाजीवेणं जाव अणइक्कमणिज्जेणं सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समारियव्वा । तं जहा-संका, कंखा, विइगिच्छा, परपासंड पसंसा, परपासंडसंथवे । उपासकदशांग, प्रथम अध्य०, पृ० ४६-४७ ॥

२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, पृ० २४८ ॥

है।' सम्यक्त्व धर्म की आराधना करने वाली अहिंसा को "सम्म-त्ताराहणा" से संबोधित किया है।^३

यह जो ब्रह्मचर्य व्रत है वह उत्तम अनशनादि तप, नियम, ज्ञान, दर्शन चारित्र्य सम्यक्त्व और विनय का मूल है।^३

यहाँ दर्शन और सम्यक्त्व का प्रयोग एक साथ किया है। तब दर्शन शब्द ज्ञानमूलक है सम्यक्त्वमूलक नहीं।

"सम्यक्त्व अपरिग्रह का मूल है" उस का उल्लेख है—

जो अपरिग्रह श्री महावीर के वचन से की हुई परिग्रह-निवृत्ति के विस्तार से जो वृक्ष अनेक प्रकार का है, सम्यक्त्व रूप निर्दोष मूल वाला है।^४

इस सूत्र में सम्यक्त्व के गुण और अतिचार का किंचित् उल्लेख प्राप्त होता है। विरति के मूल में सम्यक्त्व अनिवार्य है, यह यहाँ पुनः स्पष्ट होता है।

अन्तकृद्दशांग सूत्र और विपाक सूत्र में "श्रद्धा उत्पन्न हुई" इतना ही उल्लेख है. अन्य नहीं।

(८) आवश्यक; निर्युक्ति-विशेषावश्यक

आवश्यक निर्युक्ति

जैन आगमों की प्राचीन टीकाओं में उपलब्ध निर्युक्ति का स्थान है। उपलब्ध निर्युक्तियों में प्राचीनतम निर्युक्तियों का समावेश हो गया है। आचार्य भद्रबाहू का समय मान्यवर मुनिश्री पुण्यविजयजी ने

१-२- तृ० आश्रव द्वार, पृ० ११५, अनु० हस्तिमल मुनि ।

३. "एत्तो य बंधचेरं उत्तमतव-णियम-णाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त विणयमूलं ।" वही, पृ० ११५ ॥

४. जो सो वीरवरवयण-त्रिरतिपचित्थर बहुविहण्णकारो सम्मत्त-विसुद्ध मूलो धितिकदो वही, पंचम संवरद्वार ॥

वि. की छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है।^१ चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहू से ये भिन्न हैं। आवश्यक निर्युक्ति आ. भद्रबाहू की प्रथम कृति है। यह विषय-वैविध्य की दृष्टि से अन्य निर्युक्तियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस पर जिनभद्र, जिनदास गणि, हरिभद्र, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, माणिक्यशेखर प्रभृति आचार्यों ने विविध व्याख्याएँ लिखी हैं।

आवश्यक निर्युक्ति में सम्यक्त्व की निर्युक्ति करते हुए कहा—

सम्यग्दृष्टि, अमोह, शुद्धि, सद्भाव, दर्शन, बोधि, अविपर्यय, सुदृष्टि आदि सम्यक्त्व की निर्युक्ति है। अब इस का विश्लेषण करते हुए कहा है कि—जो सम्यग् अर्थों का दर्शन करे वह सम्यग्दृष्टि है। विचारों में अमूढता वह अमोह है। मिथ्यात्व रूपी मल का दूर होना शुद्धि है। सद्भाव होना। यथास्थित अर्थ का होना दर्शन है। परमार्थ का ज्ञान होना बोधि है। अवितथग्रह विपर्यय है। सुन्दर दृष्टि वह सुदृष्टि है। इस प्रकार सात प्रकार से सम्यक्त्व की निर्युक्ति की गई है।^२

अब आगे ग्रन्थकार कथन कर रहे हैं कि जीव किस प्रकार ग्रन्थि-भेदन कर के सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है—

आयुष्य कर्म के सिवाय अन्य सात कर्मों की स्थिति में से जब संख्यात कोडाकोडी भाग आत्मा द्वारा खपा नष्ट कर दिया जाता है। एवं आत्मा चार सामायिक में से एक सामायिक को प्राप्त करके अत्यंत दुर्भेद्य बांस की ग्रन्थि का भेदन होने पर जीव सम्यक्त्व लाभ प्राप्त

१. न्यायावतार वार्त्तिक वृत्ति प्रस्ता०, पृ० १०३ ॥

२. सम्मदिट्ठी अमोहो सोही सबभाव दंसण बोही ।

अविवज्जओ सुदिट्ठित्ति एवमाई निरुत्ताई ॥ ८६२ ॥

सम्यगर्थानां दर्शनं सम्यग्दृष्टिः१, विचारेऽमूढत्वं अमोहः२, मिथ्यात्व-मलापगमः शोधिः३, सद्भावो यथास्थाऽर्थस्तद्दर्शनं ४, परमार्थ ज्ञानं बोधिः५, अवितथग्रहोऽविपर्ययः६, शोभनादृष्टिः सुदृष्टिः७, सम्यक्त्वस्य निरुक्तिः । आवश्यक निर्युक्ति, भाग १, गा० ८६२, पृ० १६६ ॥

करता है। तब भव्यात्मा तीन करण करता है। (यहाँ करण से तात्पर्य विशेष रूप के परिणाम है), अनादि काल से जीव यथाप्रवृत्ति-करण जोकि आद्यकरण है उसे प्राप्त करता है। इसमें जीव ग्रन्थि के समीप पहुँचता है। दूसरा करण है अपूर्वकरण-जो कि आत्मा के अपूर्व-परिणाम अर्थात् जो कि पूर्व में कभी नहीं हुए ऐसे परिणामस्वरूप प्राप्त करता है। इस करण में वह ग्रन्थि का अतिक्रमण कर जाता है। तीसरा करण है अनिवृत्तिकरण-ऐसे परिणाम जिस से जीव निवर्तन नहीं करता अर्थात् वापिस नहीं लौटता, यहाँ जीव को सम्यक्त्व लाभ होता है। ये तीनों करण भव्य जीवों के होते हैं, अभव्यों के तो प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण ही होता है।

तीनों करण करने के पश्चात् जीव सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है। अब ग्रन्थिकार आगे उन दृष्टान्तों का भी कथन करते हैं जो कि सम्यक्त्व-प्राप्ति के समान हैं—

पल्य-पर्वत-नदी-पाषाण-कीडियाँ-पुरुष-मार्ग-ताववाला - कोदरा जल और वस्त्र ये नौ दृष्टान्त सामायिक प्राप्ति में जानना।

ये दृष्टान्त किस प्रकार घटाये जा सकते हैं उन का कथन करते हैं—

१. सत्तण्हं पयडीणं, अर्द्धिभतरओ उ कोडिकोडीणं ।

काऊण सागराणं, जइ लहइ चउण्हमणणयरं ॥१०६॥आ०नि०पृ० ३७॥
टी-सप्तानां कर्मणां सागराणां अन्त्यकोटाकोटेरभ्यन्तरत आत्मानं कृत्वा यदि लभते कोऽपि चतुर्णामन्यतरत् सामायिकं यदा च सप्तानां कोटाकोटी पल्यासख्यभागहीना स्यात् तदा घनरागद्वेषपरिणामोऽत्यन्तदुर्भेद्यदारुग्रन्थिवत् कर्मग्रन्थिरुदेति तस्मिन् भिन्ने एव सम्यक्त्वा-दिलाभः स्यात् । इह भव्यानां करणत्रयं स्यात्, करणं च परिणाम-विशेषः, तत्र आद्यं करणं अनादिकालाद्यथैव प्रवृत्तं यथाप्रवृत्तं करणं ग्रन्थिं यावत् ॥१॥ ततो द्वितीयमप्राप्तपूर्वं अपूर्वकरणं ग्रन्थिमतिक्रामतां ॥२॥ ततस्तृतीयं न निवर्तनशीलं अनिवृत्तिकरणं सम्यक्त्वाप्तिं यावत् ॥३॥ अभव्यानां त्वाद्यमेव ॥ वही, पृ० ३७-३८ ॥

पल्य : जैसे पल्य में थोड़ा थोड़ा धान डालें और उस में से अधिक निकालें तो कुछ समय पश्चात् धान समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार आत्मारूपी पल्य में कर्मरूपी धान्य का बंधन कम करें और कर्मों को खपावे अधिक, तब इस प्रकार जीव ग्रन्थि स्थान पाता है और यथाप्रवृत्तिकरण करता है। पश्चात् अपूर्वकरण का उद्घन करके निवृत्तिकरण के द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

चींटियाँ : जिस प्रकार चींटियाँ स्वाभाविक गमन करती हुई कभी स्थाणु पर चढ़ती हैं, वहाँ से कभी गिर जाती हैं, कभी चढ़कर उतर भी जाती हैं। इस प्रकार स्वाभाविक गमन के समान यथाप्रवृत्तिकरण है, स्थाणु पर चढ़ने के समान अपूर्वकरण एवं उतरने के समान अनिवृत्तिकरण है।

पुरुष : तीन पुरुष अटवी में होकर नगर की ओर जाते हैं। ७० योजन प्रमाण रास्ते में से ६९ योजन मार्ग पार करने पर दो चोर मिलते हैं। चोर को देखकर एक पीछे मुड़ गया, दूसरे को चोरों ने पकड़ लिया और तीसरे ने चोरों का अतिक्रमण किया व गन्तव्य स्थल पर पहुँच गया। यहाँ यह अटवी संसार है। पुरुषों में एक ग्रन्थिदेश से वापिस लौट गया वह, दूसरा ग्रन्थि देश में रहने वाला तथा तीसरा ग्रन्थिभेद कर चुका वह। कर्म की स्थिति वह दीर्घ पंथ, ग्रन्थि वह भयस्थान है, दो चोररूपी राग-द्वेष हैं। जो भाग गया वह अभिन्न ग्रन्थि पुनः स्थिति बढाने वाला जीव, जो पकड़ा गया वह ग्रन्थि देश से आगे रहा जीव और जो चला गया उसके समान सम्यक्त्व नगर में पहुँचा हुआ जीव।

मार्ग : जिस प्रकार कोई अटवी में भटकता हुआ स्वयं ही मार्ग प्राप्त कर लेता है, कोई दूसरे के निर्देश से मार्ग पाता है और कोई प्राप्त ही नहीं कर पाता इसी प्रकार जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

ज्वर : ज्वर ग्रस्त कोई मनुष्य विना औषध के, कोई औषध से और कोई औषध से भी ठीक नहीं होता है उसी प्रकार मिथ्यात्व

रूपी महाज्वर किसी को स्वाभाविक रीति से, किसी को गुरुवचन रूप औषध से और किसी का उतरता नहीं।

कोद्रव : कोदरा की मादकता किसी की स्वाभाविक रीति से, किसी की छाण आदि के प्रयोग से और किसी के स्वभाव का नाश ही नहीं होता, उसी प्रकार जीव कोदरा के समान मिथ्यात्व के अपूर्वकरण से तीन पुंज करता है, किंतु सम्यग्दर्शन तो अनिवृत्तिकरण से ही प्राप्त होता है। प्रयोग करने पर तीन प्रकार के कोदरा होते हैं, यथा—शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध।

वस्त्र : वस्त्र की मलिनता होने पर कोई तो बिलकुल साफ नहीं होता, कोई अर्द्धस्वच्छ और कोई सर्वथा स्वच्छ हो जाता है। उसी प्रकार जीव भी अपूर्वकरण परिणाम से दर्शनमोहनीय कर्म से शुद्ध, अशुद्ध और अर्द्धशुद्ध होता है।^१

इस प्रकार सर्वप्रथम आत्मा मिथ्यात्व दलिकों के वेदन का अभाव होने पर उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है जो कि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण रहता है। पश्चात् औपशमिक सम्यक्त्व से च्यवन होकर वह जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट षडावलि में अनन्तानुबन्धी का उदय शेष रहता है तब सास्वादन सम्यक्त्व प्राप्त करता है। पश्चात् पुनः वह मिथ्यात्व का उदय होने से मिथ्यात्वी हो जाता है। पुनः अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। यह सिद्धांत का मत है।^२

१. आव० नि० दी० गा० १०७, पृ० ३८-३९ ॥

२. मिथ्यात्वदलिकवेदनाऽभावाद् औपशमिकं सम्यक्त्वमाप्नोति, पुंजत्रयं त्वसौ न करोत्येव । ततश्च औपशमिकसम्यक्त्वाच्च्यवनं जघन्यं समयेनोत्कृष्टं षडावलिषु शेषास्वनन्तानुबन्ध्युदयः स्यात्, तदा च सास्वादनसम्यक्त्वं लभते, ततो जघन्यतः समयात् उत्कृष्टतः षडावलि काभ्यः पुनरुर्ध्वमवश्यं मिथ्यात्वोदयादसौ मिथ्यात्वी स्याद् ततः पुनरपूर्वानिवृत्तिकरणाभ्यां क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं लभते । वही, पृ० ३९ ॥

कर्मग्रन्थियों का मत यह है अन्तरकरण में औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर पश्चात् मिथ्यात्व के तीन पुंज को करता ही है। और वहाँ से च्युत होकर वह उन उन पुंजों के उदय से क्षयोपशमिक, मिश्र अथवा मिथ्यात्वी होता ही है।'

जीव किस गतिविधि से सम्यक्त्व को प्राप्त करता है उसका कथन करके अब ग्रन्थकार बता रहे हैं कि—

नयसार ने अटवी में पथ-भ्रष्ट हुए मुनि को मार्ग बता कर सम्यक्त्व प्राप्त किया। वह लकड़ी काटने हेतु वन में गया था तब सार्थ से बिछुड़े हुए साधुओं को भिक्षा दी। इस प्रकार अनुकंपा व भक्ति से गुरु के कहने पर सम्यक्त्व लिया।

इस प्रकार आवश्यकनिर्युक्ति में सम्यक्त्व की निर्युक्ति द्वारा उनके पर्यायवाची शब्दों का एवं किस प्रकार ग्रन्थिभेद होता है व जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसका उल्लेख किया गया। एवं दृष्टान्तों के माध्यम से समझाया भी गया। इस प्रकार सम्यक्त्व की विकास सामग्री यहाँ उपलब्ध हुई।

विशेषावश्यक भाष्य

निर्युक्तियों के गूढार्थ को प्रकट रूप में प्रस्तुत करने के लिए पूर्व के आचार्यों ने उन पर विस्तृत व्याख्याएँ लिखीं। निर्युक्तियों के आधार पर अथवा स्वतंत्र रूप से भाष्यों की पद्यात्मक रचना हुई जो कि प्राकृत भाषा में हैं। आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये, पर दो भाष्य अति संक्षिप्त होने से विशेषावश्यक भाष्य में ही सम्मिलित कर लिये गये। यह पूरे आवश्यक सूत्र पर न होकर उसके प्रथम अध्ययन सामायिक पर है। इस में ३६०३ गाथाएँ हैं। इस के कर्त्ता

१. कर्मग्रन्थिकानां तु अन्तरकरणे औपशमिकसम्यक्त्वं लब्ध्वां तेन मिथ्यात्वस्य पुंजत्रयं करोत्येव, ततश्च्युतोऽसौ तत्तत्पुंजोऽयात् क्षायोपशमसम्यक्त्वी मिश्रो मिथ्यात्वी वा स्यात् । आव० नि० दी० पृ० ३९॥

२. आव० नि० गा० १४६ ॥

हैं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण । यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिस में जैनागमों में वर्णित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है ।

यहाँ सम्यक्त्व के पाँच भेदों का कथन किया गया है—औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक ।^१

अब तक सम्यक्त्व के तीन भेद दिखाई देते थे । यहाँ एक साथ पाँच भेदों का कथन किया गया । अब इन पाँचों भेदों का स्वरूप निर्देश करते हैं—

उपशम-उपशम श्रेणि प्राप्त को उपशमसम्यक्त्व होता है अथवा जिसने तीन पुंज नहीं करे हों और मिथ्यात्व का क्षय भी नहीं किया हो उसे उपशम सम्यक्त्व होता है । पुनः कहते हैं—उदय में आये हुए मिथ्यात्व का क्षय हुआ हो और जो अनुदित मिथ्यात्व शेष है, तब अन्तर्मुहूर्त मात्र उपशम सम्यक्त्व जीव प्राप्त करता है ।^२

सास्वादन-इस अंतरकरण में उपशम सम्यक्त्व के काल में से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवली प्रमाण काल शेष रहे तब किसी जीव को अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उपशम सम्यक्त्व से गिरते और मिथ्यात्व की प्राप्ति से पूर्व इन दोनों के अंतराल में शब्दार्थ के समान सास्वादन सम्यक्त्व होता है ।^३

क्षयोपशम-उदय में आए हुए मिथ्यात्व का क्षय किया हो और अनुदित सत्ता में हो उस का उपशमन किया हो ऐसे मिश्रभाव वाले को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है ।^४

१. उवसमियं सासाणं खयसमजं वेययं खइयं । विशे० भा० गा० ५२८ ॥

२. उवसामगसेद्विगयस्स होइ उवसामियं तु सम्मत्तं ।

जो वा अकयतिपुंजो अखवियमिच्छो लहर सम्मं । वही, गा० ५२९ ॥

खीणम्मि उइणम्मि य अणुदिज्जते य सेसमिच्छत्ते ।

अंतामुहुत्तमेत्तं उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ वही, गा० ५३० ॥

३. उवसमसम्मत्ताओ चयओ मिच्छं अपावमाणस्स ।

सासायणसम्मत्तं तयंतरालम्मि छावलियं ॥ वि०आ० भा० गा० ५३१ ॥

४. मिच्छत्तं जमुइणं तं खीणं अणुइयं च उवसंतं ।

मीसीभावपरिणयं वेइज्जंतं खओवसमं । वही, गा० ५३२ ॥

वेदक-सम्यक्त्व पुंज के अंतिम अंश का अनुभव उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षायिक-जो अनन्तानुबन्धी चतुष्क सहित, तीनों दर्शनमोहनीय का क्षय करे उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।^१

इस प्रकार पाँचों भेदों के स्वरूप का कथन किया है। इस में ग्रन्थकार ने ग्रन्थि-भेद एवं तीन करण का उल्लेख किया है। वह ग्रन्थि कैसी है? उस के स्वरूप का भी निर्देश किया है कि—

कठोर-निबिड़, शुष्क और अत्यंत प्रचय प्राप्त बाँस की गांठ जैसी दुर्भेद्य होती है। ऐसे ही जीव के परिणामजनित कर्म है। इस ग्रन्थि-भेद के पश्चात् ही मोक्ष के हेतुभूत सम्यक्त्व का लाभ होता है। यह ग्रन्थि-भेद मनोविघात एवं परिश्रमादि से भी अतिदुर्लभ होता है।^२ क्योंकि वहाँ ग्रन्थि-भेद करने में प्रवृत्त जीव का महाघोर संग्राम से विजय प्राप्त करके निकले हुए सुभट के समान परिश्रम होता है अथवा विद्या-सिद्धि के समय विद्या अनेक विघ्नों से सिद्ध होती है उसी प्रकार ग्रन्थि भेद भी बहुत मुसीबत से होता है।^३

वह ग्रन्थि-भेद अति दुर्भेद्य बताया है तथा तीनों करण कैसे होते हैं? उनके लिए कहा है—

जिस प्रकार महाविद्या साधने में पहले की सेवा सरल होती है और उस महाविद्या को साधते समय जो क्रिया होती है वह बहुत बड़ी और विघ्नकारक होती है उसी प्रकार कर्मस्थिति खपाने में जो यथाप्रवृत्तिकरण की क्रिया सरल होती है और ग्रन्थिभेद के आरंभ से

१. वेययसम्मत्तं पुण सव्वोइयचरमपोगगला वत्थं ।

खीणे दंसणमोहे तिविहम्मि वि खाइयं होइ ॥ वही, गा० ५३३ ॥

२. गंठी त्ति सुदुब्भेतो क्खड्ढघणरूढगूढगणिट व्व ।

जीवस्स कम्मजणितो घणरागहोसपरिणामो ॥ वही, गा० ११९३ ॥

३. सो तत्थ परिस्सम्मति घोरमहासमरणिग्गताति व्व ।

विज्जा य सिद्धिकाले जह बहुविग्घा तथा सोवि ॥ वही, गा० ११९४ ॥

मोक्ष साधना में जो सम्बन्धदर्शन तथा ज्ञानसहित जो चारित्र क्रिया है वह अति कठिन विघ्न वाली दुर्लभ होती है ।^१

इस प्रकार ग्रन्थि एवं करण का स्वरूप ग्रन्थकार ने विशेष रूप से बताया है ।

जैनागमों में आचारांग से विशेषावश्यक तक हमने सम्यक्त्व के स्वरूप, उसके भेदादि पर हमने दृष्टिपात किया । अब हम आगमेतर साहित्य पर नजर डालेंगे कि उन में इसका विकास किस प्रकार हुआ ?

(ख) आगमेतर साहित्य में सम्यक्त्व—

(अ) तत्त्वार्थसूत्र व टीकाएँ

यह जैन दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ है । इस में जैनाचार और जैन तत्त्वज्ञान के सभी पहलुओं पर सूत्र शैली में विचार किया गया है । यह सुनिश्चित है कि जैन आगमश्रुत की मुख्य भाषा प्राकृत रही है तथा इस के आधार से आरातीय आचार्यों ने जो अंगवाह्यश्रुत लिपिबद्ध किया वह भी प्रायः प्राकृत भाषा में ही लिखा । श्रुतसाहित्य के अवलोकन से यही ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के समय साधारण बोलचाल की भाषा भी प्राकृत ही रही होगी ।

धीरे धीरे ब्राह्मण संस्कृति में साहित्यिक भाषा संस्कृत होने से जैन आचार्यों को इसी भाषा का अवलंबन लेना पड़ा होगा । यही कारण है कि तत्त्वार्थ—सूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना संस्कृत में की गई । जैन परम्परा के उपलब्ध साहित्य में संस्कृत भाषा में रचा गया यह सर्वप्रथम ग्रन्थ है । तत्त्वार्थसूत्र लघुकाय सूत्रग्रन्थ होकर भी इस में प्रमेय का उत्तमता के साथ संकलन हुआ है । इस कारण

१. पाएण पुण्वसेवा परिमउयी साधणम्मि गुरुतरिया ।

होति महाविज्जाए किरिया पायं सविग्घा य ॥ वही, गा० ११९६ ॥

तहकम्मठित्तिखवणे परिमयुयी मोक्खसाधणे गरुयी ।

इध दंसणादिकिरिया दुलभा पायं सविग्घा य ॥ वही, गा० ११९७ ॥

इसे जैन परम्परा के सभी सम्प्रदायों ने समान रूप से अपनाया है। दार्शनिक जगत् में तो इसे ख्याति मिली ही है किन्तु आध्यात्मिक जगत् में भी इसका कुछ कम आदर नहीं हुआ है। इस दृष्टि से वैदिकों में गीता का, ईसाइयों में बाइबिल का और मुसलमानों में कुरान का जो महत्त्व है वही महत्त्व जैन परम्परा में तत्त्वार्थ-सूत्र का माना जाता है।^१

तत्त्वार्थ-सूत्र के मूल कर्ता वाचक उमास्वाति अथवा उमास्वामि हैं। वाचक उमास्वाति की खुद की रची हुई, अपने कुल तथा गुरु परम्परा को दर्शाने वाली, लेशमात्र भी संदेहरहित तत्त्वार्थसूत्र की प्रशस्ति आज उपलब्ध है। उस में उल्लिखित है कि—“जिन के दीक्षा गुरु ग्यारह अंग के धारक “घोषनदि” श्रमण थे और प्रगुरु-गुरु के गुरु-वाचक मुख्य “शिवश्री” थे, वाचना से अर्थात् विद्याग्रहण की दृष्टि से जिनके गुरु “मूल” नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक मुण्डपाद थे, जो गौत्र से “कौभीषणि” थे और जो “स्वाति” पिता और “वात्सी” माता के पुत्र थे। जिनका जन्म “न्यप्रोविका” में हुआ था और जो “उच्चनागर” शाखा के थे, उन उमास्वाति वाचक, ने गुरु परम्परा से प्राप्त हुए श्रेष्ठ आर्हत उपदेश को भली प्रकार धारण करके तथा तुच्छ शास्त्रों द्वारा हतबुद्धि दुःखित लोक को देखकर के प्राणियों की अनुकंपा से प्रेरित होकर “तत्त्वार्थाधिगम” नाम का स्पष्ट शास्त्र विहार करते हुए कुसुमपुर नाम के महानगर में रचा है।^२

उक्त प्रशस्ति में सब कुछ स्पष्ट होने पर भी उन का समय भली भांति ज्ञात नहीं हो सका। उस पर अद्यावधि विवाद व शंकाएँ हो रही हैं। स्थविरावलि के आधार पर तो इतना कहा जा सकता है कि वे वीरात् ४७१ अर्थात् विक्रम संवत् के प्रारंभ के लगभग किसी समय हुए हैं। दूसरी उपलब्ध टीकाओं में आज सब से प्राचीन “सर्वार्थ-

१. प्रस्तावना, सर्वार्थ सिद्धि, पृ० १९-२० ॥

२. त० सू० टी० सुखलाल संघवी, प्रस्तावना पृ० ५-६ ॥

सिद्धि" मानी जाती है। उसके रचयिता पूज्यपाद का समय विद्वानों ने विक्रम की पाँचवी-छठी शताब्दी निर्धारित किया है, इस से इतना हम कह सकते हैं कि वाचक उमास्वाति का समय पाँचवी शताब्दी से पूर्व तो है ही।^१ तत्त्वार्थसूत्र पर अनेकों वृत्तियाँ व टीकाएँ लिखी गई हैं कि जितनी अन्य कोई ग्रन्थ की लिखी गई हो। यहाँ मैंने सिद्धसेन गणि की वृत्ति तथा टीकाओं में सर्वार्थसिद्धि-पूज्यपाद, राजवार्तिक-अकलंकदेव का, एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-विद्यानंदी का उल्लेख किया है। दिगम्बर विद्वान उमास्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्र मात्र एक ग्रंथ ही स्वीकार करते हैं वे भाष्य को स्वोपज्ञ नहीं मानते जबकि श्वेताम्बर प्रशमरति, यशोधरचरित्र, श्रावकप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप समास, पूजाप्रकरण आदि ग्रंथ भी इनके ही स्वीकार करते हैं। इस सूत्र में सम्यक्त्व विचार-विकास विशदरूप से, विस्तार से प्राप्त होता है। इस सूत्र का प्रारंभ ही सम्यग्दर्शन-सम्यक्त्व से हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्र के प्रथमसूत्र में ही कहा गया है कि "सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ये तीनों ही मिलकर मोक्षमार्ग हैं।^२ सम्यग्दर्शन दो शब्दों के मेल से बनता है - सम्यक्+दर्शन। सम्यक् शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि—

सम्यक् शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रूढ भी है और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरण-सिद्ध भी है। व्याकरण से सिद्ध करने पर सम् पूर्वक अच् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर सम्यक् शब्द निष्पन्न होता है। संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति "समंचति इति सम्चक्" इस प्रकार होती है। प्रकृत में इसका अर्थ प्रशंसा है। इसे दर्शन ज्ञान और चारित्र इन प्रत्येक के साथ जोड़ने पर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र बनता है। नाममात्र से पदार्थों के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धान

१. वही, पृ० ९ ॥

२. तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र १ ॥

का संग्रह करने के लिए दर्शन से पहले सम्यक् विशेषण दिया है।^१ उमास्वाति ने अपने भाष्य में सम्यग् शब्द का अर्थ करते हुए कहा— “सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः, समंचतेर्वा भावः” अर्थात् निपात से सम्यक् यह प्रशंसार्थक शब्द है तथा सम् पूर्वक अच् धातु यह भाव से है।^२ राजवार्तिककार अकलंकदेव के अनुसार प्रशंसार्थक (निपात) के साथ यह प्रशस्त रूप, गति, जाति, कुल, आयु, विज्ञान आदि अभ्युदय और निःश्रेयस का प्रधान कारण होता है। किसी ने शंका की कि “सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः” इस प्रमाण के अनुसार सम्यक् शब्द का प्रयोग “इष्टार्थ और तत्त्व” अर्थ में होता है अतः इसका प्रशंसा अर्थ उचित नहीं है। इस शंका का समाधान यह है कि निपात शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं। अतः प्रशंसा अर्थ मानने में कोई विरोध नहीं है। अथवा सम्यक् का अर्थ तत्त्व भी किया जा सकता है जिसका अर्थ होगा तत्त्व-दर्शन, अथवा यह क्विप् प्रत्ययान्त शब्द है, इसका अर्थ है जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानने वाला।^३

“सम्यक्” शब्द की व्युत्पत्ति करने के पश्चात् अब “दर्शन” शब्द की व्युत्पत्ति पूज्यपाद के अनुसार—“पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्” अर्थात् जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाय या देखना मात्र।^४

सिद्धसेन इस की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं कि—“दर्शनमिति दृशेख्यभिचारिणी सर्वेन्द्रियानिन्द्रियार्थं प्राप्तिः” अव्यभिचारी इन्द्रिय और अनिन्द्रिय अर्थात् मन के सन्निकर्ष से अर्थप्राप्ति होना दर्शन है। दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति “दृशि” धातु के ल्युट् प्रत्यय करके भाव में इक् प्रत्यय होने पर जिस के द्वारा देखा जाता है, जिससे देखा जाता है तथा

१. सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४ ॥

२. सिद्ध० वृ० पृ० २६-३१ ॥

३. राजवार्तिक, पृ० १९ ॥

सम्यगित्ययं निपातः प्रशंसार्थो वेदितव्यः सर्वेषां प्रशस्तरूपगतिजा-
तिकुलायुर्विज्ञानादीनाम् आभ्युदयिकानां मोक्षस्य च प्रधानकारणत्वात्।

४. स० सि०, पृ० ४ ॥

जिस में देखा जाता है वह दर्शन है। इस प्रकार जीवादि के विषय में अविपरीत अर्थात् अर्थ को ग्रहण करने में प्रवृत्त ऐसी दृष्टि सम्यग्दर्शन है। अथवा “प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनमिति” अर्थात् जिनेश्वर द्वारा अभिहित अविपरीत अर्थात् यथार्थ द्रव्यों और भावों में रुचि होना वह प्रशस्त दर्शन है। प्रशस्त इसलिए है कि मोक्ष का हेतु है। व्युत्पत्ति पक्ष के आश्रित अर्थ को लेकर कहते हैं—“संगतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम्” अर्थात् जिनप्रवचन के अनुसार संगत विचार करना वह सम्यग्दर्शन है।^१

इस दर्शनवाची श्रद्धा पर शंका करते हुए पूज्यपाद ने कहा— दर्शन शब्द “दृशि” धातु से बना है, जिस का अर्थ आलोक है, अतः इस से श्रद्धान रूप अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। इसका समाधान करते हुए कहा—धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, अतः दृशि धातु का श्रद्धान रूप अर्थ करने में कोई दोष नहीं है। पुनः शंकाकार शंका करते हैं कि यहाँ “दृशि” धातु के प्रसिद्ध अर्थ को क्यों छोड़ा गया? समाधान—मोक्ष मार्ग का प्रकरण होने से। तत्त्वार्थों का श्रद्धानरूप जो आत्मा का परिणाम होता है वह तो मोक्ष का साधन बन जाता है, क्योंकि वह भव्यों के ही पाया जाता है, किंतु आलोक-चक्षु आदि के निमित्त से होता है जो साधारण रूप से सब संसारी जीवों के पाया जाता है। अतः उसे मोक्ष-मार्ग मानना युक्त नहीं।^२ सिद्धसेन व अकलंक भी यही कहते हैं।

इस प्रकार जिनोक्त तत्त्वों पर ज्ञानपरक होने वाली श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा। यहाँ एक बात पर ध्यान जाता है कि जब ज्ञानपरक श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा तो सम्यग्दर्शन के पश्चात् आने वाले सम्यग्ज्ञान को पूर्व में रखना चाहिये। इस का उल्लेख करते हुए पूज्यपाद ने कहा—सूत्र में पहले ज्ञान का ग्रहण करना न्यायसंगत होगा क्योंकि

१. सिद्ध० वृ०, पृ० ३०-३१ ॥

२. स० सि०, पृ० ७ ॥

दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है तथा दूसरा ज्ञान में दर्शन शब्द की अपेक्षा कम अक्षर हैं। इस का समाधान करते हुए कहा—यह कहना युक्त नहीं कि दर्शन ज्ञानपूर्वक होता होता है, इसलिए सूत्र में ज्ञान का पहले ग्रहण करना चाहिये। दर्शन और ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं। जैसे मेघपटल के दूर हो जाने पर सूर्य का प्रताप और प्रकाश व्यक्त होता है, उसी प्रकार जिस समय दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय और क्षयोपशम होने पर सम्यग्दर्शन होता है उसी समय उसके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। और जो यह कहा गया है कि दर्शन की अपेक्षा ज्ञान में कम अक्षर है अतः उसे सूत्र में प्रथम ग्रहण करना चाहिये सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा नियम है कि अल्प अक्षर होने पर भी पूज्य शब्द को प्रथम स्थान देना चाहिये अतः ज्ञान से पूर्व दर्शन प्रयुक्त किया गया है। सम्यग्दर्शन पूज्य क्यों है? क्योंकि सम्यग्दर्शन से ज्ञान में समीचीनता आती है।

भाष्य में और स्पष्ट करते हुए कहा कि—“एषां च पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् । उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः”^२ पूर्व अर्थात् पूर्व का लाभ होने पर ही उत्तरोत्तर लाभ हो सकता है। उत्तर की प्राप्ति में पूर्व का लाभ नियत है। टीका में इसे स्पष्ट करते हुए कहा—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो भी सकता है और न भी हो किन्तु सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाने पर सम्यग्दर्शन निश्चित रूप से हो चुका होता है।^३

१. स० सि०, पृ० ५ ॥

ज्ञान ग्रहणमादौ न्याय्यं, दर्शनस्य तत्पूर्वकत्वात् अल्पात्तरत्वाच्च ।
नैतद्युक्तं, युगपदुत्पत्ते । ×××अल्पात्तरादभ्येहितं पूर्वं निपतति ।
कथमभ्येहितत्वम् ? ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशहेतु त्वात् ।

२. तत्त्व० भा० सिद्ध० वृ०, पृ० २६ ॥

३. सिद्ध० वृ० पृ० २८-२९ ॥

अकलंक देव ने इन दोनों ही मतों को स्वीकार करते हुए इसकी विशद चर्चा की है। स्पष्ट इस से यही होता है कि सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही सम्यग्ज्ञान होता है। उस से पूर्व की स्थिति अज्ञान की है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् अज्ञान की निवृत्ति होकर ज्ञान में समीचीनता आ जाती है और वह तब सम्यग्ज्ञान हो जाता है।^१ इसी के साथ अकलंकदेव ने कहा कि जो यह मानते हैं कि ज्ञान से ही मुक्ति हो सकती है, मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शनादि तीन को मानना वृथा है। उनके मत का खण्डन करते हुए कहा—

सांख्य मताबलम्बी यह मानते हैं कि धर्म से उच्च योनि में और अधर्म से नीच योनि में जन्म होता है। प्रकृति और पुरुष में विवेकज्ञान होने से मोक्ष होता है तथा प्रकृति और पुरुष विषयक विपर्यय ज्ञान से बंध। जब तक पुरुष को मिथ्याज्ञान होता है, वह शरीर को ही आत्मा मानता है, तब तक उसे विपर्यय ज्ञान से बंध होता है। जब उसे प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान हो जाता है, वह पुरुष के सिवाय यावत् पदार्थों का प्रकृति कृत और त्रिगुणात्मक मानकर उन से विरक्त होकर “मैं इन में नहीं हूँ”, “ये मेरे नहीं है” यह परम विवेकज्ञान जाग्रत होता है तब सम्यग्ज्ञान से मोक्ष हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सांख्य विपर्यय से बंध और ज्ञान से मोक्ष मानता है।^२

यहाँ स्व-पर का विवेक यही जैन दर्शन को सम्यग्दर्शन अभिप्रेत है तथा विरक्ति यही चारित्रिका रूप ही है। सांख्य जो केवल ज्ञान से मोक्ष का कथन तो करते हैं किन्तु उससे दर्शन और चारित्र भी अछूते नहीं रहते हैं।

१. रा० वा०, पृ० १७ ॥

२. धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।

ज्ञानेन चापवर्गः विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ सांख्याकारिका ४४ ॥

एवं तत्त्वाभ्यासाग्नाऽस्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।

अविपर्याद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ सां० का० ६४ ॥

वैशेषिकों के अनुसार - इच्छा और द्वेष से धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति होती है। उनसे सुख और दुःख रूप संसार। जिस पुरुष को तत्त्वज्ञान हो जाता है, उसके इच्छा द्वेष नहीं रहते, इनके न होने से धर्म और अधर्म नहीं होते, धर्म और अधर्म के न होने से नष्ट शरीर और मन का संयोग नहीं होता, जन्म नहीं होता और संचित कर्मों का निरोध हो जाने से मोक्ष हो जाता है। जैसे प्रदीप के बुझ जाने से प्रकाश का अभाव हो जाता है उसी तरह धर्म और अधर्म रूप बंधन के हट जाने पर जन्म-मरण के चक्र रूप संसार का अभाव हो जाता है। अतः षट् पदार्थ का तत्त्वज्ञान होते ही अनागत धर्म और अधर्म की उत्पत्ति नहीं होगी, इस प्रकार संचित धर्माधर्म का उपभोग और ज्ञानाग्नि से विनाश होकर मोक्ष हो जाता है। अतः वैशेषिक मत से भी विपर्यय बन्ध का कारण है और तत्त्व ज्ञान मोक्ष का।

नैयायिकों के मतानुसार - तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने पर क्रमशः दोष प्रवृत्ति को जन्म और दुःख की निवृत्ति होने को मोक्ष कहते हैं। दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान का कारण कार्य भाव है अर्थात् मिथ्याज्ञान का कार्य दोष, दोष का कार्य प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कार्य जन्म और जन्म का कार्य दुःख है। अतः कारण की निवृत्ति होने पर कार्य की निवृत्ति होना स्वाभाविक है। ये आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति को ही मोक्ष कहते हैं।^१

बौद्धों के अनुसार - अविद्या से बंध और विद्या से मोक्ष होता है। अनित्य, अनात्मक, अशुचि और दुःखरूप पदार्थों को नित्य, सात्मक, शुचि और सुखरूप मानना अविद्या है। इस अविद्या से

१. इच्छा द्वेषपूर्विका धर्माधर्म प्रवृत्ति। वैशे० सू० ६-२-१४।
धर्माधर्मापेक्ष सदेहस्यात्मनो मनसा संयोगो जीवन्म,
तस्य धर्माधर्मयोरभावादभावोऽप्रादुर्भावश्च प्रत्यग्रशरीरस्यात्यन्तमभावः।
स मोक्षः-रा० वा०, पृ० ११ ॥
२. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावान्निः-
श्रेयसाधिगमः-न्यायसू० १-१-२।

रागादिक संस्कारादि उत्पन्न होते हैं। इसके कारण यह भावचक्र बराबर चलता रहता है। जब सब पदार्थों में अनित्य निरात्मक अशुचि और दुःख रूप तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है फिर अविद्या के विनाश से क्रमशः संस्कार आदि नष्ट होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है।^१ इस तरह बौद्धमत में भी अविद्या से बन्ध और विद्या से मोक्ष माना जाता है। जैन सिद्धांत में भी मिथ्यादर्शन अविरति आदि को बंधहेतु माना गया है। पदार्थों में विपरीत अभिप्राय का होना ही मिथ्यादर्शन है और यह मिथ्यादर्शन अज्ञान से होता है अतः अज्ञान से बंधहेतु तो फलित होता है।

जब “अज्ञान से बंध और ज्ञान से मोक्ष होना” यह सभी वादियों को निर्विवाद रूप से स्वीकृत है तब सम्यग्दर्शनादि तीन को मोक्षमार्ग मानना उपयुक्त नहीं है। इस शंका का समाधान करते हुए वार्तिककार कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि मोक्षप्राप्ति सम्यग्दर्शन आदि तीनों के अविनाभाव से होती है। वह इसके बिना नहीं हो सकती। जैसे—मात्र रसायन के श्रद्धान, ज्ञान या आचरण मात्र से रसायन का फल आरोग्य नहीं मिलता। पूर्ण फल की प्राप्ति के लिये रसायन का विश्वास ज्ञान और सेवन आवश्यक है उसी तरह संसार व्याधि की निवृत्ति भी तत्त्वश्रद्धान ज्ञान और चारित्र से ही हो सकती है।^२ यदि ज्ञानमात्र से ही मोक्ष माना जाय तो पूर्णज्ञान

१. अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः जावज्जातिप्रत्ययं जरामरणमिति...
एवमादिष्विधिमज्ञानमियमुच्यते अविद्या ॥
बोधिचर्या० पं०, पृ० ३६८; एवं शिक्षा समुच्चय पृ० २१९-२२३,
माध्यमिकका पृ० ५६४ ॥
२. “मिथ्यादर्शनादेरिति मतं भवताम्” । ४७ । “मिथ्यादर्शनाविरति-
प्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः” त० सू० ८-१ इति भवतामार्हतानामपि
मतम् । पदार्थविपरीताभिनिवेशश्रद्धानं मिथ्यादर्शनं, विपरीताभि-
निवेशश्च मोहात्, मोहश्चाज्ञानमित्यज्ञानाद् बन्धः । अतो मिथ्यादर्शन-
मादिर्बन्धस्य ॥ १० वा०, पृ० १३ ॥

की प्राप्ति के द्वितीय क्षण में ही मोक्ष हो जायगा। एक क्षण भी पूर्णज्ञान के बाद संसार में ठहरना नहीं हो सकेगा। उपदेश, तीर्थ प्रवृत्ति आदि कुछ भी नहीं हो सकेंगे। यह संभव नहीं है कि दीपक भी जल जाय और अंधेरा भी रह जाय। उसी तरह यदि ज्ञान मात्र से मोक्ष हो तो यह संभव ही नहीं हो सकता कि ज्ञान भी हो जाय और मोक्ष न हो। यदि पूर्ण ज्ञान होने पर भी कुछ संस्कार ऐसे रह जाते हैं जिनका नाश हुए बिना मुक्ति नहीं होती और जब तक उन संस्कारों का क्षय नहीं होता तब तक उपदेश आदि हो सकते हैं, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि संस्कारक्षय से मुक्ति होगी ज्ञान मात्र से नहीं।^१

यहाँ टीकाकार स्पष्ट कर रहे हैं कि, “जो यह मानते हैं कि ज्ञान से ही मोक्ष संभव है अन्य की आवश्यकता नहीं”। उसका खण्डन करते हुए स्वमत की पृष्टि की है। ज्ञान से मोक्ष मानने पर सम्यग्दर्शन का अभाव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जैन-दर्शन ने मोक्ष मार्ग में सम्यग्दर्शन को प्राथमिकता दी है। जब हम ज्ञान से मोक्ष मान लेंगे तो उसका अभाव हो जायगा। अतः सम्यग्दर्शनादि तीनों से ही मोक्ष संभव हो सकेगा यह स्पष्ट हुआ।

अब आगे सम्यग्दर्शन का लक्षण देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि— “तत्त्वार्थश्रद्धान् सम्यग्दर्शनम्”^२ — अर्थात् अपने अपने स्वरूप के अनुसार पदार्थों का जो श्रद्धान् होता है वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का यह लक्षण उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में भी आलेखित है। यहाँ टीकाकार स्पष्ट कर रहे हैं कि तत्त्वार्थ के श्रद्धान् को सम्यग्दर्शन कहा है वह युक्तिसंगत है या नहीं?

टीकाकार पूज्यपाद इसका खुलासा करते हैं कि — तत्त्वार्थ शब्द दो शब्दों की सन्निधि से बना है। तत्त्व + अर्थ। तत्त्व शब्द का अर्थ

१. ज्ञानादेव मोक्ष इति चेत्; अनवस्थानादुपदेशाभावः । ५० । संस्कार क्षयादवस्थानादुपदेश इति चेत्; न प्रतिज्ञाविरोधात् ॥ ५१ ।
रा० वा०, पृ० १४ ॥

२. त० सू०, अध्याय १, सू० २ ॥

है “ जो पदार्थ रूप से अवस्थित है उसका उस रूप होना ” एवं अर्थ से तात्पर्य है जो निश्चय किया जाता है। इस प्रकार जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है उसका उसी रूप से निश्चय होना तत्त्वार्थ है। यहाँ शंकाकार शंका करते हैं यदि तत्त्वार्थश्रद्धानम् के स्थान पर यहाँ अर्थश्रद्धान ही किया जाय तो क्या यह पर्याप्त नहीं ? उसका समाधान करते हुए कहा है कि—इस से अर्थ शब्द के धन, प्रयोजन, अभिधेय आदि जितने भी अर्थ है उन सबके ग्रहण का प्रसंग आता है जो युक्त नहीं। अतः “ अर्थश्रद्धानम् ” केवल इतना ही नहीं कहा है। पुनः शंका करते हैं कि तब “ तत्त्वश्रद्धानम् ” इतना ही ग्रहण करना चाहिये ? तो समाधान करते हुए कहा कि—इस प्रकार केवल भावमात्र के ग्रहण का प्रसंग प्राप्त होता है। कितने ही लोग वैशेषिक तत्त्व पद से सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व, और कर्मत्व इत्यादि का ग्रहण करते हैं। अब यदि सूत्र में तत्त्वश्रद्धानम् इतना ही रहने दिया जाता है तो इससे इन सबका श्रद्धान सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है जो युक्त नहीं।

अथवा तत्त्व शब्द एकत्ववाची है इसलिए सूत्र में केवल तत्त्व पद के रखने से “ सब एक है ” इस प्रकार स्वीकार करने का प्रसंग प्राप्त होता है। अथवा “ यह सब दृश्य व अदृश्य जगत् पुरुषस्वरूप ही है ” ऐसा किन्हीं ने माना भी है। इस तरह इस सूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण केवल “ तत्त्व श्रद्धानम् ” रखना युक्त प्रतीत नहीं होता। साथ ही ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोध आता है। अतः इन सब दोषों को दूर करने के लिए सूत्र में तत्त्व और अर्थ इन दोनों पदों का ग्रहण किया है।^१

टीकाकार सिद्धसेन, विद्यानन्दी ने भी इसी का समर्थन किया है। विद्यानन्दी के अनुसार—यदि सिर्फ श्रद्धान करना यह लक्षण माना जाय तो इससे मिथ्या-ज्ञानों से ग्रहण किये गये अनर्थों का श्रद्धान करना

भी सम्यग्दर्शन हो जावेगा। अतिव्याप्ति दोष के निवारण हेतु इनका ग्रहण किया गया है।^१

अकलंकदेव ने भी समर्थन करते हुए आगे कहा कि यदि कोई वादी इच्छापूर्वक श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहते हैं तो यह युक्त नहीं क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी अपने आपको बहुश्रुत दिखाने के लिए या जैन मत को पराजित करने के लिए अर्हत्तत्त्वों का झूठा ही श्रद्धान कर लेते हैं, जैनशास्त्रों को पढ़ते हैं। इच्छा के बिना तो यह हो ही नहीं सकता।^२

अथवा यदि इच्छा को सम्यग्दर्शन कहें तो यह तो लोभ की पर्याय है। अतः यह सम्यग्दर्शन का लक्षण हो ही नहीं सकता।^३

पूज्यपाद ने अन्य प्रकार से भी सम्यग्दर्शन का लक्षण किया है—सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है—

१. सराग सम्यग्दर्शन, २. वीतराग सम्यग्दर्शन।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्तियुक्त लक्षण वाला सराग सम्यग्दर्शन है। और वीतराग सम्यग्दर्शन आत्मा की विशुद्धिमात्र है।^४ इसका समर्थन अकलंक व विद्यानदी करते हैं किन्तु सिद्धसेन ने पांच लक्षण माने हैं—प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य।^५

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, द्वितीय खण्ड, गा० ३, पृ० ५ ॥

अर्थ ग्रहणतोऽनर्थश्रद्धानं विनिवारितम् ।

कल्पितार्थव्यवच्छेदोऽर्थस्य तत्त्वविशेषणात् ॥ ३ ॥

२. इच्छाश्रद्धानमित्यपरे । २६ । तदयुक्तम्, मिथ्यादृष्टेरपि प्रसंगात् । २७ । रा० वा०, पृ० २१ ॥

३. रा० वा० अध्याय १, सू० २, श्लो० २७ पृ० २२ ॥

४. स० सि० पृ० ७-तद् द्विविधं सराग वीतरागविषयभेदात् प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्ति लक्षणं प्रथमम् । आत्मविशुद्धि-मात्रमितरत ।

५. त० भाष्यसिद्ध० वृत्ति, पृ० ३२, तदेवं प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पा-स्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति ।

सांख्य के अनुसार- “तत्त्वों का श्रद्धान करना नाम का यह भाव तत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीन गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति का परिणाम है।” इस प्रकार सांख्यमती स्वीकार करते हैं किन्तु इसका समाधान करते हुए विद्यानदी कहते हैं—उनका कहना प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर उस प्रकृति के सर्वथा भिन्न माने गये आत्मा में सम्यक्त्व का सद्भाव नहीं हो सकता है। प्रकृति का बना हुआ श्रद्धान उससे सर्वथा भिन्न हो रहे आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण को व्यवस्थापित नहीं कर सकता है।^१

इस प्रकार सांख्य मत का निरसन कर सूत्रकार तत्त्वों का उल्लेख कर रहे हैं कि वे तत्त्व कौन से हैं ?—

“जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्”^२ अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं।

पूज्यपाद ने इन सात तत्त्वों का विश्लेषण व लक्षण देते हुए कहा—जीव का लक्षण चेतना है जो ज्ञानादिक के भेद से अनेक प्रकार की है। जीव से विपरीत लक्षण वाला अजीव है। शुभ और अशुभ कर्मों के आने के द्वार रूप आस्रव है। आत्मा और कर्म—प्रदेशों का परस्पर मिल जाना बन्ध है। आस्रव का रोकना संवर है। कर्मों का एक देश अलग होना निर्जरा है और सब कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना मोक्ष है।^३

१. श्लो० वा०, ख० २, गा० १३, पृ० ४६—

प्रधानस्य विवर्ताऽयं श्रद्धानारब्ध इतीतरे ।

तदसत्पुंसि सम्यक्त्वाभावासंगततोऽपरे ॥ १३ ॥

२. त० सू०, अ० १, सू० ४.

३. स० सि०, पृ० ११—तत्र चेतनालक्षणो जीवः । सा च ज्ञानादिभेदादनेकधा भिद्यते । तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः । शुभाशुभ कर्मागमद्वारस्य आस्रवः । आत्मकर्मणोरन्योऽन्य प्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः । आस्रव निरोधलक्षणः संवरः । एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा । कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः ।

कई आचार्यों ने कहा है कि पदार्थ नौ हैं, उनमें पुण्य और पाप भी है अतः उनको भी ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार शंकाकारों की शंका का समाधान करते हुए पूज्यपाद कहते हैं कि—पुण्य और पाप का ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनका आस्रव और बन्ध में अन्तर्भाव हो जाता है। पुनः शंकाकार शंका करते हैं कि “यदि ऐसा है तो सूत्र में अलग से आस्रव आदि का ग्रहण करना निरर्थक है, क्योंकि उनका जीव और अजीव में अन्तर्भाव हो जाता है”। पुनः समाधान करते हैं कि आस्रव आदि का ग्रहण करना निरर्थक नहीं है। क्योंकि यहाँ मोक्ष का प्रकरण है इसलिये उसका कथन करना आवश्यक है। आस्रव चूकि संसार पूर्वक होता है और संसार के प्रधान कारण आस्रव और बन्ध हैं तथा मोक्ष के प्रधान कारण संवर और निर्जरा है अतः प्रधान हेतु, हेतु वाले और उनके फल को दिखलाने के लिए अलग-अलग कथन किया है।^१ सिद्धसेन, अकलंक व विद्यानन्दी ने इसका समर्थन कर विस्तार से इसका विवेचन किया है।

जीवादि पदार्थों को विषय करने वाला यह सम्यग्दर्शन किस प्रकार उत्पन्न होता है उसका कथन करते हुए सूत्रकार ने कहा—“तन्नि-सर्गाधिगमाद्वा”—अर्थात् वह सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होता है।^२

यहाँ निसर्ग का अर्थ स्वभाव है और अधिगम का अर्थ है

१. इह पुण्यपापग्रहणं कर्तव्यम् । नवः पदार्थाः इत्यन्यैरप्युक्तत्वात् । न कर्तव्यम्, आस्रवे बन्धे चान्तर्भावात् । यद्येवमास्रववादिग्रहणमनर्थकं, जीवाजीवयोरन्तर्भावात् । नानर्थकम् । इह मोक्षः प्रकृतः । सोऽवश्यं निर्देष्टव्यः । स च संसारपूर्वकः । संसारस्य प्रधानहेतुरास्रवो बन्धश्च । मोक्षस्य प्रधानहेतुः संवरो निर्जरा च । अतः प्रधानहेतुहेतुमत्फल-निर्दर्शनार्थत्वात्पृथगुपदेशः कृतः । स० सि० पृ० ११ ॥

२. त० सू०, अध्या० १, सू० ३.

पदार्थ का ज्ञान। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि सूत्र में इन दोनों का हेतु रूप से निर्देश किया है। इस पर शंकाकार शंका करते हैं इन दोनों का किसके हेतु रूप से निर्देश किया है? तो समाधान करते हैं कि क्रिया से। पुनः कहते हैं वह कौनसी क्रिया है? तब समाधान करते हुए पूज्यपाद कहते हैं कि “उत्पन्न होता है” यह क्रिया है। यद्यपि इसका उल्लेख सूत्र में नहीं किया गया तथापि इसका अध्याहार कर लेना चाहिये, क्योंकि सूत्र उपस्कार सहित होते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व की उत्पत्ति निसर्ग व अधिगम से होती है।^१

किंतु यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं बन सकता क्योंकि; तत्त्वाधिगम हुए बिना उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है? और यदि होता है तो वह भी अधिगमज ही हुआ उससे भिन्न नहीं। यदि नहीं होता तो जिसने पदार्थों को जाना नहीं है उसे उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है?

इसका समाधान करते हुए पूज्यपाद कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि दोनों सम्यग्दर्शनों में दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूप अन्तरंग कारण समान है। इसके रहते हुए जो बाह्य उपदेश के बिना होता है वह नसर्गिक सम्यग्दर्शन है और जो बाह्य उपदेश पूर्वक जीवादि पदार्थों के ज्ञान के निमित्त से होता है वह अधिगमज है।^२

१. निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः। अधिगमोऽर्थाविबोधः। तयोर्हेतुत्वेन निर्देशः। कस्या? क्रियाया। का च क्रिया? उत्पद्यते इत्यध्याह्रियते सोपस्कार-त्वात् सूत्राणाम्। स० सि०, पृ० ९ ॥

२. नैष दोषः। उभयत्र सम्यग्दर्शने, अन्तरंगो हेतुस्तुल्यो दर्शनमोह-स्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। तस्मिन्सति यद्बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम् यत्परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं यदुत्तरम्। स० सि०, पृ० ९ ॥

यहाँ हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूलकारण सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय और क्षयोपशम है। तब निसर्गज एवं अधिगमज रूप सम्यग्दर्शन हो सकता है। भाष्य के वृत्तिकार इसका विश्लेषण करते हुए कहते हैं—निसर्ग, परिणाम, स्वभाव और परोपदेशादिक का अभाव, ये सब एकार्थवाचक हैं। अनादिकाल से भ्रमण करते हुए यह जीव स्वकृत कर्मों के बंध के अनुसार चारों गतियों में पुण्य पाप रूप फल का अनुभव करता हुआ ज्ञान और दर्शन के उपयोग से एवं स्वभाव से तथा उत्पन्न परिणाम व अध्ववसाय से मिथ्यादृष्टि के अपूर्वकरण ऐसा होता है जिसके द्वारा परोपदेश बिना स्वयं सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वही निसर्गज सम्यग्दर्शन है। और अधिगम परोपदेश, अभिगम, आगम, निमित्त, श्रवण, शिक्षा ये सब समानार्थक हैं। इनके द्वारा जो तत्त्वार्थश्रद्धान् उत्पन्न होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।^१ अकलंक व विद्यानन्दी ने भी यही स्वीकार किया है।

अब ग्रन्थकार कथन कर रहे हैं कि इन जीवादि पदार्थों का तथा सम्यग्दर्शन के स्वरूप का ज्ञान किसके द्वारा होता है? तो कहा—“प्रमाणनयैरधिगमः” अर्थात् प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है।^२

१. निसर्गः परिणामः स्वभावः अपरोपदेश इत्यनर्थान्तरम् । तस्यानादौ संसारे परिभ्रमतः कर्मत एव कर्मणः स्वकृतस्य बन्धनिकाचनोदय-निर्जरापेक्ष नारकतिर्यग्योनिमनुष्यामरभवग्रहणेषु त्रिविधं पुण्यपाप-फलमनुभवतो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वाभाव्यात् तानि तानि परिणामा-ध्ववसायस्थानान्तराणि गच्छतोऽनादिमिथ्यादृष्टेरपि सत् परिणाम-विशेषादपूर्वकरणं तादृग् भवति येनास्यानुपदेशात् उत्पद्यते निसर्ग-सम्यग्दर्शनम् । अधिगमः अभिगम आगमो निमित्तं श्रवणं शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम् । तदेवं परोपदेशात् यत् तत्त्वार्थश्रद्धानं भवति तदधिगम सम्यग्दर्शनमिति—सिद्ध० वृ०, पृ० ३५ ॥

२. त० सू०, प्रमाणनयैरधिगमः । अध्याय १, सू० ६ ॥

अन्य उपायों का भी ग्रन्थकार उल्लेख करते हैं—

“निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः”—अर्थात् निर्देश, स्वामित्व, साधना, अधिकरण, स्थिति और विधान से सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है ।^१

किसी वस्तु के स्वरूप का कथन करना निर्देश है । यथा—सम्यग्दर्शन क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है” ऐसा कथन करना निर्देश है अथवा नामादिक के द्वारा सम्यग्दर्शन का कथन करना निर्देश है । स्वामित्व का अर्थ है आधिपत्य । सम्यग्दर्शन किसके होता है ? सामान्य से जीव के और विशेष की अपेक्षा गति एवं मार्गणा के अनुसार होता है । जिस निमित्त से वस्तु उत्पन्न होती है वह साधन है । साधन दो प्रकार के हैं—अभ्यन्तर और बाह्य । दर्शनमोहनीय उपशमादि अभ्यन्तर एवं जातिस्मरण, घर्मश्रवण अथवा वेदनाभिभव, जिनमहिमादर्शन, देवत्रुद्धि दर्शनादि बाह्य कारण हैं ।

अधिष्ठान या आधार अधिकरण है । अधिकरण के दो प्रकार है अभ्यन्तर और बाह्य । अभ्यन्तर अधिकरण—जिस सम्यग्दर्शन का जो स्वामी है वह ।^२ और बाह्य अधिकरण लोकनाड़ी है, जो कि एक राजु चौड़ी और चौदह राजु लम्बी है । स्थिति—औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उकृष्ट अन्तर्मुहूर्त है । क्षायिक की जघन्य अन्तर्मुहूर्त

१. त० सू०, अध्याय १, सू० ७ ॥

२. निर्देशः स्वरूपाभिधानम् । स्वामित्वमाधिपत्यम् । साधनमुत्पत्ति-निमित्तम् । अधिकरणमधिष्ठानम् । स्थितिः कालपरिच्छेदः । तत्र सम्यग्दर्शनं किमिति प्रश्ने तत्त्वार्थश्रद्धानमिति निर्देशो नामादिर्वाक्येत्युक्ते सामान्येन जीवस्य । विशेषेण गत्युवादेन । साधनं द्विविधं अभ्यन्तरं बाह्यं च । अभ्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा । बाह्यं साधनं केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिद्वेदनाभिभवः केषांचिज्जिनबिम्बदर्शनं, केषांचिज्जिनमहिमादर्शनं केषांचिद्देवत्रुद्धिदर्शनम् । अधिकरणं द्विविधं अभ्यन्तरं बाह्यं च । अभ्यन्तरं स्वस्वामिसंबन्धाहं एव आत्मा । स०सि०, पृ० १६ से २० ॥

और उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम है, संसारी जीव के तथा मुक्त के सादि-अनन्त है। क्षयोपशम की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागर है। भेद की अपेक्षा सम्यग्दर्शन सामान्य से एक है, निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का, औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा अनन्त प्रकार है।^१

इस प्रकार निर्देश आदि उपायों का कथन करने के पश्चात् अन्य और भी जो जीवादिपदार्थों के ज्ञान के उपाय हैं उन का सूत्रकर्ता कथन करते हैं कि—“सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावालपत्वबहुत्वैश्च”, अर्थात् सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पत्व-बहुत्व से भी सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है।^२

सत् अस्तित्व का सूचक है। संख्या से भेदों की गणना ली है। वर्तमानकाल विषयक निवास को क्षेत्र कहते हैं। त्रिकाल विषयक निवास को स्पर्शन कहते हैं। काल दो प्रकार का है—मुख्य और व्यावहारिक। विरहकाल को अन्तर कहते हैं। भाव से औपशमिक आदि भावों का ग्रहण किया गया है और एक दूसरे की अपेक्षा न्यूनाधिक का ज्ञान करने को अल्पत्वबहुत्व कहते हैं। इस प्रकार सत् आदि के द्वारा सम्यग्द-

१. वही, बाह्य लोकनाडी सा एकरज्जुविकल्पा चतुर्दशरज्जुवायामा । स्थितिरौपशमिकस्य जघन्योत्कृष्टा चान्तर्मौहूर्तिकी । क्षायिकस्य जघन्यान्तर्मौहूर्तिकी । उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । क्षायोपशमिकस्य उत्कृष्टा षट्षष्टिसागरोपमाणि । विधानं सामान्यादेकं, द्वितयं निसर्गजाधिगमजभेदात् । त्रितयं औपशमिकादिभेदात् । एवं संख्येया विकल्पाः शब्दतः । असंख्येया अनन्ताश्रभवन्ति श्रद्धातु-श्रद्धातव्यभेदात् ।

२. त० सू०, प्रथम अध्याय, सू० ८ ॥

शनादि और जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है ।^१

सिद्धसेन गणि के अनुसार—

सत्-सम्यग्दर्शन का अस्तित्व है या नहीं; तो कहते हैं-है ।
है तो, किन में है ? अजीवों में नहीं है जीवों में-किसी के है
किसी के नहीं ।

संख्या सम्यग्दर्शन कितना है ? सम्यग्दर्शन असंख्यात् है और
सम्यग्दृष्टि अनंत है ।

क्षेत्र-सम्यग्दर्शन कहाँ कहाँ है ? लोक के असंख्यात भाग में ।

स्पर्शन-लोक के असंख्यात भाग को स्पर्श करते हैं ।

काल-एक जीव की अपेक्षा से जघन्य से अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट से
छयासठ सागरोपम एवं नाना जीवों की अपेक्षा से अर्द्धपुद्गल परावर्तन ।

अन्तर-विरहकाल । एक जीव की अपेक्षा से जघन्य से अन्तर्मुहूर्त,
उत्कृष्ट से अर्द्धपुद्गलपरावर्तन, नाना जीवों की अपेक्षा से अन्तर/विरह
काल नहीं है ।

भाव-औपशमिक आदि तीन भाव ।

अल्पत्वबहुत्व-सब से कम औपशमिक सम्यग्दृष्टि है और उससे
क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि असंख्यात् गुणा है । उससे क्षायिक सम्यग्-
दृष्टि अनंतगुणा है ।^२

इस विषय में अकलंक व विद्यानदी ने पूज्यपाद का अनुसरण
किया है । इस प्रकार तत्त्वार्थ-सूत्र में सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन की विशद
चर्चा की है । सम्यक्त्व का स्वरूप, लक्षण, उत्पत्ति, प्राप्ति के उपाय, भाव

१. सदित्यस्तित्व निर्देशः । संख्याभेदगणना । क्षेत्रं निवासो वर्तमान-
कालविषयः । तदेव स्पर्शनं त्रिकालगोचरम् । कालोद्विविधः मुख्यो
व्यावहारिकश्च । अन्तरं विरहकालः । भाव औपशमिकादिलक्षणाः ।
अल्पबहुत्वमन्योऽन्यापेक्षया विशेषप्रतिपत्तिः । स० सि०, पृ० २१ ॥

२. सिद्ध० वृ०, पृ० ६२-६८ ॥

व पूर्वकथित अतिचारों की इस सूत्र में विस्तृत उपलब्धि होती है। सम्यग्दर्शन के विस्तार का प्रथम सोपान इस सूत्र को कहा जाय तो इस में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

श्रावक-प्रज्ञप्ति

वाचकवर्थ उमास्वाति रचित दूसरा ग्रन्थ है, श्रावक-प्रज्ञप्ति। इस सूत्र में भी इन्होंने सम्यक्त्व विषयक चर्चा की है। तत्त्वार्थ-सूत्र के अतिरिक्त विशेष सम्यक्त्व का उल्लेख जो इन्होंने इस सूत्र में किया है उसका ही विवेचन हम यहाँ करेंगे। श्रावक-प्रज्ञप्ति सूत्र की टीका आ. हरिभद्र सूरि ने की है।

सूत्रकर्ता ने कहा है कि जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह उत्कृष्ट समाधि वाला होता है तथा जिन प्रवचन में, उसके श्रवण में उसका अत्यंत अनुराग होता है।^१ इसी के साथ यह सम्यक्त्व जो कि शुद्ध आत्मपरिणाम रूप है वह ग्रंथि भेद होने पर होता है। और यह सम्यक्त्व जीव और कर्म के योग से होता है।^२

यह ग्रंथिभेद कब होता है? इसका समाधान सूत्रकार करते हैं कि-आयु कर्म को छोड़कर सब कर्मों की एक कोड़ाकोड़ी से कम स्थिति शेष रहे तब घर्षण घोल न्याय से जीव को कभी नहीं हुआ ऐसा ग्रंथिभेद होता है। ग्रंथिभेद होने पर मोक्ष का कारण भूत जो सम्यक्त्व है उसका लाभ जीव को होता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात् जीव उस ग्रंथि का पुनः कर्म बन्धन से उल्लंघन नहीं करता।^३

१. श्रावक-प्रज्ञप्ति-होइ दहं अणुराओ जिणवयणे परमनिव्वुइकरम्मि ।
सवणाइणोयरो तह सम्मदिदट्टिस्स जीवस्स ॥ गा० ५ ॥

२. पयस्स मूलवत्थू सम्मत्तं तं च गंठिभेयम्मि ।

खयउवसमाइ तिविहं सुहायपरिणामरूवं तु ॥ श्रा० प्र०, गा० ७ ॥
जं जीवकम्मजोए जुज्जइ एयं अओ तयं पुट्ठि ॥ वही, गा० ८ ॥

१. एवं तिइयस्स जया घंसणघोलणनिमित्तओ कहवि । खविया कोडाकोडी
सव्वा इक्कं पमुत्तुणं । ३१ ॥ तीइ वि य थोवमित्ते खविप इत्थंतरम्मि

ग्रंथिभेद के पश्चात् जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है वह तीन प्रकार का है—उपशमादि तीन अथवा कारक रोचक और दीपक आदि।^१

अब ग्रंथकर्त्ता सम्यक्त्व के प्रकारों का विवेचन करते हैं—

जो मिथ्यात्व उदय में आया हो उसे क्षीण किया हो और जो उदय में नहीं आया हो उसका शमन किया हो ऐसा मिश्रभाव में परिणमन किया हुआ हो। तथा प्रदेश से मिथ्यात्व के दलिकों का वेदन किया जाता हो वह क्षयोपशम सम्यक्त्व है।^२ उपशम श्रेणी में चढ़ा हुआ जीव उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है अथवा जिस जीव ने तीन पुंज किये नहीं हो और जिसके मिथ्यात्व का क्षय नहीं हुआ वह जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। अथवा जिसका उदय में आया हुआ मिथ्यात्व क्षीण हो गया हो और शेष मिथ्यात्व जिसका उदय में आया न हो उस जीव को सिर्फ अन्तर्मुहूर्त तक उपशम सम्यक्त्व होता है। जिस प्रकार दावानल जब जली हुई क्षार वाली भूमि पर पहुँच कर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व का उदय नहीं होने से जीव उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।^३

जीवस्स । इवइ हु अभिन्नपुणो गंठी एवं जिणा बिंति । ३२ ॥
भिन्नमि तंमि लाभो जायइ परमपयहेउणो नियमा । सम्मत्तस्स
पुणो तं बंधेण न बोलइ कयावि । ३३ ॥ वही०

१. समत्तं पि य तिविहं खओवसमियं तहोवसमियं च ।

खइयं च कारगाइ व पन्नत्तं वीयरगेहि । वही, ४३ ॥

२. मिच्छत्तं जसुदिन्नं तं खीणं अणुइयं च उवसत्तं ।

मीसीभावपरिणयं वेयिज्जंतं खओवसमं । श्रा० प्र० ४४ ॥

३. उवसमगसेदिगयस्स होइ उवसामियं तु सम्मत्तं ।

जो वा अकयतिपुंजो अखवियमिच्छो लहइ सम्मं । वही, ४५ ॥

खीणमि उइन्नमि अ अणुइज्जंते अ सेसमिच्छत्ते ।

अंतोमुहुत्तमित्तं उवसमसम्मं लहइ जीवो । ४६ ॥ वही

उसरदेसं दड्ढिल्लयं व विज्झाइ वणदवो पप्प ।

इय मिच्छस्साणुदप उवसमसम्मं लहइ जीवो । ४७ ॥ वही

क्षयोपशम एवं उपशम सम्यक्त्व का विवेचन कर क्षायिक सम्यक्त्व का कथन करते हैं—भवभ्रमण के कारणभूत जब तीन प्रकार का दर्शन-मोहनीय कर्म क्षीण हो जाता है तब जीव को विघ्नरहित तथा अतुल ऐसा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है।^१

अब अन्य तीन प्रकार के जो कारकादि सम्यक्त्व हैं उसका विवेचन करते हैं—

शास्त्र में जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार का अनुष्ठान जो करता है उसे कारक सम्यक्त्व जानना चाहिये और जो सिर्फ रुचि को उत्पन्न करता है उसे रोचक सम्यक्त्व कहते हैं।^२ दीपक सम्यक्त्व उसे कहते हैं जो स्वयं मिथ्यादृष्टि होता है किंतु धर्मकथा वगैरह करके अन्य का सम्यक्त्व दीपावे उसे कार्य कारणभाव से दीपक सम्यक्त्व जानना।^३

इस प्रकार सम्यक्त्व के भेदों के स्वरूप का कथन करके ग्रंथकार कहते हैं कि जब सम्यक्त्व होता है तब जीव के परिणाम शुभ ही होते हैं ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि मल और दागरहित स्वर्ण क्या कृष्ण रूप में दिखाई देता है? ^४

सम्यग्दृष्टि के परिणाम शुभ होते हैं तथा उसके लक्षण कैसे होते हैं? उसकी चर्चा करते हुए कहते हैं कि—

वह जीव स्वभाव से कर्म के विपाक को अशुभ जानकर किसी

१. स्त्रीणेदंसणमोहे तिविहंमि वि भव्वनियानभूर्यमि ।
निपपच्चवायमउलं सम्मत्तं खाइयं होइ । ४८ ॥ वही
२. जं जह भणियं तं तह करेइ सइ जमि कारगं तं तु ।
रोयगसम्मत्तं पुण रुइमित्तकरं मुणेयव्वं । ४९ ॥ वही
३. सयमिह मिच्छदिदट्ठी धम्मकहाँहि दीवइ परस्स ।
सम्मत्तमिणं दीवग कारणफलभावओ नेयं । ५० ॥ वही
४. इत्थं य परिणामो खलु जीवस्स सुहो उ होइ विन्नेओ ।
किं मलकलंकमुक्कं कणगं भुवि सामलं होइ? । ५४ ॥ वही

भी समय अपराधी मनुष्य पर भी क्रोध नहीं करता, उपशम भाव के कारण ।^१

वह जीव राजेन्द्र और देवेन्द्र के सुख को भी दुःख रूप मानकर संवेग के कारण मोक्ष के सिवाय अन्य किसी की भी अभिलाषा नहीं करता ।^२ यह जीव नारक तिर्यच, मनुष्य और देव के भवों में दुःखी होता है इस प्रकार निर्वेद के कारण संसार में ममता रूपी विष के आवेश से रहित होने पर भी परलोक के अनुकूल क्रिया नहीं करता ।^३ इसी प्रकार वह जीव भवसागर में दुःख से पीड़ित जीव समूह को देखकर सामान्य रूप से द्रव्य से और भाव से स्वशक्ति अनुसार दया करता है ।^४ वह जीव शुभ परिणाम वाला होता है और कांक्षा आदि अतिचारों से रहित एवं जिनेश्वर भगवान् ने कहा है वही सत्य है उस में संशय नहीं करता है ।^५

इस प्रकार के परिणाम वाले जीव को जिनेश्वर भगवान् ने सम्यग्दृष्टि कहा है । ऐसा जीव थोड़े ही समय में भवसागर से पार हो जाता है ।^६

इस प्रकार का कथन कर के ग्रन्थकार आचारांग सूत्र के अनुसार

१. पर्यईह व कम्माणं वियाणिउं वा विवागमसुहं ति ।
अवरुद्धे वि न कुप्पइ उवसमओ सव्वकालं पि । ५५ वही
२. नर विबुहेसर सुक्खं दुक्खं चिय भावओ य मन्नंतो ।
संवेगओ न मुक्खं मुत्तूणं किंचि पत्थेइ । ५६ ॥ वही
३. नारयतिरियनरामरभवेसु निव्वेयओ वसइ दुक्खं ।
अकयपरलोयमग्गो ममत्तविसवेगरहिओ वि । ५७ ॥ वही
४. दट्टूण पाणिनिवहं भीमे भवसागरंमि दुक्खत्तं ।
अविसेसओ णुकंपं दुहावि सामत्थओ कुणइ । ५८ ॥ वही
५. मन्नइ तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पन्नत्तं ।
सुहपरिणामो सव्वं कंखाइविसुत्तियारहिओ । ५९ ॥ वही
६. एवंविहपरिणामो सम्मदिदट्ठी जिणेहिं पन्नत्तो ।
पसो य भवसमुद्दं लंघइ थोवेण कालेण । ६० ॥ वही

ही कहते हैं कि-निश्चय से जो वास्तविक मुनिपना है वही सम्यग् है और जो सम्यग् है वह मुनिपना है एवं मुनिरहित का सम्यक्त्व यानि कि अविरति या देशविरति का सम्यक्त्व निश्चय सम्यक्त्व नहीं किंतु निश्चय सम्यक्त्व का कारण है।^१

यहाँ ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है कि श्रावकों को अर्थात् श्रमणों-पासकों जो सम्यक्त्व होता है वह व्यवहार से होता है और मुनि को निश्चय रूप होता है। हाँ, व्यवहार सम्यक्त्व निश्चय का कारण है। आगे ग्रन्थकर्ता तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार सम्यक्त्व का लक्षण-श्रद्धान का निरूपण करते हैं।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में सम्यक्त्व का निरूपण कर के सम्यक्त्व के भेद उपशम आदि तीन के अलावा कारक आदि भी है। एवं दस प्रकार की रुचि भी है। तथा साथ ही प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य भी श्रद्धान के अलावा सम्यक्त्व के लक्षण है। ग्रन्थि-भेदन के पश्चात् यह सम्यक्त्व होता है। यहाँ एक बात पर ध्यान केन्द्रित होता है कि तत्त्वार्थ के टीकाकार पूज्यपाद ने उपर्युक्त लक्षणों में से चार को स्वीकार किया है। जब कि यहाँ स्वयं ग्रन्थकार ने पाँच लक्षणों को स्वीकार किया है। दोनों ग्रन्थों का अवलोकन करने पर हमें ऐसा ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थ-सूत्र में जो विषय अधूरा रह गया था उसी का समावेश मानो इस सूत्र में किया गया हो। उसी का पश्चात्वर्ती यह सूत्र है।

१. जं मोणं तं सम्मं जं सम्मं तमिह होइ मोणं ति ।

निच्छयओ इयरस्स उ सम्मं सम्मततहेऊ वि । ६१ ॥ वही

(आ) दिगम्बर साहित्य

१. आचार्य श्री कुंदकुंद

दिगम्बर जैन परम्परा के आचार्यों में श्री कुंदकुंदाचार्य का जो महत्त्व है वह अनुपम है। उनके महत्त्व का ख्यापन करने वाला एक श्लोक अतिप्रसिद्ध है—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।

मंगलं कुंदकुंदाचार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

भगवान् महावीर, गौतम गणी, कुन्दकुन्दाचार्य और जैन धर्म मंगल रूप है। यह श्लोक इस बात का सूचक है कि कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जैनाचार्यों में सर्वोपरि माना जाता है।^१

कुन्दकुन्दाचार्य के समय के विषय में काफी मतभेद है। आज उनका समय विद्वद्गण “विक्रम की तीसरी शताब्दी का पूर्वार्द्ध अथवा ईसा की दूसरी शताब्दी का उत्तरार्ध ही समुचित है” यह स्वीकार करते हैं।^२

किंतु डॉ. उपाध्ये कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईस्वी सन् का प्रारंभ का स्वीकार करते हैं।^३

आचार्य कुन्दकुन्द का समय जो भी माना जाय किंतु तत्त्वार्थ और आ. कुन्दकुन्द के ग्रन्थगत दार्शनिक विकास की ओर ध्यान दिया जाय तो वा. उमास्वाति के तत्त्वार्थगत जैन दर्शन की अपेक्षा आ. कुन्दकुन्द के ग्रन्थगत जैन दर्शन का रूप विकसित है, यह किसी भी दार्शनिक से छिपा नहीं रह सकता। अतएव इतना हम स्पष्ट कह सकते हैं कि वाचक उमास्वाति से कुन्दकुन्दाचार्य पश्चात्पूर्वी हैं।

१. कुंदकुंद प्राभृत संग्रह-प्रस्तावना, पृ० १ ॥

२. वही, पृ० ३५ ॥

३. प्रवचन सार, प्रस्तावना, पृ० २२ ॥

दिगम्बर जैन परम्परा में कुन्दकुन्द द्वारा रचित साहित्य को ही आद्य मान्य करते हैं। वैदिक धर्म में उपनिषदों को जो स्थान प्राप्त है वही स्थान दिगम्बर जैन परम्परा में कुन्दकुन्द के साहित्य का है। विद्वान् उनके प्राभृतों को जैन उपनिषद् मानते हैं। इनके ग्रन्थों को पाहुड़ कहते हैं। यथा—समय पाहुड़, षट् पाहुड़, प्रवचन पाहुड़ आदि।

आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन तत्त्वों का निरूपण वा. उमास्वाति की तरह मुख्यतः आगम के आधार पर नहीं किंतु तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओं के प्रकाश में आगमिक तत्त्वों को स्पष्ट किया है। कुन्दकुन्दाचार्य रचित ग्रन्थों में सम्यक्त्व विषयक विचार व विकास हम समन्वय रूप से देखेंगे। दर्शन प्राभृत आदि षट् प्राभृत, समय-सार, नियमसार, प्रवचनसार, रत्नसार, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों में सम्यक्त्व विषयक उल्लेख मिलता है। दर्शन पाहुड़ में कहा है—

छः द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व जिनो-प्रदिष्ट है। जो उनके यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान् करता है, उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। किन्तु जीव आदि पदार्थों के श्रद्धान् को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन कहा है किन्तु निश्चयनय से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है।^१

यहाँ हमारा ध्यान आकर्षित होता है कि “तत्त्वार्थसूत्र” के प्रणेता उमास्वाति ने “तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं” कहा, वहाँ, कुन्दकुन्दाचार्य ने सप्त तत्त्वों के साथ छः द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय एवं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धान् को सम्यग्दर्शन कहा। साथ ही यह श्रद्धान् व्यवहार नय की अपेक्षा से कहा गया है। किन्तु

१. न्यायावतारवार्तिक वृत्ति, प्रस्ता०, पृ० १०३ ॥

२. दर्शनप्राभृत-छद्द्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिदिदट्ठा ।

सद्दहइ ताण रूत्रं सो सदिदट्ठी मुण्येवो ॥ गाथा १९ ॥

जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।

ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवेइ सम्मत्तं ॥

—गाथा २० एवं समयसार गाथा २०१, २०२ ॥

निश्चय नय से उन्होंने आत्म श्रद्धान को महत्त्व दिया है। समय-सार एवं पंचास्तिकाय में भी अपने इसी मत को पुष्ट किया है। किन्तु समय सार में तो आत्मा के अलावा इन अन्य तत्त्वों के श्रद्धान का जो निश्चय नय से श्रद्धान करता है उसे भी सम्यग्दर्शन कहा है।^१

किन्तु मोक्ष प्राभृत में और नियम सार में इसने कुछ और ही रूप धारण कर लिया है। मोक्ष प्राभृत में कहा है—हिंसारहित धर्म में अट्टारह दोषों से रहित देव में और निर्धन्थ प्रवचन में श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।^२ नियमसार में इनके स्वरूप का भी कथन किया है कि—आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है तथा समस्त दोषों से रहित और समस्त गुणमय आप्त होते हैं।^३ वे अट्टारह दोष कौन-कौन से हैं जिन से रहित देव अर्थात् आप्त हैं, उनका कथन किया है कि—क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिंता, वृद्धत्व, रोग, मृत्यु, स्वेद-पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म और उद्वेग यह अट्टारह दूषण है।^४

अब आगम और तत्त्व के स्वरूप को कहते हैं कि—

उस परमात्मा के मुख से निकले हुए वचन, पूर्वापर दोष से रहित और शुद्ध होते हैं उसे आगम कहते हैं तथा उस आगम के

१. समयसार-भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च ।

आसव संवर णिज्जर बन्धो मोक्खे य सम्मत्तं ॥

—गाथा १३.१, एवं गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५६० ॥

२. हिंसारहित धर्मे अट्टारह दोस वज्जिए देवे ।

निग्गथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ मोक्ष प्राभृत गाथा ९० ॥

३. अत्तागममतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ।

ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥ नियमसार गाथा ५ ॥

४. क्षुह-तण्ह-भीरू-रोसो रागो मोहो चिंता जरा रूजा मिच्चू ।

सेदं-खेद मदो रइ विण्हिय णिद्दा जणुव्वेगो ॥

नियमसार गाथा ६ ॥

द्वारा कहे हुए पदार्थों को तत्त्वार्थ कहते हैं।^१ उपर्युक्त कथन से हमें ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने यहाँ देव, आगम अर्थात् शास्त्र या निर्ग्रन्थ प्रवचन तथा हिंसारहित धर्म के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन स्वीकार किया है। अर्थात् देव धर्म तत्त्व व आगम इन तीनों के श्रद्धान को यहाँ स्वीकार किया है। एवं साथ ही विपरीत अभिनिवेश से रहित श्रद्धान तथा चल मलिन व अगाढ़ दोषों से रहित श्रद्धान को भी सम्यक्त्व स्वीकार किया है।^२ सम्यक्त्व ही निर्वाण का प्रथम चरण तो है ही सुगति का भी कारण है। रयणसार में कहा है—नियम से सम्यक्त्व से सुगति एवं मिथ्यात्व से दुर्गति होती है। एवं जो स्वतत्त्वोपलब्धि को प्राप्त नहीं है वह सम्यक्त्वोपलब्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। सम्यक्त्वोपलब्धि बिना निर्वाण भी प्राप्त नहीं कर सकता।^३

सम्यक्त्व के माहात्म्य का कथन करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि—जैसे वृक्ष की जड़ से शाखा, पुष्प आदि परिवार वाला तथा बहुगुणी स्कन्ध उत्पन्न होता है वैसे ही श्रद्धान को जिन धर्म में मोक्ष मार्ग का मूल कहा है।^४

लोक में जीवरहित शरीर को मुर्दा कहते हैं किन्तु जो सम्यग्दर्शन से रहित है वह चलता फिरता मुर्दा है।^५

१. तस्स मुहग्गद्वयणं पुट्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।

आगमिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥

—नियमसार गाथा ८ ॥

२. नियमसार, गाथा ५१, ५२, ५३, ५४ ॥

३. रयणसार—

सम्मत्तगुणादो सुगइ मिच्छादो होइ दुग्गइ नियमा । गाथा ६६ ॥

णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि नियमेण ।

सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुदिट्ठ ॥ गाथा ९० ॥

४ जह मूलाओ खंधो साहा परिवार बहुगुणो होइ ।

तह जिणंदंसणमूलो णिदिदुट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥ द. प्रा. गाथा ११ ॥

५. जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ ।

भाव-प्राभृत, १४१ ॥

इस प्रकार अनेक उपमाओं के द्वारा सम्यग्दर्शन का माहात्म्य बताया है।

श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों के सदृश कुन्दकुन्दाचार्य ने ग्रन्थिभेद से सम्यक्त्व की उत्पत्ति, सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही सम्यग्ज्ञान, एवं दर्शन शुद्धि से ही निर्वाण, सम्यक्त्व के भेद निश्चय एवं व्यवहार, सम्यक्त्व के निःशंकादि आठ अंग, मोहनीय कर्म ही सम्यक्त्व का अवरोधक तत्त्व है, आदि का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है।

(२) षट् खण्डागम (धवला टीका)

दिगम्बर सम्प्रदाय में महाकर्मप्रकृतिप्राभृत (षट् खण्डागम) और कषाय प्राभृत ये दो ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं। इसके रचयिता आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि हैं। षट्खण्डागम के प्रारंभिक भाग सत्प्ररूपणा के प्रणेता आचार्य पुष्पदंत हैं तथा शेष समस्त ग्रन्थ के रचयिता आचार्य भूतबलि हैं। आ. पुष्पदंत और भूतबलि का समय विविध प्रमाणों के आधार पर वीर-निर्वाण के पश्चात् ६०० और ७०० वर्ष के बीच सिद्ध होता है। अर्थात् अनुमानतः विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी है। इन छः खण्डों की भाषा प्राकृत है।^१ इस पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गई हैं जिस में धवला टीका वीरसेनाचार्य की प्रसिद्ध है।

ग्रन्थकार ने चौदह मार्गणाओं का वर्णन किया है, जिस में बारहवीं सम्यक्त्व नामकी मार्गणा है।^२ अब टीकाकार उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की प्रगटता ही जिस का लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं। यहाँ शंकाकार शंका करते हैं कि इस प्रकार सम्यक्त्व का लक्षण मानने से

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४. पृ० २८-२९ ॥

२. गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजये दंसणे लेस्सा। भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि ॥ षट्खण्डागमः भाग १, पृ० १३२ ॥

असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का अभाव हो जायगा ?' इस शंका का समाधान करते हुए कहा—यह कहना शुद्ध निश्चय नय के आश्रय करने पर ही सत्य कहा जा सकता है। अथवा तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि आप्त आगम और पदार्थ को तत्त्वार्थ कहते हैं और उनके विषय में श्रद्धान अर्थात् अनु-रक्ति करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहाँ पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है तथा आप्त, आगम और पदार्थ का श्रद्धान लक्षण है।

यहाँ शंकाकार शंका करते हैं पूर्वकथित लक्षण में और इस लक्षण में विरोध क्यों न माना जाय अर्थात् इन दोनों लक्षणों में भिन्नता है। इसका समाधान करते हुए कहा कि—इस में कोई दोष नहीं है, क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध नय की अपेक्षा से ये दोनों लक्षण कहे गये हैं। पूर्वोक्त लक्षण शुद्ध नय की अपेक्षा से, तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप लक्षण अशुद्ध नय की अपेक्षा से कहे गये हैं। इसलिए इन दोनों लक्षणों के कथन में दृष्टिभेद होने के कारण कोई विरोध नहीं आता है। अथवा तत्त्वरुचि को सम्यक्त्व कहते हैं। यह लक्षण अशुद्धतर नय की अपेक्षा से जानना चाहिये।^१

यहाँ विभिन्न सम्यक्त्व के लक्षण जो कि पूर्वग्रन्थों में आ चुके हैं, उनका भी स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि इन लक्षणों में परस्पर विरोध नहीं है किन्तु शुद्ध-अशुद्ध और अशुद्धतर नय की अपेक्षा से ये लक्षण कहे गये हैं।

१. प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम् । सत्येवमसंयत-सम्यग्दृष्टिगुणस्याभावः स्यादिति चेत्सत्यमेतत् शुद्धनये समाश्रीय माणे ।

॥ वही, पृ० १५१ ॥

२. अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । अस्य गमनिकोच्यते, आप्तागम-पदार्थस्तत्त्वार्थस्तेषु श्रद्धानमनुरक्तता सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः । कथं पौरस्त्येन लक्षणेनास्य लक्षणस्य न विरोधश्चेन्नैष दोषः, शुद्धा-शुद्धनयसमाश्रयणात् । अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं अशुद्धतरनय-समाश्रयणात् । वही

अब सूत्रकर्त्ता आगे चौदह जीवसमासों का कथन करते हैं कि—
जीवसमास चौदह हैं।^१ और इन चौदह जीव समासों में
सत्प्ररूपणा में ओघ अर्थात् सामान्य की अपेक्षा से और आदेश अर्थात्
विशेष की अपेक्षा से कथन है।^२

टीकाकार जीवसमास क्या है ? उसका कथन करते हैं कि जिस
में जीव भलीप्रकार रहते हैं अर्थात् पाये जाते हैं उसे जीवसमास
कहते हैं। पुन शंका होती है कि ये जीव कहाँ रहते हैं ? तो समा-
धान किया कि ये जीव गुणों में रहते हैं। यह गुण कौन कौन से
है ? औदयिक, औपशमिक आदि।^३

दर्शनमोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम आदि अवस्थाओं के
होने पर उत्पन्न हुए जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं
उन जीवों को सर्वज्ञ देव ने उसी गुणसंज्ञावाला कहा है।^४

अब आगे ओघ अर्थात् गुणस्थान प्ररूपणा का कथन करते हैं
कि—सामान्य से गुणस्थान की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव हैं।^५ टीकाकार
इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—“मिथ्यादृष्टि जीव हैं”। यहाँ पर
मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य से एकार्थवाची नाम हैं। दृष्टि
शब्द का अर्थ दर्शन या श्रद्धान है।^६ इस से यह तात्पर्य हुआ कि

१. वही। एदेसि चेष चोदसणहं जीवसमासाणं...। ५। पृ० १५३ ॥

२. संतपरुवणदाए दुविहो णिहेसो ओघेण आदेसेण य । ८।

॥ वही, पृ० १५९ ॥

३. जीवसमास इति किम ? जीवा सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमासः ।

क्वासते ? गुणेषु । के गुणाः ? औदयिकौपशमिकादि इति गुणा ।

॥ वही टीका पृ० १६० ॥

४. जेहि दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहि भावेहि ।

जीवा ते गुण-सण्णा णिहिदुठा सव्वदरिसीहि ॥ वही पृ० १६१ ॥

५. ओघेण अत्थि मिच्छादुट्ठी । ९। वही ॥

६. मिथ्या वितथा व्यलीका असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्तविनयसंश-
याज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते मिथ्यादृष्टयः ।

॥ टीका पृ० १६२ ॥

जिन जीवों के विपरित, एकांत, विनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। अथवा मिथ्या शब्द का अर्थ वितथ और दृष्टि शब्द का अर्थ रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय है। इसलिए जिन जीवों की रुचि असत्य में होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं।^१

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का बधन करके आगे दूसरे गुणस्थान के लिए कहते हैं—सामान्य से सासादन सम्यग्दृष्टि जीव हैं।^२

सम्यक्त्व की विराधना को आसादन कहते हैं। जो इस आसादन से युक्त है उसे सासादन कहते हैं। अनन्तानुबन्धी किसी एक कषाय के उदय से जिस का सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, किंतु जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरूप परिणामों को नहीं प्राप्त हुआ है फिर भी मिथ्यात्व गुणस्थान के अभिमुख है उसे सासादन कहते हैं।^३ इस गुणस्थान के विषय में शंकाकार शंका करते हैं कि—

सासादन गुणस्थान वाला जीव मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं होने से मिथ्यादृष्टि नहीं है, समीचीन रुचि का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि भी नहीं है तथा इन दोनों को विषय करने वाली सम्यग्मिथ्यात्वरूप रुचि का अभाव होने से सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है। इनके अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं, क्योंकि समीचीन, असमीचीन और उभयरूप दृष्टि के आलम्बनभूत वस्तु के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पाई जाती नहीं है। अतः सासादन गुणस्थान असत्यरूप है।^४

१. अथवा मिथ्या वितथं, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्या-दृष्टयः ॥

२. सासणसम्माद्वी ॥ १० ॥ वही, पृ० १६३ ॥

३. आसादनं सम्यक्त्वविराधनम्, सह आसादनेन वर्तत इति सासादनो विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्तिमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते -टीका, वही ॥

४. अथ स्यान्न मिथ्यादृष्टिरयं मिथ्यात्वकर्मण उदयाभावात्, न सम्यग्दृष्टिः सम्यग्रुचेरभावात्, न सम्यग्मिथ्यादृष्टिरुभयविषयरुचेरभावात् ॥

इसका समाधान करते कहते हैं कि—ऐसा नहीं है, क्योंकि सासादन गुणस्थान में विपरित अभिप्राय रहता है, इसलिए उसे असद् दृष्टि ही समझना चाहिये ।^१

पुनः शंकाकार शंका करते हैं कि यदि ऐसा है तो इसे मिथ्या-दृष्टि ही कहना चाहिये, सासादन संज्ञा देना उचित नहीं है ?^२

इसका समाधान करते हुए कहा—नहीं। क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र का प्रतिबंध करने वाली अनंतानुबंधी कषाय के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थान में पाया जाता है, इसलिए द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किंतु मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थान में पाया जाता है, इसलिए द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है। किन्तु मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुए विपरीताभिनिवेश वहाँ नहीं पाया जाता है, इसलिए उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं, सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं ।^३

अब तीसरे गुणस्थान का कथन करते हैं कि—

सामान्य से सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव है ।^४

न च चतुर्थी दृष्टिरस्ति सम्यगसम्यग्भयदृष्ट्यालम्बनवस्तुव्यतिरिक्त-
षस्त्वनुपलम्भात् । ततोऽसन् एष गुण इति न, विपरीताभिनिवेशतो-
ऽसद्दृष्टित्वात् । पृ० १६३-६४ ॥

१. ततोऽसन् एष गुण इति न, विपरीताभिनिवेशतोऽसद्दृष्टित्वात् ।

॥ वही, पृ० १६४ ॥

२. तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वयं नास्य सासादनव्यपदेश इति चेन्न ॥ वही ॥

३. सम्यग्दर्शनचारित्र प्रतिबन्धनन्तानुबन्धुदयोत्पादित विपरीताभिनि-
वेशस्य तत्र सत्त्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनित
विपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेश, किन्तु सासा-
दन इति व्यपदिश्यते । वही ॥

४. सम्मामिच्छादृष्टी । गाथा० ११, पृ० १६६ ॥

दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय^१ये पर्यायवाची नाम हैं। जिस जीव के समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकार की दृष्टि होती है उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं।^१

यहाँ शंका होती है कि एक जीव में एक साथ सम्यक् और मिथ्यारूप दृष्टि संभव नहीं है, क्योंकि इन दोनों दृष्टियों का एक जीव में एक साथ रहने में विरोध आता है। यदि यह कहा जावे कि ये दोनों दृष्टियाँ क्रम से एक जीव में रहती हैं तो उनका सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नाम के स्वतंत्र गुणस्थानों में ही अन्तर्भाव मानना चाहिये। अतः सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामक तीसरा गुणस्थान नहीं बनता है। इसका समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं कि—युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धा वाला जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि है ऐसा मानते हैं। और ऐसा मानने में विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि आत्मा अनेक धर्मात्मक है, इसलिए उस में अनेक धर्मों का सहानवस्थान लक्षण विरोध असिद्ध है।^२

अब चौथे गुणस्थान के निरूपण के लिए कहते हैं कि—

सामान्य से असंयतसम्यग्दृष्टि जीव होते हैं^३

यहाँ टीकाकार कहते हैं कि—जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, और संयमरहित सम्यग्दृष्टि को असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकार के हैं—
क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्दृष्टि और औपशमिक सम्यग्दृष्टि।
सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र गुण का घात करनेवाली चार अनन्तानु-
बन्धि प्रकृतियाँ और मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यक् मिथ्यात्व इन तीन

१. दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत् । समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः । वही ॥

२. वही, पृ० १६६-६७ ॥

३. असंजदसम्माइद्दी । गाथा १२, पृ० १७० ॥

दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों के सर्वथा विनाश से जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहा जाता है^१ ।

पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के उपशम से जीव उपशम सम्यग्दृष्टि होता है तथा जिसकी सम्यक्त्व संज्ञा है ऐसी दर्शनमोहनीय कर्म की भेदरूप प्रकृति के उदय से जीव वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है^२

इनमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता है, किसी प्रकार के संदेह को भी नहीं करता है और मिथ्यात्वजन्य अतिशयों को देखकर विस्मय को भी प्राप्त नहीं होता है । उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी इसी प्रकार का होता है, किंतु परिणामों के निमित्त से उपशम सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व को प्राप्त करता है । कभी सासादन, कभी सम्यग्मिथ्यात्व और कभी वेदक सम्यक्त्व को भी प्राप्त कर लेता है । जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव है वह शिथिल श्रद्धानी होता है, जिस प्रकार वृद्धपुरुष अपने हाथ में लकड़ी को शिथिलतापूर्वक पकड़ता है उसी प्रकार वह भी तत्त्वार्थ के विषय में शिथिलप्राही होता है । अंतः कुहेतु और कुदृष्टांत से उसे सम्यक्त्व की विराधना करने में देर नहीं लगती^३ ।

पूर्वोक्त सूत्र में जो सम्यग्दृष्टि पद है, वह गंगा नदी के प्रवाह के समान ऊपर के समस्त गुणस्थानों में अनुवृत्ति को प्राप्त होता है ।

१. समीची दृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टि, असंयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च, असंयतसम्यग्दृष्टिः । सो वि सम्माइट्टी ति विहो, खइय वेदय उवसम सम्माइट्टी चेदि । दंसण-चरण गुण घाइ चत्तारि अणंतानुबंधि-पयडीओ, मिच्छत्तसम्मत्त सम्मामिच्छत्तमिदि तिणिण दंसणमोहपय-डीओ च एदासि सत्तण्हंणिरवसेसक्खणण खइयसम्माइट्टीं उच्चइ ।

॥ वही, पृ० १७१ ॥

२. पदासि सत्तण्हं पयडीणमुवसमेण उवसमसम्माइट्टी होइ । सम्मत्त-सणिण-दंसण-मोहणीय-भेय कम्मस्स उदएण वेदयसम्माइट्टीणाम ।

॥ वही ॥

३. वही, पृ० १७१-१७२ ॥

अर्थात् पांचवें आदि समस्त गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन पाया जाता है।^१ चौथे गुणस्थान का निरूपण कर अब आगे पांचवें के लिए कहा है— सामान्य से संयतासंयत जीव होते हैं।

जो संयत होते हुए भी असंयत होते हैं उन्हें संयतासंयत कहते हैं^२। टीकाकार इस पर हुई शंका का कथन करते हैं कि जो संयत होता है वह असंयत नहीं हो सकता है, और जो असंयत है वह संयत नहीं हो सकता है, क्योंकि संयमभाव और असंयमभाव का परस्पर विरोध है। इसलिये वह गुणस्थान नहीं बनता है। उसका समाधान करते हुए कहा कि—दो विरुद्ध धर्मों की उत्पत्ति का कारण यदि समान अर्थात् एक मान लिया जाय तो विरोध आता है परंतु संयमभाव और असंयमभाव इन दोनों को एक आत्मा में स्वीकार कर लेने पर कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि उन दोनों की उत्पत्ति के कारण भिन्न-भिन्न है। संयमभाव की उत्पत्ति का कारण त्रसहिंसा से विरति भाव है और असंयत भाव की उत्पत्ति का कारण स्थावर हिंसा से अविरतिभाव है। इसलिये संयतासंयत नामक पांचवा गुणस्थान बन जाता है।^३

अब संयतों के प्रथम गुणस्थान का निरूपण करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सामान्य से प्रमत्तसंयत जीव होते हैं। प्रकर्ष से मत्त जीवों को प्रमत्त कहते हैं और अच्छी तरह से विरत या संयम को प्राप्त जीवों को संयत कहते हैं। जो प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं उन्हें प्रमत्त संयत कहते हैं।^४

१. एदं सम्माइट्टि-वयणं उवरिम-सव्व-गुणट्टाणेसु अणुवट्टइ गंगा-णई-पवाहोव्व । पृ० १७३ ॥

२. संजदा-संजदा । ३. संयताश्च ते असंयताश्च संयता-संयताः । वही॥

३. वही, पृ० १७३-१७४ ॥

४. प्रमत्तसंजदा । १४ । प्रकर्षेण मत्ताः प्रमत्ताः, सं सम्यग् यताः विरताः संयताः । प्रमत्ताश्च ते संयताश्च प्रमत्तसंयताः । वही, पृ० १७५-१७६ ॥

इस पर टीकाकार होने वाली शंका का निर्देश करते हैं कि—यदि छट्ठे गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त है तो संयत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि प्रमत्त जीवों को अपने स्वरूप का संवेदन नहीं हो सकता है। यदि वे संयत हैं तो प्रमत्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि संयमभाव प्रमाद के परिहारस्वरूप होता है। समाधान करते हुए कहा कि—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि हिंसा, असत्य, अचौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापों से विरति भाव को संयम कहते हैं जो कि तीन गुप्ति और पांच समितियों से अनुरक्षित है। वह संयम वास्तव में प्रमाद से नष्ट नहीं किया जा सकता है।^१

पुनः शंकाकार शंका करते हैं कि—यहाँ पर सम्यग्दर्शन पद की जो अनुवृत्ति बतलाई है उस से क्या यह तात्पर्य निकलता है कि सम्यग्दर्शन के बिना भी संयम की उपलब्धि होती है ?

इसका समाधान किया कि—ऐसा नहीं है; क्योंकि आप्त, आगम और पदार्थों में जिस जीव के श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई, तथा जिस का चित्त तीन मूढ़ताओं से व्याप्त है, उसके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती।^२

पुनः इस गुणस्थान के प्रति शंका की है कि—यहाँ पर द्रव्यसंयम का ग्रहण नहीं किया है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—क्योंकि भलीप्रकार जानकर और श्रद्धान कर जो यम-सहित है उसे संयत कहते हैं। संयत शब्द की व्युत्पत्ति करने से यह जाना जाता है कि यहाँ पर द्रव्य संयम का ग्रहण नहीं किया है।^३

अब सूत्रकार क्षायोपशमिक संयमों शुद्ध संयम से उपलक्षित गुणस्थान का निरूपण करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—सामान्य से अप्रमत्त संयत जीव होते हैं।^४

१. वही, पृ० १७६ ॥

२. वही, पृ० १७७ ॥

३. वही ॥

४. अप्रमत्तसंजदा । १५ । पृ० १७८ ॥

जिन का संयम प्रमाद सहित नहीं होता है उन्हें अप्रमत्त संयत कहते हैं अर्थात् संयत होते हुए जिन जीवों के पन्द्रह प्रकार का प्रमाद नहीं पाया जाता है, उन्हें अप्रमत्त-संयत कहते हैं।^१ यहाँ भी शंकाकार की शंका का उल्लेख किया है कि—बाकी के सम्पूर्ण संयतों का इसी अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए शेष संयतगुणस्थानों का अभाव हो जायगा ? इस का टीकाकार समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि जो आगे चलकर प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरणादि विशेषणों से विशेषता अर्थात् भेद को प्राप्त नहीं होते हैं और जिन का प्रमाद नष्ट हो गया है ऐसे संयतों का ही यहाँ पर ग्रहण किया है। इसलिए आगे के समस्त संयतगुणस्थानों का इस में अन्तर्भाव नहीं होता है।^२

अब आगे चारित्रमोहनीय का उपशम करने वाले या क्षपण करने वाले गुणस्थानों में से प्रथम गुणस्थान के निरूपण के लिए आगे का सूत्र कहते हैं कि—

अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि संयतों में सामान्य से उपशमक और क्षपक ये दोनों प्रकार के जीव होते हैं।^३

जो पूर्व अर्थात् पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। इस का तात्पर्य यह है कि नाना जीवों की अपेक्षा आदि से लेकर प्रत्येक समय में क्रम से बढ़ते हुए असंख्यातलोकप्रमाण परिणाम वाले इस गुणस्थान के अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवों को छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवों के द्वारा अप्राप्य परिणाम अपूर्व कहलाते हैं। अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवों के परिणामों से भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम अर्थात् विलक्षण होते हैं। इस तरह प्रत्येक समय में होने

१. प्रमत्तसंयताः पूर्वोक्तलक्षणाः, न प्रमत्तसंयताः अप्रमत्तसंयताः पंचदश-प्रमादरहित संयता इति यावत् । वही ॥

२. वही, पृ० १७८-१७९ ॥

३. अपुण्यकरण-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १६ ॥

-पृ० १७९ ॥

वाले अपूर्व परिणामों को अपूर्वकरण कहते हैं। इस में दिये गये अपूर्व विशेषण से अधःप्रवृत्त-परिणामों का निराकरण किया है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि अधःप्रवृत्त में होने वाले परिणामों में अपूर्वता नहीं पाई जाती है।^१ टीकाकार इस पर हुई शंका निर्देश करते हैं कि- अपूर्व शब्द पहले कभी नहीं प्राप्त हुए अर्थ का वाचक है, असमान अर्थ का वाचक नहीं है, इसलिए यहाँ पर अपूर्व शब्द का अर्थ समान या विसदृश नहीं हो सकता है? इस पर समाधान किया-ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्व और समान ये दोनों शब्द एकार्थवाची हैं, इसलिये अपूर्व और असमान का एक अर्थ है। ऐसे अपूर्व परिणामों में जिन जीवों की शुद्धि प्रविष्ट हो गई है, उन्हें अपूर्वकरण प्रविष्ट-शुद्धि जीव कहते हैं।^२

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि वे अपूर्वकरणरूप परिणामों में विशुद्धि को प्राप्त करने वाले कौन होते हैं ?

इसका समाधान किया कि वे संयत ही होते हैं, अर्थात् संयतों में ही अपूर्वकरण गुणस्थान वाले जीवों का सद्भाव होता है और उन संयतों में उपशमक और क्षपक जीव होते हैं।^३

सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षपक के क्षायिक भाव होता है, क्योंकि जिसने दर्शनमोहनीय का क्षय नहीं किया वह क्षपक श्रेणी पर नहीं चढ़ सकता है और उपशमक के औपशमिक या क्षायिक भाव होता है, क्योंकि जिसने दर्शनमोहनीय का उपशम अथवा क्षय नहीं किया है, वह उपशमश्रेणी पर नहीं चढ़ सकता है।^४

इस प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थान का कथन करके अब आगे के गुणस्थान का सूत्रकार निरूपण करते हैं कि-

१ वही, पृ० १७९-१८० ॥

२. वही, पृ० १८० ॥

३. वही, पृ० १८१ ॥

४. वही, पृ० १८२-१८३ ॥

अनिवृत्ति-बादर-सांपरायिक-प्रविष्ट-शुद्धि संयतों में उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी होते हैं ।^१

समान-समयवर्ती जीवों के परिणामों की भेदरहित वृत्ति को निवृत्ति कहते हैं । अथवा निवृत्ति शब्द का अर्थ व्यावृत्ति ही है । अतएव जिन परिणामों की निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है उसे अनिवृत्ति कहते हैं ।^२

सूत्र को स्पष्ट करते हुए पुनः टीकाकार कहते हैं कि-सांपराय का अर्थ है कषाय, और बादर यानि स्थूल इस प्रकार स्थूल कषायों को बादर सांपराय कहते हैं । जो अनिवृत्ति रूप है उनको अनिवृत्ति-बादरसांपराय कहते हैं । इन परिणामों में जिन संयतों की विशुद्धि प्रविष्ट हो गई है उनको अनिवृत्तिबादरसांपरायप्रविष्टशुद्धिसंयत कहते हैं । ये उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं ।^३

यहाँ प्रश्नकर्ता प्रश्न करते हैं कि जितने परिणाम होते हैं उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं होते ? समाधान करते हुए कहा कि-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि जितने परिणाम होते हैं यदि उतने ही गुणस्थान माने जाए तो व्यवहार ही नहीं चल सकता है, इसलिए द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नियत संख्यावाले ही गुणस्थान कहे गये हैं ।^४

इस गुणस्थान में जीव मोह की कितनी ही प्रकृतियों का उपशमन करता है और कितनीक का आगे करेगा इस अपेक्षा से यह गुणस्थान औपशमिक है और कितनी ही प्रकृतियों का क्षय किया है और आगे

१. भणियट्टि-बादर-सांपराइय-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा । वही सू० । १७ ।, पृ० १८३ ॥

२. समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः । अथवा निवृत्तिर्व्यावृत्तिः, न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयः ।

-वही, पृ० १८३-१८४ ॥

३. वही, पृ० १८४ ॥

४. वही, पृ० १८४-१८५ ॥

भी करेगा इस अपेक्षा से यह क्षायिक भी है ।^१

अब इससे आगे के गुणस्थान के लिए सूत्रकार कहते हैं—सूक्ष्म-सांपराय प्रविष्ट शुद्धि संयतों में उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं ।

यहाँ सूक्ष्म कषाय को सूक्ष्मसांपराय कहते हैं, इसमें संयतों की शुद्धि भी प्रविष्ट होती है एवं उपशमक एवं क्षपक दोनों होते हैं । इस गुणस्थान में अपूर्व और अनिवृत्ति इन दोनों विशेषणों की अनुवृत्ति होती है ।^२

इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षपक श्रेणी वाला क्षायिक भाव सहित है और उपशमश्रेणीवाला औपशमिक और क्षायिक इन दोनों ही भावों से युक्त है, क्योंकि दोनों ही सम्यक्त्वों से उपशम श्रेणी का चढना सम्भव है ।^३ अब आगे का गुणस्थान कहते हैं—

“ सामान्य से उपशांतकषाय वीतराग छद्मस्थ जीव होते हैं । ”

जिनकी कषाय उपशांत हो गई हैं उन्हें उपशांत कषाय, जिनका राग नष्ट हो गया वे वीतराग कहलाते हैं । तथा छद्म ज्ञानावरण और दर्शनावरण को कहते हैं, उनमें जो रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं । इस प्रकार जो उपशांत होते हुए भी वीतराग छद्मस्थ होते हैं उन्हें उपशांत कषाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं । इससे आगे के गुणस्थानों का निराकरण समझना चाहिये ।^४

१. काश्चित्प्रकृतीरूपशमयति, काश्चिदुपरिष्ठादुपशमयिष्यति औपशमिकोऽयं गुणः । काश्चित् प्रकृतीः क्षपयति काश्चिदुपरिष्ठात् क्षपयिष्यतीति क्षायिकश्च । पृ० १८५-१८६ ॥ वही ॥

२. सुहृम-सांपराइय-पविष्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ।
-सू० १८ ॥ सूक्ष्मश्चासौ साम्परायश्च सूक्ष्मसांपरायः । तं प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां ते सूक्ष्मसाम्पराय प्रविष्ट शुद्धिसंयताः । तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च । अपूर्व इत्यनुवर्तते अनिवृत्तिरिति च ।
-पृ० १८७ ॥ वही ॥

३. वही, पृ० १८८ ॥

४. उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था । सू० १९ ॥ उपशांतः कषायो येषां त उपशांतकषायाः । धीतो विनष्टो रागो येषां ते वीतरागाः ।

इसके पश्चात् का गुणस्थान है-

“सामान्य से क्षीण-कषाय-वीतराग छद्मस्थ जीव होते हैं।”
जिनकी कषाय क्षीण हो गई है उन्हें क्षीणकषाय कहते हैं। जो क्षीण-
कषाय होते हुए वीतराग होते हैं उन्हें क्षीणकषायवीतराग कहते हैं।^१

इससे आगे का गुणस्थान है-सामान्य से सजोगीकेवली जीव
होते हैं।^२ केवल अर्थात् केवलज्ञान का यहाँ ग्रहण किया है। जिसमें
इन्द्रिय, आलोक और मन की अपेक्षा नहीं होती है उसे केवल अथवा
असहाय कहते हैं। वह जिसे होता है वह केवली है। मन वचन
और काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं जो इससे युक्त है उन्हें
सयोगी कहते हैं। इस प्रकार सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोगी
केवली कहते हैं। चारों घातिकर्मों के क्षय कर देने से, वेदनीय कर्म
के निःशक्ति कर देने से अथवा आठों ही कर्मों के अवयवरूप साठ
उत्तर-कर्म-प्रकृतियों के नष्ट कर देने से इस गुणस्थान में क्षायिक भाव
है।^३ अब सूत्रकार अंतिम गुणस्थान का कथन करते हैं कि-सामान्य
से अयोग केवली जीव होते हैं।^४

जिसके योग विद्यमान नहीं है उसे अयोग कहते हैं अर्थात् जो
योगरहित केवली होते हैं उसे अयोगकेवली कहते हैं।^५

छद्म ज्ञानदृगावरणे, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्था । पृ० १८८ ॥ वही ॥

१. क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्था । सू० २० ॥ क्षीणः कषायो येषां
ते क्षीणकषायाः । क्षीणकषायाश्चते वीतरागाश्च क्षीणकषाय वीत-
रागाः । पृ० १८९-१९० ॥ वही ॥

२ सजोगी केवली ॥ वही ॥ सू० २१, पृ० १९० ॥

३. केवलं केवलज्ञानं । केवलमसहायमिन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षम्,
तदेषामस्तीति केवलिनः । मनोवाक्कायप्रवृत्तियोंगः योगेन सह वर्तन्त
इति सयोगाः । सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनः ॥ वही ॥
-पृ० १९१ ॥

४. अजोगकेवली ॥ वही ॥ सू० २२, पृ० १९२ ॥

५. न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोगः । “अयोगश्चासौ केवली च
अयोगकेवली” ॥ वही ॥ पृ० १९२ ॥

इस प्रकार सूत्रकार ने चौदह गुणस्थानों का कथन क्रिया जिसे टीकाकार ने स्पष्ट किया है ।

अब आगे मार्गणा के एवदेशरूप गति का सद्भाव बताकर उसमें जीवसमासों के अन्वेषण के लिए सूत्रकार ने कथन क्रिया है कि- मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानों में नास्ती होते हैं ।^१

इस प्रकार यहाँ नरक गति में गुणस्थानों का कथन कर आगे कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इन पाँच गुणस्थानों में तिर्यञ्च होते हैं ।^२ पश्चात् मनुष्य गति में गुणस्थानों के अन्वेषण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं कि-

पूर्वोक्त चौदह गुणस्थानों में मनुष्य पाये जाते हैं ।^३ देवगति में गुणस्थानों के अन्वेषण करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं-

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इस प्रकार देवों के चार गुणस्थान होते हैं ।^४

चारों गतियों में गुणस्थानों का निरूपण किया गया है । टीकाकार ध्वंला टीका में उपशमन एवं क्षपण विधि का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि- उपशमन विधि में अनन्तानुबन्धी—क्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व तथा मिथ्यात्व-इन सात प्रकृतियों का असंयतसम्यग्दृष्टि से अप्रमत्तसंयत्त गुणस्थान तक इन चार गुणस्थानों में रहने वाला कोई भी जीव उपशम करने वाला होता है ।

१. णेरइया चउ-ट्टाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मा-मिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठित्ति । २५ । गाथा २०४ ॥
२. तिरिक्खा पंचसु ट्टाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मा-मिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदा-संजदात्ति । सू. २६, पृ. २०७ ॥
३. मणुस्सा चोइससु गुणट्टाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठीत्ति । सू. २७, पृ. २१० ॥
४. देवा चदुसु ट्टाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठित्ति । सू. २८, पृ. २२५ ॥

उपशमन विधि:-अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य प्रकृतिरूप से रहना अनन्तानुबन्धी का उपशम है और उदय में नहीं आना ही दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम है क्योंकि उत्कर्षण, अपकर्षण और परप्रकृतिरूप से संक्रमण को प्राप्त और उपशांत हुई उन तीन प्रकृतियों का अस्तित्व पाया जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थान में एक भी कर्म का उपशम नहीं होता है। किंतु अपूर्वकरण गुणस्थान वाला जीव प्रत्येक समय में अनन्तगुणी विशुद्धि से बढ़ता हुआ एक-एक अन्तर्मुहूर्त में एक-एक स्थिति-खण्डका घात करता हुआ संख्यात हजार स्थिति-खण्डों का घात करता है। और उतने ही स्थितिबन्धापसर्पण को करता है। तथा प्रति समय असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से प्रदेशों की निर्जरा करता है। तथा जिन अप्रशस्त प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है, उनकी कर्मवर्णणाओं को उस समय बन्धने वाली अन्य प्रकृतियों में असंख्यात गुणित श्रेणी रूप से संक्रमण कर देता है। इस प्रकार अपूर्वकरण गुणस्थान को उल्लंघन करके और अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश करके एक अन्तर्मुहूर्त पूर्वोक्त विधि करता है। तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा बारह कषाय और नौ नोकषाय इनका अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण विधि के हो जाने पर प्रथम से लेकर ऊपर अन्तर्मुहूर्त जाकर असंख्यातगुणी श्रेणी के द्वारा नपुंसक वेद से लेकर जब तक बादर संज्वलन लोभ रहता है तब तक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान वाला जीव इन पूर्वोक्त प्रकृतियों का उपशम करता है। इसके अनंतर समय में जो सूक्ष्मदृष्टिगत लोभ का अनुभव करता है वह सूक्ष्मसांपरायणगुणस्थानवर्ती होता है। तदनन्तर अपने काल के चरम समय में सम्पूर्ण लोभ का उपशम करके उपशांत-कषाय-वीतराग छद्मस्थ होता है। इस प्रकार यह मोहनीय की उपशमन विधि है।^१

उपशमन विधि का कथन करके अब क्षपण विधि को कहते हैं

कि जिनके मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति के भेद से प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध अनेक प्रकार के हो जाते हैं, ऐसे आठ कर्मों का जीव से जो अत्यंत विनाश हो जाता है उसे क्षपण कहते हैं। अनन्तानुबंधी चार कषाय और तीन मोहनीय की प्रकृतियों का असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीव नाश करता है।

इस तरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होकर जिस समय क्षपण विधि का प्रारम्भ करता है, उस समय अधःप्रवृत्तकरण को करके क्रम से अन्तर्मुहूर्त में अपूर्वकरण गुणस्थान वाला होता है। अपूर्वकरण गुणस्थान सम्बन्धी क्रिया को करके अनिवृत्ति गुणस्थान में प्रविष्ट होता है। एवं सभी कर्मप्रकृतियों का क्रमानुसार क्षय करता है। इस तरह संसार की उत्पत्ति के कारणों का विच्छेद हो जाने से इसके आगे के समय में कर्मरज से रहित निर्मल दशा को प्राप्त सिद्ध हो जाते हैं। इनमें से जो जीव कर्मक्षपण में व्यापार करते हैं उन्हें क्षपक और जो जीव कर्मों के उपशमन करने में व्यापार करते हैं उन्हें उपशमक कहते हैं।^१

अब सम्यक्त्व मार्गणा का विश्लेषण करते हैं कि सम्यक्त्वमार्गणा के अनुवाद से सामान्य की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि और विशेष की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशम सम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं।^२

यहाँ सम्यक्त्व के भेदों में सामान्य से तो एक ही एवं विशेष की अपेक्षा से छः भेदों का उल्लेख किया है। अब ये तथा प्रकार के सम्यग्दृष्टि किन-किन गुणस्थानों में होते हैं उनका कथन करते हैं—

१. वही, पृ० २१६ एवं २२५ ॥

२. सम्मत्ताणुवादेण अत्थि सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी मिच्छाइट्ठी चेदि।

-वही, सू० १५५, पृ० ३९५ ॥

सामान्य से सम्यग्दृष्टि और विशेष की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगि केवली गुणस्थान तक होते हैं ।^१

इसी प्रकार वेदक सम्यग्दृष्टि का कथन है कि—

वेदकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होते हैं ।^२

अब औपशमिक सम्यग्दर्शन के गुणस्थानों के प्रतिपादन के लिए सूत्र कहते हैं—

उपशम सम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर उपशांत-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं ।^३

अब सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि सम्बन्धी गुणस्थानों के प्रतिपादन के लिए तीन सूत्र कहते हैं—

सासादन सम्यग्दृष्टि जीव सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं ।^४

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव एक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही होते हैं ।^५

मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक मिथ्या-दृष्टि गुणस्थान में होते हैं ।^६

१. सम्माइट्टी खइयसम्माइट्टी असंजदसम्माइट्टि-प्पहुडि जाव अजोगि-केवलि त्ति । वही, सू० १४५, पृ० ३९६ ॥

२. वेदगसम्माइट्टी असंजदसम्माइट्टि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति । सू० १४६, पृ० ३९७ ॥

३. उवसमसम्माइट्टी असंजदसम्माइट्टिप्पहुडि जाव उवसंत-कसाय-वीय-राय-छदुमत्था त्ति । सू० १४७, पृ० ३९८ ॥

४. सासणसम्माइट्टी एकम्मि चय सासणसम्माइट्टि ट्ठाणे । सू० १४८, पृ० ३९८ ॥

५. सम्मामिच्छाइट्टी एकम्मि चय सम्मामिच्छाइट्टिट्ठाणे । सू० १४९, पृ० ३९९ ॥

६. मिच्छाइट्टी एइदिय-प्पहुडि जाव सण्णि-मिच्छाइट्टि त्ति । सू० १५०, पृ० ३९९ ॥

इस प्रकार “षट्खण्डागम” सूत्र में १४ गुणस्थान, सम्यग्दृष्टि के भेद तथा वे किन-किन गुणस्थानों में होते हैं उसका कथन किया है।

पंचसंग्रह जो कि अज्ञातकृतक है इसमें भी उन्हीं विषयों को ग्रंथकार ने स्पर्श किया है जिसे षट्खण्डागमकार ने किया है। सम्यक्त्व का स्वरूप, चौदह गुणस्थान आदि का विस्तृत विवेचन पंचसंग्रह में उपलब्ध होता है।

(३) कषायपाहुड (जयधवला टीका)

कषायपाहुड अथवा कषाय प्राभृत को पेज्ज-दोसपाहुड, प्रयोद्वेष-प्राभृत पेज्जदोषप्राभृत भी कहते हैं। षट्खण्डागम के ही समान कषाय-प्राभृत का उद्गमस्थान भी दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग ही है। उसके ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के पेज्जदोस नामक तीसरे प्राभृत से कषायप्राभृत की उत्पत्ति हुई है। इसी कारण कषायपाहुड को पेज्जदोस प्राभृत भी कहा जाता है^१।

कषायप्राभृत के रचयिता आचार्य गुणधर है जिन्होंने गाथासूत्रों में प्रस्तुत ग्रंथ को निबद्ध किया। इनके समय का उल्लेख करते हुए जयधवलाकारने लिखा है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष व्यतीत होने पर अंगों और पूर्वों का एकदेश आचार्य परम्परा से गुणधराचार्य को प्राप्त हुआ^२।

“कषायप्राभृत” में दर्शनमोह के उपशमन की चर्चा सम्यक्त्व नाम के १० महाअर्थाधिकार में की है। इस महाधिकार में औप-शमिक आदि तीन सम्यग्दर्शनों में से प्रथमोपशम और क्षायिक दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों की उत्पत्ति का विचार किया है। सूत्रकार कथन करते हैं कि—

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५. चतुर्थ प्रकरण, पृ० ८८ ॥

२. वही, पृ० ८९ ॥

दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करने वाला जीव चारों ही गतियों में जानना चाहिए। वह नियम से पंचेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्त होता है^१

“कर्मप्रकृति” में भी इसी बात का समर्थन किया है^२

यहाँ दर्शनमोह के उपशमन के अधिकारी की विशेषता का कथन कर आगे सूत्रकार कहते हैं कि-

दर्शनमोह का उपशमन करने वाले जीव व्याघात से रहित होते हैं और उस काल के भीतर सासादन गुणस्थान को प्राप्त नहीं होते। दर्शनमोह के उपशांत होने पर सासादन गुणस्थान की प्राप्ति भजितव्य है। किन्तु क्षीण होने पर सासादनगुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती है^३।

यहाँ उल्लेख किया है कि दर्शनमोह का उपशमक व्याघात से अर्थात् मरणादि से रहित होता है। सासादन सम्यक्त्व को वह उपशांत होने पर विकल्प से प्राप्त करता है, किन्तु उसके पूर्व व उसके पश्चात् नहीं।

अब आगे ग्रंथकार कहते हैं कि-दर्शनमोह के उपशमन का प्रस्थापक जीव साकार उपयोग में विद्यमान होता है किन्तु उसका निष्ठापक और मध्यवस्थावर्ती जीव भजितव्य है। तीनों योगों में से किसी एक योग में विद्यमान तथा तेजोलेइया के जघन्य अंश को प्राप्त वह जीव दर्शनमोह का उपशमक होता है^४।

१. दंसणमोहस्सुवसामगो तु चटुसु वि गदीसु बोद्धव्वो ।

पंचिदिओ य सण्णी णियमा सो होइ पज्जत्तो ॥

-क० पा०, गाथा ९५, पृ० २९६ ॥

२. कर्म-प्रकृति, उपशमनाकरण, गाथा ३ पृ० ६०७ ॥

३. उवसामगो च सव्वो णिव्वाघादो त्हा णिरासाणो ।

उवसन्ते भजियव्वो णीरासाणो य खीणम्मि ॥

-क० पा० गाथा ९७, पृ० ३०२ ॥

४. सागारे पटुव्वगो णिटुव्वगो मज्झिमो य भजियव्वो ।

जोगे अण्णदरम्मि य जहण्णगो तेउलेस्साए ॥

-वही, गाथा ९८, पृ० ३०४ ॥

दर्शनमोह के उपशम के योग और लेश्या का यहाँ कथन किया है ।
पुनः कथन करते हैं कि—

दर्शनमोहनीय का उपशम करने वाले जीव के मिथ्यात्व कर्म का उदय जानना चाहिए । किन्तु उपशांत अवस्था में मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं होता, तदन्तर उसका उदय भजनीय है^१ ।

कर्मप्रकृतियों के विषय में कहते हैं कि—

दर्शनमोहनीय की तीन कर्मप्रकृतियाँ सभी स्थितिविशेषों के साथ उपशांत (उदय के अयोग्य) रहती हैं तथा सभी स्थिति विशेष नियम से एक अनुभाग में अवस्थित रहते हैं^२ । अब दर्शनमोहनीय का उपशम करने वाले जीव के उस अवस्था में ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध किंनिमित्तक होता है उसके निर्धारण के लिए आगे का सूत्र है—

दर्शनमोहनीय का उपशम करने वाले जीव के नियम से मिथ्यात्वनिमित्तकबन्ध जानना चाहिये किन्तु उसके उपशांत रहते हुए मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध नहीं होता तथा उपशांत अवस्था के समाप्त होने के बाद मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध भजनीय है ।^३

तात्पर्य यह है कि दर्शनमोहनीय के उपशमन के पूर्व मिथ्यात्वबंध होता है, किन्तु उपशांत अवस्था में नहीं होता, उस अवस्था के पश्चात् होता भी है और नहीं भी होता ।

१. मिच्छन्तवेदणीयं कम्मं उवसामगस्स बोद्धव्वं ।

उवसन्ते आसाणे तेण परं होइ भजियव्वो ॥

—वही, गाथा ९९, पृ० ३०७ ॥

२. सव्वेहिं दिट्ठिविसेसेहिं उवसन्ता हांति तिण्णि कम्मंसा ।

एक्कमिह य अणुभागे णियमा सव्वे दिट्ठिविसेसा ॥

—गाथा १००, पृ० ३०९ ॥

३. मिच्छन्तपच्चयो खलुबन्धो उवसामगस्स बोद्धवो ।

उवसन्ते आसाणे तेण परं होइ भजियव्वो ॥

—गाथा १०१, पृ० ३११ ॥

अब दर्शनमोहनीय का बन्ध मिथ्यात्व के निमित्त से ही होता है, उसके बिना शेष कारणों से दर्शनमोहनीय का बन्ध नहीं होता इस का ज्ञान कराने के लिए आगे अवतरण देते हैं कि—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव दर्शनमोहनीय का अबन्धक होता है। तथा वेदकसम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि तथा उपशमसम्यग्दृष्टि और सासादन-सम्यग्दृष्टि भी दर्शन-मोहनीय का अबन्धक होता है।^१ इस गाथा में बतलाया है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव दर्शनमोहनीय का बन्ध नहीं करता। अब उसके काल का प्रमाण देते हुए कथन किया है कि—सभी दर्शनमोहनीय कर्मों का उदयभाव रूप उपशम होने से वे अन्तर्मुहूर्तकाल तक उपशांत रहते हैं। उसके बाद तीनों में से किसी एक कर्म का नियम से उदय होता है।^२

इस प्रकार सम्यक्त्व का प्रथम लाभ सर्वोपशम से ही होता है तथा विप्रकृष्ट जीव के द्वारा भी सम्यक्त्व का लाभ सर्वोपशम से ही होता है। किंतु शीघ्र ही पुनः पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव सर्वोपशम व देशोपशम से भजनीय है।^३

जीव को सर्वप्रथम उपशमसम्यक्त्व ही होता है। उसके पश्चात् पुनः जब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तब यह विकल्प से होता है। सर्वोपशम व देशोपशम के लिए “जयधवला”—टीकाकार का कथन है कि—

यदि वह वेदक प्रायोग्यकाल के भीतर ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो देशोपशम से अन्यथा सर्वोपशम से प्राप्त करता है। इस

१. सम्मामिच्छादृष्टी दंसणमोहस्सऽबंधगो होइ ।

वेदयसम्मादृष्टी खीणो वि अबंधगो होइ ॥ गाथा १०२, पृ० ३१३ ॥

२. अंतोमुहुत्तमद्दं सव्वोवसमेण होइ उवसंतो ।

तन्नो परमुदयो खलु तिण्णेक्कदरस्स कम्मस्स ॥ गाथा १०३, पृ. ३१४ ॥

३. सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमेण तह वियदुत्तेण ।

भजियव्वो य अभिक्खं सव्वोवसमेण देसेण ॥ गाथा १०४, पृ. ३१६ ॥

प्रकार वहाँ भजनीयपना है। उनमें से तीनों कर्मों के उदयाभाव का नाम सर्वोपशम है और सम्यक्त्व देशघाति प्रकृति के स्पर्धकों का उदय देशोपशम कहलाता है।^१ सम्यक्त्व के प्रथम लाभ के अनन्तर पूर्व पिछले समय में मिथ्यात्व ही होता है। अप्रथम लाभ के अनन्तर पूर्व पिछले समय में मिथ्यात्व भजनीय है।^२

सम्यक्त्व की भूमिका का निर्देश कर अब अर्थ का निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

सम्यग्दृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन का नियम से श्रद्धान करता है। तथा स्वयं न जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है।^३

“सम्यक्त्व का लक्षण पूर्वकथित श्रद्धान के साथ यहाँ असद्भूत अर्थ का भी सम्यग्दृष्टि जीव गुरुवचन को ही प्रमाण करके स्वयं नहीं जानता हुआ श्रद्धान करता है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है। इस गाथासूत्र के वचन द्वारा आज्ञा भी सम्यक्त्व का लक्षण कहा गया ऐसा ग्रहण करना चाहिये” यह टीकाकार का कथन है।^४

४. सन्मति प्रकरण (श्वेताम्बर)

सन्मति प्रकरण आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की कृति है। इनका समय लगभग चतुर्थ शताब्दी माना जाता है।

१. जइ वेदगपाओग्गकालव्भंतरे चेव सम्मत्तं पडिवज्जइ तो देसोवसमेण अण्णहा वुण सव्वोवसमेण पडिवज्जइत्ति तत्थ भयणिज्जत्तदंसणादो । तत्थ सव्वोवसमो णाम तिण्हं कम्माणमुदयाभावो सम्मतदेसवादिक्क-इयाणमुदओ देसोवसमो त्ति भण्णदे । वही, पृ० ३१६-३१७ ॥

२. सम्मत्तपढमलंभस्साणंतरं पच्छदो य मिच्छत्त । लंभस्स अपढमस्स तु भजियव्वो पच्छदो होदि ॥

-गाथा १०५, पृ० ३१७ ॥

३. सम्माइटी सहहदि पत्रयणं नियमसा तु उवइइठं ।

सहहदि असव्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा ॥ गाथा १०७, पृ. ३२१ ॥

४. एदेण आणासम्मत्तस्स लक्खणं परुविदमिदि वेत्तव्वं ॥ वही ॥

सन्मति प्रकरण में आचार्य सिद्धसेन ने तो यह निश्चित रूप से कह दिया है कि “ज्ञान दर्शनपूर्वक है परंतु दर्शन ज्ञानपूर्वक नहीं। अतः निश्चय-पूर्वक यथार्थरूप से दर्शन ज्ञान से अन्य है।”

यहाँ दर्शन और ज्ञान में भेद दिखाकर पुनः इसे स्पष्ट करते हैं कि “जिन कथित पदार्थों में भाव से श्रद्धा करने वाले पुरुष का जो अभिनिबोध रूप ज्ञान उसमें दर्शन शब्द युक्त है। सम्यग्ज्ञान में नियम से सम्यग्दर्शन है परंतु दर्शन में सम्यग्ज्ञान का होना विकल्प है। इसीलिए सम्यग्ज्ञान रूप यह सम्यग्दर्शन अर्थ बल से साबित होता है।”

साथ ही यहाँ यह भी कहा गया है कि सम्यग्दर्शन एकांत दृष्टि का नाश करता है।^१

इस प्रकार इस ग्रंथ में “सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है इस पर विशेष बल दिया है तथा इसके हो जाने पर एकांत दृष्टि का नाश होता है”।

इस प्रकार इस सूत्र में दर्शनमोहनीय के उपशमक की स्थिति एवं सम्यक्त्व के लक्षण का विचार किया गया है।

५. कर्म प्रकृति

कर्मप्रकृति के प्रणेता शिवशर्मसूरि का समय अनुमानतः विक्रम की पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। कदाचित् ये आगमोद्धारक देवद्विगण क्षमाश्रमण के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन रहे हो। संभवतः ये दशपूर्वधर भी हो। इतना तो निश्चित ही है कि ये एक प्रतिभा सम्पन्न एवं बहुश्रुत विद्वान् थे।^२ कर्मप्रकृति के अतिरिक्त प्राचीन पंचम कर्मग्रन्थ भी आपकी ही कृति मानी जाती है। कर्म प्रकृति में ४७५ गाथाएँ हैं। ये अत्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व के आधार पर संकलित की गई है।

१. सन्मतिप्रकरण, द्वितीय खण्ड, गाथा २२, पृ० ४३ ॥

२. वही, गाथा ३२-३३, पृ० ४९ ॥

३. सन्मतिप्रकरण, द्वितीय खण्ड, गाथा १६२ पृ० ९३ ॥

४. जैन सार्वाहृत्य बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० ११४ ॥

कर्मप्रकृति में सूत्रकार ने कषायपाहुड की भांति उपशमनाकरण का विवेचन किया है। उपशम की स्थिति में कर्म थोड़े समय के लिए दबे रहते हैं नष्ट नहीं होते।

उपशमनाकरण में दो प्रकार की उपशमना का उल्लेख किया है—
१. करणकृत, २. अकरणकृत।

जो करण साध्य है वह करणकृत है, उससे होने वाली करणकृत उपशमना है। वह भी दो प्रकार की है—१. सर्वोपशमना, २. देशोपशमना।^१

पुनः ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि मोहनीयकर्म की ही सर्वोपशमना होती है, शेष जो सात कर्म है उनकी देशोपशमना होती है। तथा कषाय प्राभृत के अनुसार ही यहाँ कहा है कि यह सर्वोपशमना पंचेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्त लब्धि प्राप्त जीव के अथवा उपशमलब्धि-उपदेशश्रवणलब्धि और तीन करण में हेतुभूत ऐसी उत्कृष्ट योगलब्धि युक्त जीव मोहनीयकर्म की उपशमना के योग्य होता है।^२

अब ग्रन्थकार करण का कथन करते हैं—

जीव प्रथम यथाप्रवृत्तकरण करता है तदनंतर अपूर्वकरण और उसके पश्चात् अनिवृत्तिकरण करता है। इसमें प्रत्येक करण का काल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण होता है। और सबका एकत्रित काल भी अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण ही होता है। उसके पश्चात् जीव को उपशांताद्धा प्राप्त होती है और वह भी अन्तर्मुहूर्त्तकाल प्रमाण होती है।^३

यहाँ उपशांताद्धा से तात्पर्य औपशमिक सम्यक्त्व के काल से है।^४

१. कर्म-प्रकृति, उपशमनाकरण गाथा १, करणकयाऽकरणाविय, दुविहा उवसमणा य बिइयाए, अकरण अणुइन्नाए, अनुयोगधरे पणिवयामि।
२. सध्वुवसमणा मोहस्तेव उ तस्सुवसमक्किया जोग्गो।
पंचेदिओ उ सन्नी-पज्जत्तो लद्धित्तिगजुत्तो ॥ वही, गाथा ३ ॥
३. करणं अहाप्रवत्तं, अपुव्वकरणं मनियट्टिकरणं च।
अंतोमुहुत्तियाइं, उवसंतद्धं च लहइ कमा ॥ वही, गाथा ८ ॥
४. जैन सिद्धांत बोल संग्रह, पांचवां भाग, पृ० ६० ॥

आगे ग्रन्थकार कहते हैं कि—

मिथ्यात्व के उदय का क्षय होने पर वह जीव उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है कि जिस सम्यक्त्व के लाभ से पूर्व में प्राप्त हुए ऐसे अरिहन्त देवादिक तत्त्व के श्रद्धानरूप आत्महित को प्राप्त करता है।^१

अन्य सब विवरण कषाय-प्राभृत के अनुसार किया गया है। इस प्रकार कर्म-प्रकृति में सम्यक्त्वविषयक सामग्री प्राप्त होती है।

(इ) (१) श्रीमद् हरिभद्रसूरि

हरिभद्रसूरि जैन आगमों के प्राचीन टीकाकार हैं। साथ ही इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की। हरिभद्रसूरि का जन्म वीरभूमि मेवाड़ के चित्रकूट/चित्तोड़ नगर में हुआ। प्रभावकचरित्र में वर्णित लेख के अनुसार हरिभद्र के दीक्षा-गुरु आचार्य जिनभट सिद्ध होते हैं किन्तु हरिभद्र के खुद के उल्लेखों से ऐसा फलित होता है कि जिनभट उनके गच्छपति गुरु थे; जिनदत्त दीक्षाकारी गुरु थे, याकिनी महत्तरा धर्मजननी अर्थात् धर्ममाता थी, उनका कुल विद्याधरगच्छ एवं सम्प्रदाय सिताम्बर-श्वेताम्बर था।^२

जैन परम्परा के अनुसार विक्रम संवत् ५८५ अथवा वीर संवत् १०५५ अथवा ई० सं० ५२९ में हरिभद्रसूरि का देहावसान हो गया था। इस मान्यता को हर्मन जेकोवी ने असत्य किया। इन सब प्रमाणों के आधार पर मुनि श्री जिनविजयजी इनका समय ७०० से ७७० ई० सं० अर्थात् वि० सं० ७५७ से ८२७ तक निश्चित करते हैं।^३

१. मिच्छत्तुदण खीण, लहइ सम्भन्तमोवसमियं सो ।

लभेण जस्स लभइ, आयहिय मलद्ध पुब्बं जं ॥ १८ ॥

-कर्म-प्रकृति उप० क० गाथा १८ ॥

२. जैन साहित्य बृहद् इतिहास, भाग ३, पृ० ३६१ ॥

३. वही, पृ० ३५९ ॥

कहा जाता है कि आ० हरिभद्रसूरि ने १४४४ ग्रन्थों की रचना की थी। अब हम इनकी कृतियों में सम्यक्त्व विषय के विचार व विकास का अवलोकन करेंगे—

सम्यक्त्वसप्तति—

इस ग्रन्थ में हरिभद्रसूरि ने ७० गाथा में सम्यक्त्व की विशुद्धि निमित्त सडसठ भेदों की व्याख्या की है। साथ ही सम्यक्त्व का स्वरूप “तत्त्वार्थ पर श्रद्धा” ही बताया है।^१ सम्यक्त्व का अधिकारी कौन है उसका विवेचन करते हुए कहा—मिथ्यात्व का जिसने त्याग किया है तथा जो जिन, चैत्य, साधु की पूजा से युक्त है और आठ प्रकार के आचार के भेदों को जो पालता है उसे सम्यक्त्व होता है।^२

इसके पश्चात् सम्यक्त्व की विशुद्धि निमित्तक सडसठ भेदों का कथन करते हुए कहा—

चार श्रद्धा, तीन लिंग, दस विनय, तीन शुद्धि, पंच दूषण, अष्ट प्रभावक, पंच भूषण, पंच लक्षण, छः यतना, छः आगार, छः भावना और छः स्थान इन सडसठ भेदों से विशुद्ध सम्यक्त्व होता है।^३

“संबोध प्रकरण” पंचाशक ग्रन्थ में भी श्रीमद् हरिभद्रसूरि ने इन्हीं सडसठ भेदों की प्ररूपणा की है।^४

अब आगे ग्रन्थकार इन सडसठ भेदों का विवेचन करते हैं—
चार प्रकार की श्रद्धा—१. परमार्थ संस्तव, २. परमार्थयुक्त मुनि की

१. दसणमिह सम्मत्तं, तं पुण तत्तत्थसद्दहणरुवं । सम्यक्त्वसप्तति गा. २ ॥

२. अबउज्झियमिच्छत्तो, जिणचेइयसाहुपूअणुज्जुत्तो ।

आयारमट्टभेअं, जो पालइ तस्स सम्मत्तं ॥ वही, गाथा ३ ॥

३. चउसद्दहणतिलिंगं, दसत्रिणय तिसुद्धिपंचगयदोसं ।

अट्टपभावणभूषण-लक्षण पंचविह संजुत्तं ॥

छट्ठिह जयणागारं छभावणाभावियंच छट्ठाणं ।

इह सत्तसट्ठि लक्षण भेयविसुद्धं च सम्मत्तं ॥ वही, गाथा ५-६ ॥

४. संबोध प्रकरण सम्यक्वाधिकार, गाथा ५९-६०, पृ० ३४ ॥

सेवा, ३. सम्यक्त्व से भ्रष्ट के संग का और ४. अन्य दार्शनिकों के संग का त्याग, यह चार प्रकार की श्रद्धा है।

१. परमार्थ संस्तव-

परमार्थसंस्तव से तात्पर्य यह है कि जीवादि नौ पदों को जानना वह सत्पदों के द्वारा जानना तथा जानने के पश्चात् उनका पुनः पुनः श्रवण व चिन्तन करना।^१

२. परमार्थयुक्त मुनि की सेवा--

अब दूसरा श्रद्धा का भेद कहते हैं—सुदृष्टिपरमार्थ संस्तव—जो गीतार्थ मुनि है उनकी सेवा, बहुमान, विनय के द्वारा परिशुद्ध तत्त्व का ज्ञान और उसका योग यह सम्यक्त्व को निर्मल बनाता है।^२

३. व्यापन्न दर्शन—

जिसका सम्यक्त्व नष्ट हो गया है ऐसे निह्व, अच्छंदा, पासत्था-कुप्रहा, उन्मार्ग-वेषविडम्बक का उपदेश, उनका सम्पर्क, बलात् सम्यग्दर्शन को मलिन करता है।^३

४. कुदर्शनदेशनापरिहार—

कुत्सित दृष्टि के वचन अथवा असत्य का प्रलाप करने वाले शास्त्र, मन्दमति आदि के संग को दूर से ही त्याग करना चाहिये।^४

इस प्रकार चार प्रकार की श्रद्धा का विवेचन कर अब आगे ग्रन्थकर्त्ता तीन लिंग का वर्णन करते हैं।

परमागत अर्थात् श्रेष्ठ सिद्धांत-आगम की सुश्रुषा-सेवा, धर्म

१. जीवाइपयत्थाणं, सन्तपयाईहिं सत्तहिं पएहिं ।

बुद्धान्वि पुण-पुण सवणचिन्तणं सन्थवो होई । सम्य सप्त. गाथा ९ ॥

२. गीयत्थचरितीण य, सेवा बहुमाणविणयपरिसुद्धा ।

तत्तावबोहजोगा, सम्मत्तं निम्मलं कुणइ ॥ स० सप्त०, गाथा १० ॥

३. वावन्नदेसणाणं, निण्हवहाच्छन्दकुग्गहहयाणं ।

उम्मग्गुवणसेहिं, बलावि मइलिज्जए सम्मं ॥ वही, गाथा ११ ॥

४. मोहिज्जइ मंदमई, कुदिट्ठिवयणेहिं गुविलढंढेहिं ।

दूरेण वज्जियव्वा, तेण इमे सुद्धबुद्धीहिं ॥ वही, गाथा १२ ॥

साधन करने में परम राग तथा जिनेन्द्र एवं गुरु की वैयावच्च का नियम ये सम्यक्त्व के तीन लिंग है ।^१

अब आगे ग्रन्थकार इन तीनों लिंगों का विवेचन करते हैं कि तरुण अर्थात् युवा पुरुष सुख चाहता है, रागी प्रिय रागिनियों को सुनना चाहता है और देव गन्धर्व आदि देवों के गीतों को सुनने की इच्छा करता है उससे भी अधिक परमागम श्रवण की इच्छा सम्यग्दृष्टि की होती है ।^२

२. अब दूसरा “ धर्मानुराग ” नामक लिंग कहते हैं— जिस प्रकार कोई ब्राह्मण अटवी में भूख तृषा से आक्रांत होकर घृतपूरित पक्वान्न की इच्छा करता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि सदनुष्ठान में धर्मानुराग रखता है^३ ।

३. तीसरा “ देवगुरुवैयावृत्य ” नामक लिंग कहते हैं— द्रव्य से और भाव से देव अर्थात् अरिहन्त भगवान् की और गुरु की शुश्रूषा आदि विविध प्रकार से यथाशक्ति पूजा करना यह वैयावृत्य लिंग है^४ ।

अब तीसरे विनय द्वार के विषय में कहते हैं—

अरिहंत, सिद्ध, चैत्य, श्रुत, धर्म, साधुवर्ग, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचन और दर्शन यह दस प्रकार का विनय है ।^५

इसके पदचात् दसविध विनय का विवेचन करते हैं—

१. परमागमसुस्त्रसा, अणुराओ धम्मसाहणे परमो ।
जिणगुरुवेयावच्चे, नियमो सम्मत्तलिंगाई ॥ वही, गाथा १३ ॥
२. तरुणो सुहीवियडढो, रागीपियपणइणीजुओ सोउं ।
इच्छइ जह सुरगीयं, तओऽहिया समयसुस्त्रसा ॥ वही गाथा १४ ॥
३. कंताइत्तिन्नदिओ घयपुण्णे भुत्तुमिच्छईं लुहिओ ।
जह तह सदणुट्ठाणे, अणुराओ धम्मराओत्ति ॥ वही, गाथा १५ ॥
४. पूयाइए जिणाणं, गुरूण विस्सामणाइए विविहे ।
अंगीकारो नियमो, वेयावच्चे जहासत्ती ॥ वही, गाथा १६ ॥
५. अरहंत सिद्ध चेइय सुए य धम्मो य साहुवग्गे य ।
आयरिय उवड्झाए, पवयणे देसणे विणओ ॥ वही, गाथा १७ ॥

अरिहन्त-देवादिको के पूजनीय, सिद्ध-कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त करने वाले, चैत्य-जिनप्रतिमा, श्रुत-सामायिकादि, धर्म-चारित्रधर्म, साधुवर्ग-उस चारित्रधर्म के आधारभूत, आचार्य और उपाध्याय-विशेष गुणों से युक्त, प्रवचन-चतुर्विध संघ, दर्शन-सम्यग्दर्शन की इच्छा ।'

अब चतुर्थ 'त्रिशुद्धि अधिकार कहते हैं-

मन की, वचन की और काया की शुद्धि से सम्यक्त्व की शुद्धि होती है। जिन और जिनमत बिना सकल दृग्पदार्थ के असार है यह विचारना मनशुद्धि है ।^३

वचनशुद्धि—

तीर्थकर-पद सेवन से जो नहीं हुआ, वह अन्य से भी नहीं होगा ऐसा वचन बोलना यह वचनशुद्धि है ।^३

कायशुद्धि—

छेदन किये जाने पर, भेदन किये जाने पर, पीड़ित किये जाने पर, जलाये जाने पर भी जो जिनेश्वर को वर्जकर अन्य देवों को नमस्कार नहीं करता उसके कायशुद्धि है ।^४

१. अरिहंता विहरंता, सिद्धाकम्मक्खया सिवं पत्ता ।
पट्ठिमाओ चेइयाईं, सुयंति सामाइयाईयं ॥ गाथा १८ ॥
धम्मो चरित्तधम्मो, आहारो तस्स साहुवग्गत्ति ।
आयरिय उवज्झाया, विसेसगुणसंगया तत्थ ॥ गाथा १९ ॥
पवयणमसेस संघो, दंसणमिच्छत्ति इत्थं सम्मत्तं ।
विणओ दसणहमेसि, कायव्वो होइ एवं तु ॥ गाथा २० ॥
२. मणवायाकायाणं सुद्धी सम्मत्तसोहिणी तत्थ ।
मणसुद्धी जिणजिणमयवज्जमसारं मुणइ लोयं ॥ गाथा २५ ॥
३. तित्थंकरचलणार।हणेण जं मज्झ सिज्झइ न कज्ज ।
पत्थेमि तत्थ नन्नं देवविसेसेहिं वयसुद्धी ॥ गाथा २६ ॥
४. छिज्जंतो भिज्जंतो पीलिज्जंतो यदुज्जमाणोऽपि ।
जिणवज्जदेवयाणं, न नमइ जो तस्स तणुसुद्धी ॥ वही, गाथा २७ ॥

अब चतुर्थ अधिकार में पंचदूषण का वर्णन है—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परतीर्थिप्रशंसा और परतीर्थिकसंस्तवन ये पाँच दूषण हैं, अतः इनका त्याग करना चाहिये ।^१

इन दोषों का स्वरूप पूर्वकथित है अतः इनका विश्लेषण यहाँ नहीं किया ।

अब पंचम अधिकार में अष्ट प्रभावकों का वर्णन किया गया है—सम्यग्दर्शन से युक्त विद्यमान आठ प्रभावक होते हैं, जो कि विशिष्ट हैं ऐसा सूत्र में कहा है ।^२

अब इनके आठ भेदों का निरूपण करते हैं—

१. प्रावचनिक, २. धर्मकथिक, ३. वादी, ४. नैमित्तिक, ५. तपस्वी, ६. विद्यावान्, ७. सिद्ध, ८. कवि—ये आठ प्रभावक हैं ।^३

१. प्रावचनिक—कालोचित, सूत्रधार, चतुर्विध संघ के वाहक और सूरी अर्थात् आचार्य ये प्रावचनिक है ।

२. धर्मकथिक—व्याख्यान में लब्धि होने से जो भव्य जनों को प्रतिबोधित करते हैं उनको धर्मकथिक कहा गया है ।^४

३. वादी—जो प्रमाणों में प्रवीण है, प्रतिष्ठा सम्पन्न है—लोक में ही नहीं किन्तु राजदरबार अर्थात् पण्डितजनों की सभा में भी प्रतिष्ठा सम्पन्न है उसे वादी कहा गया है ।

१. वृसिज्जइ जेहि इमं, ते दोसा पंच वज्जणिज्जा उ ।

शंका कंख त्रिगिच्छा परतित्थिपसंसंस्थवणं ॥ वही, गाथा २८ ॥

२. सम्मददंसणजुतो, सइ सामत्थे पभावगो होइ ।

सो पुण इत्थ विसिट्ठो, निहिट्ठो अट्ठहा सुत्ते । वही, गाथा ३१ ॥

३. पावयणी धम्मकही वाई नेमित्तिओ तपम्सी य ।

विज्जा सिद्धो य कवी, अट्ठेव पभावगा भणिया । वही, गाथा ३२ ॥

४. कालोचियसुत्तधरो, पावयणी तित्थवाहगो सूरी ।

पडिबोहियभव्वजणो धम्मकही कहणलद्धिल्लो ॥ वही, गाथा ३३ ॥

४. नैमित्तिक—जो निमित्तादि कार्यों में निपुण है उसे नैमित्तिक कहा है।^१
५. तपस्वी—जो जिनमत में प्ररूपित विशिष्ट तप को करता है वह तपस्वी कहलाता है।
६. विद्यावान्—जो अनेक विद्या, मन्त्र से युक्त सिद्ध हो एवं उचितज्ञ हो उसे विद्यावान् कहा गया है।^२
७. सिद्ध—जो संघ की कार्यसिद्धि के लिए चूर्ण, अंजन, योग का प्रयोग करता है एवं जगत् में प्रतिष्ठित है वह सिद्ध है।
८. कवि—जो सिद्धांत प्रणीत शास्त्र का ग्रथन करता है, जिनशासन का ज्ञाता है सुंदर काव्य रचना करता है वह कवि है।^३

इस प्रकार आठ प्रभावकों का कथन करके सप्तम भूषण अधिकार का कथन किया जाता है—

१. कौशल्य, २. तीर्थसेवन, ३ भक्ति, ४. स्थिरता और प्रभावना—ये सम्यक्त्व के पंचभूषण हैं।^४

अब इनका आगे विवेचन किया है कि—वन्दन, संवरादि क्रियाओं में निपुणता ही कौशल्य है। और जो तारने में समर्थ है ऐसे तीर्थ की सेवा तथा संविग्नजन का संसर्ग करना यह तीर्थसेवन है।^५

जिनवरेंद्र एवं साधुओं का यथोचित आदर करना भक्ति है तथा

१. वाई पमाणकुसलो, रायदुवारेऽवि लद्धमाहणो ।
नेमित्तो निमित्तं कज्जमि पडंजप निउणं ॥ वही, गाथा ३४ ॥
२. जिणमयमुवभासंतो विगिट्ठखमणेहि भणणइ तवस्सी ।
सिद्धो बहुविज्जमतो, विज्जावन्तो य उच्चियन्नू ॥ वही, गाथा ३५ ॥
३. संघाइ कज्जसाहग, चुण्णं जण जोगसिद्धओसिद्धो ।
भूयत्थ सत्थ गन्थी, जिणसासण जाणओ-सुकई ॥ वही, गाथा ३६ ॥
४. सम्मत्तभूसणाइ, कोसल्लं तित्थसेवणं भत्ती ।
थिरया पभावणाविय भावत्थं तेसि वुच्छामि ॥ गाथा ४० ॥
५. वन्दणसंवरणाई किरियानिउणत्तणं तु कोसल्लं ।
तित्थनिसेवा य सयं संविग्गजणेण संसग्गी ॥ गाथा ४१ ॥

सम्यक्त्व में दृढ़ता स्थिरता है एवं जिनशासन की नाना प्रकार के उत्सव महोत्सव करके प्रभावना करना प्रभावना है ।^१

अब अष्टम लक्षण अधिकार का कथन करते हैं—१. उपशम, २. संवेग, ३. निर्वेद, ४. अनुकंपा और आस्तिक्य—ये सम्यक्त्व के पांच लक्षण हैं ।^२

इन पांच लक्षणों का विवेचन आगे किया जा चुका है अतः यहाँ पुनरुक्ति नहीं करते ।

अब नवमें षड्विध यतना का कथन ग्रन्थकार करते हैं—

जो अन्ततीर्थियों को अन्यतीर्थियों के देवादिकों को, और जो अन्यतीर्थियों द्वारा ग्रहण किये गए चैत्यादिक के प्रति छः प्रकार का व्यवहार न करे वह छः प्रकार की यतना कहलाती है ।^३ वह छः प्रकार की यतना है—

मिथ्यादृष्टि के साथ वंदन, नमस्कार, दान, अनुप्रदान न करे तथा आलाप और संलाप न करे—यह छः प्रकार की यतना है ।^४ आगे इनका स्वरूप कहते हैं—

हाथ जोड़कर सिर नमाकर और पूजन करना यहाँ वंदन का अभिप्राय है तथा स्तवन कीर्तन आदि वचन के द्वारा परम प्रीति युक्त नमस्कार करना है ।^५

१. भती आयरकरणं जहुच्चियं जिणवग्गिदसाहूण ।

थिरया ददसम्मत्तं पभावणुस्सप्पणाकरणं ॥ गाथा ४२ ॥

२. लक्खिज्जइ सम्मत्तं हिययगयं जेहि ताइं पंचेव ।

उवसम संवेगो तह निव्वेयणुकपे अत्थिक्कं ॥ गाथा ४३ ॥

३. परत्तिथियाण तद्देवयाण तग्गहिय चेइयाणं च ।

जं छुव्विहवावारं न कुणइ सा छुव्विहा जयणा ॥ गाथा ४६ ॥

४. वंदनमंसणं वा दाणाणुपयाणमेसि वज्जई ।

आलावं संलावं पुट्टवमणालत्तगो न करे ॥ गाथा ४७ ॥

५. वंदणयं करजोडणसिरनामण पूयणं च इह नेयं ।

वायाइ नमुक्कारो नमंसणं मणपसाओ अ ॥ गाथा ४८ ॥

अशन, पान, खादिम और स्वादिम तथा शय्यादिक का दान मिथ्यादृष्टि को नहीं देना चाहिये यह तृतीय यतना है एवं वही अनेक बार देना यह अनुप्रदान चौथी यतना है ।^१

स्नेहयुक्त सम्भाषण में कुशल एवं स्वागत करना यह मिथ्यादृष्टि के साथ न करना आलाप यतना है तथा उससे सुख दुःख, गुण, दोष की पृच्छा पुनः पुनः करना यह संलाप है, इसका त्याग करना यतना है ।^२ इस प्रकार इन छः यतनाओं के पालन से सम्यक्त्व की विशुद्धि होती है ।

अब दशम आगारषट्क अधिकार कहते हैं—

सम्यग्दर्शन में अर्थात् जिनशासन में अपवाद रूप भंग के रक्षार्थ छः प्रकार के कहे गये हैं । इन अपवादों को आगार संज्ञा यहाँ दी गई है । ये छः प्रकार के हैं—

१. राजामियोग, २. गणामियोग, ३. बलामियोग, ४. देवामियोग,
५. कान्तारवृत्ति, ६. गुरुनिग्रह—ये छः आगार हैं ।^३

अब इनका ग्रन्थकार विवेचन करते हैं—

१. राजा अर्थात् जो नगर का स्वामी है वह तथा जो मनुष्यों का समुदाय है वह गण कहलाता है । पराक्रमयुक्त बलवान् है उसे बल कहते हैं । सुर अर्थात् शुद्धदेव इनके साथ वंदनादि छः यतना व्यवहार कर सकते हैं ।^४

१. गउरवपिसुणं वियरणमिट्ठासणपाणखज्जसिज्जाणं ।

तं चिय दाणं बहुसो, अणुप्पयाणं मुणी बिंति ॥ गाथा ४९ ॥

२. सप्पणयं संभासणकुसलं वो साग यं व आलावो ।

संलावो पुणुरुत्तं सुहदुहगुणदोसपुच्छाओ ॥ गाथा ५० ॥

३. आगारा अबवाया छ च्चिय कीरंति भंगरक्खट्टा ।

रायगणबलसुरकमगुरु निग्गहवित्तिंकंतारं ॥ गाथा ५१-॥

४. राया पुराइसामी, जणसमुदाओ गणो बलंबल्लिणो ।

कारंति वंदणाई कस्सवि एप तह सुरावि ॥ गाथा ५२ ॥

माता पिता भाई आदि स्वजन तथा कलाचार्यादि के साथ तथा वन में भटक जाने पर किसी के साथ अपवाद रूप से वंदनादि व्यवहार कर सकते हैं ।^१

अब एकादशम भावना षट्क द्वार के विषय में कहते हैं—यह सम्यक्त्व जो चारित्र धर्म का मूल है, यह द्वार तुल्य है, प्रतिष्ठान भूत है, निधिरूप है, आधारभूत है और पात्ररूप है इस प्रकार भाव रखना अर्थात् विचारना यह छः भावना कहलाती है ।^२

अब इनका विवेचन करते हैं—

यह सम्यक्त्व का मूल है, तत्त्वावबोध रूप इसके स्कन्ध है, यति श्रावक धर्म रूप वृक्ष है जो कि मोक्षरूपी फल को देने वाला है। धर्मनगर में प्रवेश करने के लिए यह द्वार है। व्रत रूपी पीठ पर यह प्रतिष्ठित है। मूल-गुण और उत्तरगुण रूपी अक्षय निधान यह सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व यह महाभूमि रूप आधार है। किनका ? तो कहा चारित्रप्रधान जो लोग है उनका। तथा श्रुतशील रूपी रस का यह सम्यक्त्व भाजन अर्थात् पात्र है ।^३ इस सम्यक्त्व के विषयगत यह छः भावना है ।

अब द्वादशवें अधिकार में छः स्थानों का वर्णन है—

जीवादिक पदार्थ अस्ति रूप है, नित्य है, पुण्य और पाप का

१. गुरुणो कुदिद्विभता, जणगाई मिच्छदिद्विणां जे उ ।
कंतरो ओभाई, सीयणमिह वित्तिकतारं ॥ गाथा ५३ ॥
२. भाविज्ज मूलभूयं दुवारभूयं पइट्टनिहिभूयं ।
आहारभायणमिमं सम्मत्तं चरणधम्मस्स ॥ गाथा ५५ ॥
३. देइ लहु मुखफलं, दंसणमूले दढमि धम्मदुमे ।
मुत्तं दंसणदारं न पवेसो धम्मनयरम्मि । गाथा ५६ ॥
नंदइ वयपासाओ दंसणपीढमि सुप्पइट्टुमि ।
मूलुत्तरगुणरयणाणं दंसणं अक्खयनिहाणं ॥ गाथा ५७ ॥
सम्मतमहाधरणी आहारो चरणजीवलो गस्स ।
सुयसीलमणुन्नरसो दंसणवरभायणे धरइ ॥ गाथा ५८ ॥

कर्त्ता और भोक्ता है, निश्चित रूप से मोक्ष है और उसका उपाय है यह श्रद्धा करना ये सम्यक्त्व के छः स्थान है।^१

अब इनका विवेचन करते हैं—

आत्मा अनुभवसिद्ध है, चित्तचैतन्यादि के द्वारा इसे जाना जा सकता है एवं यह ज्ञान दृष्टि द्वारा अवश्य प्रत्यक्ष होता है, इस प्रकार जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है।^२

यह आत्मा द्रव्यापेक्षया नित्य है क्योंकि यह उत्पादविनाश रहित है। पूर्वकृत कर्मानुसार पर्याय रूप होने से यह अनित्य है।^३

यह आत्मा शुभाशुभकर्मों का कर्त्ता है। ये कर्म वह कषाय और योग द्वारा करता है। कुम्भकार मृत्तिका, दण्ड, चक्र, और चीवर रूप सामग्री से घट निर्माण करता है उसी प्रकार जीव कषाय और योग से कर्म करता है।^४

यह आत्मा स्वकृत शुभाशुभकर्मों को भोक्ता है, अन्यकृतकर्म को नहीं भोगता। अन्यथा मोक्ष भी अन्यकृत और अन्ययुक्त हो जायेगा।^५

राग, द्वेष, मोह को जीतने पर, निरूपम सुखसंगत, शिव, अरूज, अक्षयपद निर्वाण की प्राप्ति होती है यह निश्चित है।^६

१. अत्थि जिओ तह निच्चो कत्ता भुत्तां यं पुण्णपावाणं ।

अत्थिधुवं निव्वाणं तस्सोवाओ यं छट्ठाणा ॥ गाथा ५९ ॥

२. आया अणुभवसिद्धो, गम्मइ तह चित्तचेयणाईहिं ।

जीवो अत्थि अवस्सं पच्चक्खो नाणदिट्ठीणं ॥ गाथा ६० ॥

३. दव्वट्टयाइ निच्चो उप्पायविणासवज्जिओ जेणं ।

पुव्वकयाणुत्तरणओ पज्जाया तस्स उ अणिच्चा ॥ गाथा ६१ ॥

४. कत्ता सुहासुहाणं कम्माण कसायजोयमाईहिं ।

मिउदंडचक्कचीवरसामगिवसा कुलालुव्व ॥ गाथा ६२ ॥

५. भुंजइ सयंकयाइं परकयभोगे अइप्पसंगो उ ।

अकयस्स नत्थि भोगो अन्नह मुक्खेऽवि सो हुज्जा ॥ गाथा ६३ ॥

६. निव्वाणमक्खयपयं निरूवमसुहसंगयं सिवं अरुयं ।

जियरागदोसमोहेहिं भासियं ता धुवं अत्थि ॥ गाथा ६४ ॥

मोक्ष का उपाय-सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र्य संपूर्ण मोक्ष साधन के उपाय हैं। इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार यत्न करना चाहिए।'

ये छः स्थान हैं।

इस प्रकार सम्यक्त्व की विशुद्धि के ६७ भेद ग्रन्थकार ने सम्यक्त्व सप्तति पंचाशक एवं संबोध प्रकरण नामक ग्रन्थ में बताये हैं। इसी के साथ सम्यक्त्व का स्वरूप, प्राप्ति, अधिकारी भेद-प्रभेद पूर्वग्रन्थानुसार स्वरचित ग्रन्थ-पंचाशक, धर्मबिंदु, श्रावक धर्म विधि प्रकरण आदि ग्रन्थों में किया है।

सम्यक्त्व की विशुद्धि के निमित्त अर्थात् सम्यक्त्व को निर्मल करने वाले इन सडसठ भेदों के साथ "सम्यक्त्व सप्तति" के टीकाकार संघतिलकाचार्य ने इन पर दृष्टांत भी दिये हैं। कथाओं के माध्यम से स्पष्टतया उस बोल को अर्थात् सम्यक्त्व के हृदय को खोला है। जैसे कि सम्यक्त्व के पांच लक्षण में प्रथम है शम। "शम" लक्षण को समझाने के लिए मेतार्थ मुनि का दृष्टांत दिया है। मेतार्थ मुनि ने जीव दया के माध्यम से हृदय में "समत्व" धारण किया। अपने ऊपर होने वाले उपसर्ग को भी सहन किया, प्राणी के रक्षणार्थ। इस प्रकार सडसठ ही भेदों के साथ अधिकांश उदाहरण टीकाकार ने दिये हैं।

प्रद्युम्नसूरि ने अपने ग्रन्थ "मूलशुद्धि" में इन्हीं भेदों में से अधिकांश भेदों का विवेचन किया है। तथा मूल-शुद्धि ग्रन्थ के टीकाकार देवचन्द्रसूरि ने उसे विस्तृत रूप दिया है। ग्रन्थकार ने स्वयं ही उदाहरणों में मात्र नामोल्लेख किया है। हालांकि यह पूरा ही ग्रन्थ "सम्यक्त्व" पर आधारित है। सम्यक्त्व के अन्य भेदों की अपेक्षा इसमें जो छः प्रकार के स्थान हैं उन पर विशेष प्रकाश डाला गया

१ सम्मत्तनाणचरणा संपुत्तो मोक्खसाहणो वाओ ।

ता इह जुत्तो जत्तो ससत्तिओ नायतत्ताणं ॥ गाथा ६५ ॥

है। अतः इसका अपरनाम “ठाणा” उचित महसूस होता है। यह ग्रन्थ अभी अपूर्ण प्रकाशित हुआ है।^१

२. उपदेशमाला

इस कृति के प्रणेता क्षमाश्रमण धर्मदासगणी है। इनके विषय में ऐसी मान्यता प्रचलित है कि ये स्वयं महावीर स्वामी के हस्तदीक्षित शिष्य थे, परंतु यह मान्यता विचारणीय है, क्योंकि इस ग्रन्थ में सत्तर के लगभग जिन कथाओं का सूचन है उनमें वज्रस्वामी का भी उल्लेख है। इसकी भाषा भी आचारांग आदि जितनी प्राचीन नहीं है।^२

सम्यक्त्व विषय पर विचार करते हुए इस ग्रन्थ में कहा है कि “सम्यक्त्व प्रदाता गुरुजनों के उपकारों का बदला चुकाना अनेक जन्मों में भी दुःशक्य है। क्योंकि अनेक भवों में भी गुरुदेव के करोड़ गुणा उपकारों से उपकृत व्यक्ति सारे गुणों द्वारा दो तीन चार गुणा प्रत्युपकार मिलाकर भी अनन्तगुणा उपकार तक नहीं पहुँच सकता।^३

यहाँ सम्यक्त्व प्रदाता गुरु के उपकार से अनृण नहीं हो सकते, उनका असीम उपकार उस आत्मा पर होता है। आगे यहाँ कथन करते हैं कि सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर उस जीव के नरक व तिर्यंच के द्वार बन्ध हो जाते हैं। देव, मनुष्य और मोक्ष संबंधी सुख उसके हस्तगत हो जाते हैं।^४

१ मूलशुद्धि प्रकरण-सं० अमृतलाल भोजक, प्रकाशक-प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, अहमदाबाद-९।

२. जैन साहित्य बृहद् इतिहास, पृ० १९३ ॥

३. सम्मत्तदायगाणं दुप्पडियारं भवेसु बहुपसु।

सध्वगुणमेलियाहिं वि उवयार सहस्स कोडीहिं ॥

-उपदेशमाला गाथा २६९ ॥

४. सम्मत्तमि उवलद्धे टइयाइं नरयतिरियदाराइं।

दिव्वाणि माणुसाणि य मोक्खसुहाईं सहीणाईं ॥

-उपदेशमाला, गाथा २५० ॥

सम्यग्दृष्टि प्रायः देव व मनुष्य आयु का बन्ध करता है यहाँ यह दृष्टिगत होता है ।

इस ग्रंथ में ग्रंथकार सम्यक्त्वपूर्वक ही सम्यग्ज्ञान होता है इसकी दृढता से पुष्टि करते हैं ।^१

जिस प्रकार वस्त्र बुनते समय ताना सफेद हो, किन्तु उसके साथ बाना अन्य वर्ण का हो तो वस्त्र की शोभा जाती रहती है उसी प्रकार सम्यक्त्व निर्मल हो किन्तु उसके साथ विषयकषाय प्रमाद के आ मिलने पर वह बिगड़ जाता है अतः सम्यक्त्व को मलिन करने वाले प्रमादादि शत्रुओं से बचना चाहिये ।^२

इस प्रकार सम्यक्त्व विचारणा प्रस्तुत की है ।

३. महापुराण

दिगम्बराचार्य जिनसेन की यह कृति है । जोकि वीरसेन स्वामी के शिष्य थे । अपने गुरु की जयधवला टीका को आपने पूर्ण किया । महापुराण भी आप पूर्ण न कर सके, उसका उत्तरपुराण उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने पूर्ण किया । जिनसेन सिद्धान्तज्ञ तो थे ही साथ ही साथ उच्चक्रोडि के कवि भी थे । शक संवत् ७७० तक अथवा ७६५ तक (इस प्रकार ई० सन् ८४८) तक जिनसेन स्वामी का अस्तित्व काल मानते हैं ।^३ अतः आपका समय ९वीं शती है ।

इसके अतिरिक्त पार्श्वार्थ्युदय नामक कृति संस्कृत साहित्य में एक कौतुकजन्य उत्कृष्ट रचना है ।

अन्य ग्रन्थों के सदृश इसमें सम्यक्त्व का विवेचन तो है किन्तु वह उपदेशात्मक भाषा में है । मुनि वज्रसंघ को उपदेश देते हुए उसे

१. वही, गाथा २७१ ॥

२. जहा मुसताणप पंडुरिमि, दुव्वन्न-रागवन्नेहि ।

बीभच्छा पडसोहा, इय सम्मतं पमाएहि ॥ वही, गाथा २७३ ॥

३. महापुराण, प्रस्तावना, पृ० ३३-३४ ॥

सम्यक्त्व धारण करने का बोध दे रहे हैं। उसका कथन करते हुए कहा है—

काललब्धि के बिना इस संसार में जीवों को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती है। जब देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरंग कारण तथा करणलब्धि रूप अंतरंग करण सामग्री की प्राप्ति होती है तभी यह भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक हो सकता है।^१

यह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य का मूल कारण है। इसके बिना ये दोनों नहीं हो सकते हैं।^२ जीवादि सात तत्त्वों का तीन मूढता रहित और आठ अंगों सहित यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग् दर्शन है।^३

अब आगे ग्रन्थकार सम्यग्दर्शन के पर्याय का कथन करते हैं—
श्रद्धा, रुचि, स्पर्श और प्रत्यय ये उसके पर्याय हैं।^४

सूत्रकार ने जो सम्यक्त्व के स्वरूप में तीन मूढता को वर्जित करने को कहा, उसका विवेचन करते हुए कहा कि—देवमूढता, लोक-मूढता और पाषण्ड मूढता इन तीन मूढताओं को छोड़ क्योंकि मूढताओं से अंधा हुआ प्राणी तत्त्वों को देखता हुआ भी नहीं देखता है।^५

१. तद्गृहाणाद्य सम्यक्त्वं तल्लभे काल एष ते ।

काल लब्ध्या विना नार्य तदुत्पत्तिरिहांगिनाम् ॥

—महापुराण, गाथा ११५ ॥

देशना काललब्ध्यादिबाह्यकारणसम्पदि ।

अन्तःकरणसामग्रयां भव्यात्मा स्याद् विशुद्धकृत् ॥

—महापुराण, गाथा ११६ ॥

२ सम्यग्दर्शनमाप्नान्तं तन्मूले ज्ञानचेष्टिते ॥ महापुराण, गाथा १२१ ॥

३. आत्मादिमुक्तिपर्यन्ततत्त्वश्रद्धानमंजसा ।

त्रिभिर्मूर्धैरनालीढम् अष्टांगं विद्धि दर्शनम् ॥ वही, गाथा १२२ ॥

४. श्रद्धारुचिस्पर्शप्रत्ययाश्चेति पर्ययाः ॥ वही, गाथा १२३ ॥

५. देवतालोकपाषण्डव्यामोहांश्च समुत्सृज ।

मोहान्धो हि जनस्तरुं पश्यन्नपि न पश्यति ॥ वही, गाथा १२४ ॥

ग्रन्थकर्त्ता ने सम्यग्दर्शन का माहात्म्य निर्देश किया है—यह सम्यग्दर्शन मोक्ष रूपी महल की पहली सीढ़ी है। नरकादिक दुर्गतियों के द्वार को रोकने वाले मजबूत किवाड़ है, धर्मरूपी वृक्ष की स्थिर जड़ है, स्वर्ग और मोक्षरूपी घर का द्वार है और शीलरूपी रत्नहार के मध्य में लगा हुआ श्रेष्ठरत्न है।^१

जिस पुरुष ने अत्यंत दुर्लभ इस सम्यग्दर्शनरूपी श्रेष्ठ रत्न को पा लिया है वह शीघ्र ही मोक्ष तक के सुख को पा लेता है।^२

जो पुरुष एक मुहूर्त्त के लिए भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है वह इस संसार रूपी बेल को काटकर बहुत ही छोटी कर देता है। अर्थात् वह अर्द्धपुद्गल परावर्तन से अधिक समय तक संसार में नहीं रहता।^३

जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन विद्यमान है वह उत्तम देव और उत्तम मनुष्य पर्याय में ही उत्पन्न होता है उसके नारकी और तिर्यचों के खोटे जन्म कभी नहीं होते।^४

जिस प्रकार शरीर के हस्त पाद आदि अंगों में मस्तक प्रधान है और मुख में नेत्रप्रधान है उसी प्रकार मोक्ष के समस्त अंगों में गणधरादि देव सम्यग्दर्शन को ही प्रधान अंग मानते हैं।^५

१. सिद्धिप्रसादसोपानं विद्धि दर्शनमग्रिमम् ।
दुर्गतिद्वारसंरोधि कवाटपुटमूर्जितम् ॥
स्थिरं धर्मतरोर्मूलं द्वारं स्वर्मांश्वेश्मन ।
शीलाभरणहारस्य तरलं तरलोपमम् ॥ वही, गाथा १३१-१३२ ॥
२. सम्यग्दर्शनसद्गतं येना सादि दुरासदम् ।
सोऽचिरान्मुक्तिपर्यन्तां सुखतातिमवाप्नुयात् ॥ वही, गाथा १३४ ॥
३. लब्धसद्दर्शनो जीवो मुहूर्त्तमपि पश्य यः ।
संसारलतिकां छित्वा कुरुते हासिनीमसौ ॥ वही, गाथा १३५ ॥
४. सुदेवत्वसुमानुष्ये जन्मनी तस्य नेतरत् ।
दुर्जन्म जायते जातु हृदि यस्यास्ति दर्शनम् ॥ वही, गाथा १३६ ॥
५. उत्तमांगमिवांगेषु नेत्रद्वयमिवानने ।
मुक्त्यंगेषु प्रधानांगम् आप्ता सद्दर्शनं विदुः ॥ वही, गाथा १३९ ॥

इस प्रकार यहाँ सम्यक्त्व के माहात्म्य का वर्णन किया है।

४. पुरुषार्थसिद्धयुपाय

इसके कर्त्ता प्रवचनसार आदि के टीकाकार दिगम्बर अमृतचंद्रसूरि हैं। इसे “जिनप्रवचनरहस्यकोश” तथा “श्रावकाचार” भी कहते हैं। इनका समय ईसा की दसवीं सदी के लगभग है।^१

ग्रन्थकार पुरुषार्थसिद्धि उपाय उसे कहते हैं जो विपरीत श्रद्धान को नष्ट कर निजस्वरूप को यथावत् जानते हैं तथा उस अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते वही पुरुषार्थसिद्धि-उपाय है।^२

यहाँ ऐसा विदित होता है कि ग्रन्थकार सम्यग्दर्शन को पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय से अभिप्रेत कर रहे हैं क्योंकि विपरीत श्रद्धान का त्याग होने पर सम्यग्दर्शन होता है।

इसमें सम्यक्त्व का स्वरूप^३ सम्यक्त्व के निःशक्ति आदि आठ अंगों^४ एवं सात तत्त्वों व अतिचारों का कथन व विवेचन किया गया है। साथ ही कहा है कि अपनी आत्मा का विनिश्चय यह सम्यग्दर्शन है तथा आत्मा का विशेष ज्ञान यह सम्यग्ज्ञान है।^५ यह सम्यग्ज्ञान कार्य है उसका सम्यग्दर्शन कारण है।^६

५. नेमिचन्द्राचार्य

गोम्मटसार आदि ग्रन्थों के कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विक्रम की ११वीं शताब्दी में विद्यमान थे। ये चामुण्डराय के समकालीन थे। चामुण्डराय गोम्मटराय भी कहलाते थे। क्योंकि उन्होंने श्रवण-

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० १५० ॥

२. पुरु०, गाथा १५, पृ० १४ ॥

३. वही, गाथा २२ ॥

४. वही, गाथा २३-३० ॥

५. पुरु० गाथा २१६, पृ० ११० ॥

६. वही, गाथा ३३

बेलगुल की प्रख्यात बाहुबली गोम्मटेश्वर की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। नेमिचन्द्र सिद्धांतशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे, अतएव वे सिद्धांतचक्रवर्ती कहलाते थे। उनकी निम्नलिखित कृतियां हैं—गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, बृहद्द्रव्यसंग्रह एवं कर्मप्रकृति। ये सब ग्रन्थ धवलादि महासिद्धांतग्रन्थों के आधार से बनाये गये हैं।^१

अब हम इनके ग्रन्थों का अवलोकन कर सम्यक्त्व विषयगत विचार इनमें देखेंगे। गोम्मटसार में कहा है कि—संसारी जीव पदार्थ को देखकर जानता है कि पीछे सात भंग वाले नयों से निश्चय कर श्रद्धान करता है इस प्रकार क्रम से दर्शन ज्ञान और सम्यक्त्व ये तीन जीव के गुण हैं।^२

इस क्रम का पुनरुल्लेख किया है—

आत्मा के सब गुणों में ज्ञान गुण पूज्य है इस कारण इसे पहले कहा है, उसके पीछे दर्शन कहा है, और उसके बाद सम्यक्त्व कहा है।^३

पूर्ववर्ती आचार्यों ने ज्ञान से पूर्व दर्शन (सम्यक्त्व) अंगीकार किया है किंतु यहाँ नेमिचन्द्राचार्य ने ज्ञान को प्राथमिकता दी। क्यों दी? इसका स्पष्टीकरण इन्होंने यहाँ नहीं किया है।

अब आगे ग्रन्थकर्त्ता आयतन का कथन करते हैं—

आयतन जो कि सम्यक्त्व प्रकृति के नोर्कर्म है वे हैं—१. जिन, २. जिनमंदिर, ३. जिनागम, ४. जिनागम के धारक, ५. तप, ६. तप के धारक और छः अनायतन—१. कुदेव, २. कुदेव का मंदिर,

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० १३३-१३४ ॥

२. अर्थ देखिये जाणदि पच्छा सहहदि सत्तभंगीहि ।

इदि दंसणं च णाणं सम्मत्तं होंति जीवगुणा ॥

—गोम्मटसार, कर्मकांड, गाथा १५ ॥

३. अठभरहिदादु पुवं णाणं तत्तो हि दंसणं होदि ।

सम्मत्तमदो विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे ॥ वही, गाथा १६ ॥

३. कुशाख, ४. कुशाख का धारक, ५. खोटी तपस्या और ६. खोटी तपस्या करने वाले; ये मिथ्यात्वप्रकृति के नोकर्म है। तथा आयतन दोनों मिले हुए सम्यग्मिथ्यात्वदर्शनमोहनीय के नोकर्म है, ऐसा निश्चय समझना।^१

इस प्रकार नोकर्म सम्यक्त्व प्रकृति व मिथ्यात्व प्रकृति व मिश्र प्रकृति का यहाँ वर्णन किया है।

यथाप्रवृत्तकरण का नामोल्लेख यहाँ अधःप्रवृत्तकरण किया है और उसका लक्षण दिया है—

जिस कारण इस पहले करण में उपर के समय के परिणाम नीचे के समयसंबंधी भावों के समान होते हैं इस कारण पहले करण का नाम अधःप्रवृत्त ऐसा अन्वर्थ कहा गया है।^२

इस प्रकार गोम्मटसार के कर्मकाण्ड में सम्यक्त्वविषयक चर्चा की है। गोम्मटसार के जीवकाण्ड में ग्रन्थकर्त्ता ने गुणस्थान के स्वरूप का वर्णन किया है। जो कि षट्खण्डागम ग्रन्थ से भिन्न एवं उदाहरण-युक्त है। जो निम्न है—

१. मिथ्यात्व—मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्यापरिणामों का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धान वाला हो जाता है। उसको जिस प्रकार पित्तज्वर से युक्त जीव को भीठा रस भी अच्छा मालूम नहीं देता उसी प्रकार उसे यथार्थ धर्म भी अच्छा मालूम नहीं होता है।^३

१. आयदणायदणं सम्मे मिच्छे य होदि णोकम्मं ।

उभयं सम्मामिच्छे णोकम्मं होदि णियमेण ॥ वही, गाथा ७५ ॥

२. जम्हा उवरिभभावा हेट्ठिमभावेहिं सरिसगा होंति ।

तम्हा पढमं करणं अधापवत्तोत्ति णिहिदटं ॥ वही, गाथा ८९८ ॥

३. मिच्छंतं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो होदि ।

ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥

—जी० का०, गाथा १७ ॥

सासादन-

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्तकाल में से जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छः आवली प्रमाणकाल शेष रहे उतने काल में अनन्तानुबन्धी कषाय में से किसी एक के भी उदय से सम्यक्त्व की विराधना होने पर सम्यग्दर्शन गुण की जो अव्यक्त तत्त्व श्रद्धानरूप परिणति होती है, उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं । सम्यक्त्वरूपी रत्न पर्वत के शिखर से गिर कर जो जीव मिथ्यात्वरूप भूमि के सम्मुख हो चुका है किंतु मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है उसे सासादन गुणस्थानवर्ती कहते हैं ।

मिश्र :

जिस प्रकार दही और गुड को परस्पर इस तरह मिलाने पर कि उनको फिर पृथक् पृथक् नहीं कर सकें उस द्रव्य के प्रत्येक परमाणु का रस मिश्ररूप होता है उसी प्रकार एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप होते हैं ।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों का षट्खण्डागम सूत्र के अनुसार, एवं सम्यक्त्व का स्वरूप, भेद-प्रभेद, अंग, दोष आदि का वर्णन गोम्भटसार में ही नहीं अन्य ग्रंथों में यथा—लब्धिसार, क्षपणासार, कर्मप्रकृति एवं प्रवचनसारोद्धार में किया है ।

(६) योगशास्त्र

यह कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि की कृति है । प्रस्तुत कृति योगोपासना के अभिलाषी कुमारपाल की अभ्यर्थना का परिणाम है ।

१. आदिम सम्मत्तद्धा समयदादो छावलित्ति वा सेसे ।

अणअणनदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ।

सम्मत्तरयणपव्वय सिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो ।

णासिय सम्मत्तो सो सासणनामो मुणेषव्वो ॥ वही, गाथा १९-२० ॥

२. दहिगुडमिव वामिस्सं पुहभावं गेण कारिदुं सक्कं ।

एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्तिणादव्वो ॥ वही, गाथा २२ ॥

शास्त्र, सद्गुरु की वाणी और स्वानुभव के आधार पर इस योगशास्त्र की रचना की गई है। इनका समय वि० सं० ११४५ है।

ग्रन्थकार के अनुसार पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार जो श्रावक के बारह व्रत हैं वे सम्यक्त्वमूलक होते हैं।^१

पूर्व में कहा जा चुका है कि विरति का मूल सम्यक्त्व है अतः यहाँ श्रावक के बारह व्रत का भी सम्यक्त्वमूलक होना बताया है।

इसके अतिरिक्त देव-गुरु-धर्म में तथाप्रकार की बुद्धि को सम्यक्त्व कहा है^२ एवं सम्यक्त्व के लक्षण,^३ पांच दूषण,^४ तथा पांच भूषणों^५ का कथन किया गया है।

(७) ज्ञानार्णव—

इसका दूसरा नाम योगार्णव है। इसमें योगीश्वरों के आचरण करने योग्य, जानने योग्य सम्पूर्ण जैन सिद्धांत का रहस्य भरा हुआ है। यह आचार्य शुभचन्द्र की रचना मानी जाती है। हालांकि ज्ञानार्णव में श्री शुभचन्द्रसूरि ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा। उनके समयदि के विषय में कहा है कि ज्ञानार्णव के कई श्लोक इष्टोपदेश की वृत्ति में दिगम्बर आशाधर ने उद्धृत किये हैं। इस आधार पर वि० सं० १२५० के आसपास इसकी रचना हुई होगी ऐसा माना जा सकता है।^६

ज्ञानार्णव में सम्यक्त्व सम्बन्धी विचार किया है, जो कि पूर्वानुसार ही है।

१. योगशास्त्र, द्वितीयप्रकाश, गाथा १, पृ० ९१ ॥

२. वही, गाथा २ ।

३. वही, गाथा १५, पृ० १०२ ।

४. वही, गाथा १६, पृ० १०५ ॥

५. वही, गाथा १७ पृ० १०७ ॥

६. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० २४८ ॥

इसमें सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए पच्चीस दोषों का परिहार लिखा है—यह सम्यग्दर्शन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप सामग्री को प्राप्त होकर तथा सम्यग्दर्शन की शक्ति के घात करने वाले पच्चीस दोषों को छोड़ने से क्वचित् प्राप्त होता है ।^१

इन पच्चीस दोषों का सूत्रकार ने तो वर्णन नहीं किया किन्तु ग्रन्थांतर से लेकर उसका उल्लेख किया है—तीन मूढ़ता, आठ मद, छः अनायतन और शंकादि आठ दोष इस प्रकार ये पच्चीस दोष-सम्यग्दर्शन के कहे हैं ।^२ श्रावक धर्म प्रदीप में भी इसका वर्णन किया है ।^३

इस प्रकार सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों का विवेचन यहाँ किया गया है ।

(ई) १—रत्नकरण्ड श्रावकाचार—

इसे समीचीन धर्मशास्त्र तथा उपासकाध्ययन भी कहा जाता है । यह श्रीमत्स्वामि समन्तभद्राचार्य विरचित है । इसके सात परिच्छेदों में से प्रथम परिच्छेद सम्यग्दर्शन पर है ।

इसमें सम्यग्दर्शन के स्वरूप का कथन किया है कि परमार्थ आप्त, परमार्थ आगम और परमार्थ तपस्वियों का जो अष्ट अंग सहित, तीन मूढ़ता रहित तथा मदविहीन श्रद्धान है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं ।^४

टीकाकार के अनुसार यहाँ श्रद्धान से अमिप्राय श्रद्धा, रुचि,

१. द्रव्यादिकमथासाद्य तज्जीवैः प्राप्यते क्वचित् ।

पंचविंशतिमुत्सृज्य दोषान्तच्छक्तिघातकम् ॥

—ज्ञानार्णव, षष्ठ सर्ग, गाथा ८ ॥

२. मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षष्ठ ।

अष्टौ शंकाद्यश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशति ॥ वही ॥

३. श्रावक धर्म प्रदीप—आचार्य कुथुसागर ॥

४. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा ४, पृ० ३२ ॥

प्रतीति, प्रत्यय (विश्वास), निश्चय, अनुराग, सादर मान्यता, गुणप्रीति, प्रतिपत्ति (सेवा, सत्कार) और भक्ति जैसे शब्दों के आशय से हैं ।^१

ग्रन्थकार ने पूर्वसूत्रानुसार आप्त, आगम का स्वरूप कथन किया है तथा सम्यग्दर्शन के अष्ट-अंगों का विवेचन भी किया है ।^२

ग्रन्थ में सम्यग्दृष्टि के विशेष कर्तव्यों का कथन करते हुए कहा गया है कि “ शुद्ध सम्यग्दृष्टियों को चाहिये कि वे (श्रद्धा तथा मूढ-दृष्टि से ही नहीं किन्तु) भय से लौकिक अनिष्ट की सम्भावना को लेकर उससे बचने के लिए-आशा से-भविष्य की किसी इच्छापूर्ति को ध्यान में रखकर-स्नेह से लौकिक प्रेम के वश होकर तथा लोभ से-धनादिक का कोई लौकिक लाभ स्पष्ट साधता हुआ देखकर भी कुदेव-कुआगम-कुलिगियों को प्रणाम तथा विनयादि रूप आदर न करे ।^३ मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन का क्या स्थान है ? उसके लिए कहा कि “ सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन उत्कृष्टता को प्राप्त है इसलिए मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन को कर्णधार कहते हैं । ”^४ सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता के लिए कथन है कि “ जिस प्रकार बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, वृद्धि और फल सम्पत्ति नहीं बन सकती उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, स्वरूप में अवस्थान, वृद्धि-उत्तरोत्तर उत्कृष्ट लाभ और यथार्थ फल सम्पत्ति-मोक्षफल की प्राप्ति नहीं हो सकती । ” साथ ही तीन काल और तीन लोक में सम्यक्त्व के समान अन्य कोई वस्तु नहीं जो श्रेय रूप हो ।^५ इसके माहात्म्य का कथन करते हुए कहा- जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं वे अव्रती होते हुए भी नरक तिर्यच गति को

१. वही, टीका, पृ० ३३ ॥

२. वही, गाथा ४-९ एवं ११-१८ ॥

३. २० क० श्रा०, गाथा ३० ॥

४ वही, गाथा ३१ ॥

५. वही, गाथा ३२ ॥

६. वही, गाथा ३४ ॥

तथा नपुंसक और स्त्री की पर्याय को प्राप्त नहीं होते और न भवान्तर में निच कुलों को, अंगों की विकलता को, अल्पायु व दरिद्रता को ही प्राप्त होते हैं।” तथा वे अोज, तेज, बल, वीर्य-यश-वृद्धि-विजय वैभव से युक्त होते हैं महाकुल-महार्थ व मानव तिलक स्वरूप होते हैं।^१ इस प्रकार यहाँ सम्यक्त्व का गुणोत्कीर्ण किया है।

(२) मूलशुद्धि

प्रद्युम्नसूरि कृत “मूल शुद्धि” का वर्णन पूर्व में कर दिया गया है। इसमें सम्यक्त्व के सदसठ भेद बताये हैं।

(३) आचारदिनकर

यह ग्रन्थ वर्धमानसूरि विरचित है। इसमें विभिन्न आचार ग्रहण करने की विधियों का उल्लेख है। इसका रचना समय वि० सं० १४६८ है।

इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने सम्यक्त्व ग्रहण करने की विधि वर्णित की है। जिस प्रकार अन्य सम्प्रदायों में गुरुमंत्र आदि दिया जाता है, उसी प्रकार यहाँ इसका विधान किया है। यह सम्यक्त्व का प्रतिज्ञा सूत्र है, जो कि गुरुमहाराज के समक्ष लिया जाता है—

“अहं भंते तुम्हाणं समीवे मिच्छत्ताओ पडिक्कमामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि, तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ दव्वओ मिच्छत्त कारणाइं पच्चक्खामि सम्मत्तकारणाइं उवसंपज्जामि नो मे कप्पेइ अज्जप्पभिई अन्नओ-तित्थिएवा अन्नउत्थिअदेवयाणि वा अन्नउत्थिअपरिग्गाहियाणि अहंतचेइआणि वंदित्तएवा नमंसित्तएवा पुट्ठिं अणालत्तेण आलवित्तएवा संलवित्तएवा तेसिं असणं वा पाण वा खाइयं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पयाउ वा खित्तओणं इहेव वा अन्नत्थ वा कालओणं जावज्जीवाए भावओणं जाव गहेणं न गहिज्जामि जावच्छलेण नच्छलिज्जामि जाव

१. वही, गाथा ३५ ॥

२. वही, गाथा ३६ ॥

सन्निवाएण नामिभविज्जामि जाव अन्नेण वा केणइ परिणामवसेण परिणामो मे न परिवड्ढइ ताव मे एअं सम्महसंणं अन्नत्थ रायाभिओगेणं बलाभिओगेणं गणाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तीकंतराएणं वोसिरामि ” ।

अर्थात् हे भगवन् ! मैं आपके सामने मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करता हूँ और सम्यक्त्व को ग्रहण करता हूँ । वह इस प्रकार है— द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, ओर भाव से, द्रव्य से मिथ्यात्व के कारणों का प्रत्याख्यान करता हूँ और सम्यक्त्व के कारणों को ग्रहण करता हूँ । मुझे आज से अन्य तीर्थिक को अथवा अन्य तीर्थिक देवता को अथवा अन्य तीर्थिकों द्वारा गृहीत अरिहन्त चैत्यों को वंदन करना नमस्कार करना नहीं कल्पता है । अन्य तीर्थिकों से पूर्व में आलाप अर्थात् बातचीत की हो, उससे बात करना, बारंबार बात करना, उनको अशन-पान-खादिम और स्वादिम देना अथवा अनुप्रदान करना, क्षेत्र से यहाँ का क्षेत्र, काल से-यावज्जीवन पर्यन्त, भाव से-जब तक ग्रह से ग्रस्त न हो जाऊँ (भूत पिशाचादि) यावत् छल से छला न जाऊँ यावत् सन्निपात से ग्रस्त न हो जाऊँ अथवा अन्य किसी भी परिणाम से मेरे परिणाम विचलित न हो जावे तब तक मेरा यह सम्यग्दर्शन है । अपवाद रूप में राजाभियोग, बलाभियोग, गणाभियोग, देवताभियोग, गुरुनिग्रह से दुष्काल अथवा वन में फँस जाने पर इन आगार से इन सबका त्याग करता हूँ ।^१

इसका उच्चारण कर पुनः कहता है कि “अरिहंतो मह देवो जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो, जिण पन्नत्तं तत्तं इय संमत्तं मए गहियं” अर्थात् अरिहंत ही मेरे देव हैं, यावज्जीवनपर्यन्त सुसाधु मेरे गुरु हैं और जिन प्ररूपित तत्त्व ही मेरा धर्म है यह सम्यक्त्व मैं ग्रहण करता हूँ” ।^२ इस प्रकार सम्यक्त्व ग्रहण विधि का उल्लेख इस ग्रन्थ में

१. आचारदिनकर, भाग १, पृ. ४६ ॥

२. वही. पृ. ४७ ॥

क्रिया है। संभवतः यही विधि आगे जाकर गुरुमंत्र रूप में प्रसिद्ध हुआ हो। यह व्यवहारपेक्षा से ही है वास्तव में सम्यक्त्व लेन-देन की वस्तु नहीं, यह तो आत्मपरिणामों के आधार से, स्वयं के पुरुषार्थ से प्राप्तव्य है। इस ग्रन्थ में सम्यक्त्व के पांच लक्षण, पांच भूषण, पांच दूषण एवं आठ दर्शनाचारों पर भी प्रकाश डाला गया है।

(४) अध्यात्म-सार

यह उपाध्याय यशोविजयजी गणि की कृति है। यह अध्यात्म-विषयक संस्कृत रचना है। इनका समय सत्रहवीं शती है।

ग्रन्थकार सम्यक्त्व के विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि “सम्यक्त्व के होने पर ही परमार्थतः (वस्तुतः) मन की शुद्धि होती है। सम्यक्त्व के बिना हुई मनःशुद्धि मोहगर्भित तथा प्रत्यपाय (गुणहानि के निरंतर संबंध वाली यानि विपरीत फलदायिनी होती है) से संबंधित होती है।”

ग्रन्थकार के अनुसार मनःशुद्धि का कारण यहाँ सम्यक्त्व माना गया है। इसी के संबंध में पुनः कहते हैं कि “दानादि समस्त क्रियाएँ सम्यक्त्वसहित हों, तभी वे शुद्ध हो सकती हैं, क्योंकि उन क्रियाओं के मोक्षरूपी फल में यह सम्यक्त्व सहकारी-सहयोगी है”।^१

जो सम्यग्दृष्टि नहीं है उसकी क्रियाएँ किस प्रकार सफल नहीं होती उसका उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

अन्धा मनुष्य चाहे जितनी क्रियाएँ (शारीरिक चेष्टाएँ) कर ले, वह अपनी जाति, धन और भोगों का भी त्याग कर दे तथा कष्टों को अपने हृदय में स्थान दे दे (यानि कितने ही दुःख सहले) तो भी वह

१. मनःशुद्धिश्च सम्यक्त्वे सत्येव परमार्थतः ।

तद्धिना मोहगर्भा सा प्रत्यपायानुबन्धिनी ॥

—अध्यात्मसार, प्रबंध ४, अधिकार १२, गाथा १ ॥

२. सम्यक्त्व सहिता एव शुद्धादानादिकाः क्रियाः ।

तासां मोक्षफले प्रोक्ता यदस्य सहकारिता ॥ वही, गाथा २ ॥

शत्रु को जीत नहीं सकता। इसी प्रकार निवृत्ति (संतोष) करता हुआ, कामभोगों का त्याग करता हुआ, और दुःख को भी हृदय में स्थान देता हुआ, मिथ्यादृष्टि सिद्ध नहीं होता।^१

इस प्रकार सम्यक्त्व से जो रहित है वह कभी सिद्ध नहीं हो सकता। सम्यक्त्व के माहात्म्य का वर्णन करते कहा कि—

आँखों में पुतली का तरह एवं पुष्प में सुगंध की तरह सभी धर्मकार्यों का सार सम्यक्त्व है।^२

इस प्रकार अध्यात्म सार में सम्यक्त्व की उत्कृष्टता का वर्णन किया गया है एवं तत्त्वश्रद्धान के साथ अहिंसामय इसका स्वरूप निर्धारित किया है। इस प्रकार की रुचि एवं सम्यक्त्व के पाँच लक्षणों का भी इसमें विवेचन किया गया है।

५. पंचाध्यायी

इस ग्रन्थ के कर्ता कवि राजमल्ल जी हैं। ये कौन थे? इनका इतिहास उपलब्ध नहीं होता। इनके द्वारा रचित, लाटी संहिता में अंत के २ श्लोकों में ये अपने आपको हेमचन्द्र के आम्नाय का मानते हैं। यह पंचाध्यायी ग्रंथ अपूर्ण है। इस ग्रन्थ के अरिचित्त अध्यात्मकमलमार्तण्ड, लाटी संहिता एवं जम्बूस्वामि चरित ये अन्य कृतियाँ भी हैं। इनका समय सत्रहवीं शती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्होंने सम्यक्त्व विषय पर विशेष रूप से विचार किया है।

१. कुर्वाणोऽपि क्रियां ज्ञाति-धन-भोगांस्त्यन्नपि ।

दुःखस्योरो ददानोऽपि नान्धो जयति वैरिणः ॥

कूर्वन्निवृत्तिमप्येवं कामभोगास्त्यजन्तपि ।

दुःखस्योरो ददानोऽपि मिथ्यादृष्टिर्न सिध्यति । वही, गा० ३-४॥

२. कनीनिकेव नेत्रस्य कुसुमस्येव सौरभम् ।

सम्यक्त्वमुच्यते सारं सर्वेषां धर्मकर्मणाम् ॥ वही, गाथा ५ ॥

ग्रन्थकर्त्ता यहाँ सम्यक्त्व के विषय में कहते हैं कि सम्यग्दर्शन सामान्य और विशेष दोनों प्रकार से निर्विकल्प है, सत्त्व रूप है और केवल आत्मा के प्रदेशों में परिणमन करने वाला है ।^१

अब तक जो पूर्वोक्त ग्रन्थों सम्यक्त्व का लक्षण श्रद्धान माना गया है यहाँ ग्रन्थकार उसके विषय में कह रहे हैं कि-सम्यग्दृष्टि आत्मा के यद्यपि श्रद्धानादि गुण होते हैं पर वे उसके बाह्य लक्षण है । सम्यक्त्व उस रूप नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान की पर्याय है तथा आत्मानुभूति भी ज्ञान ही है सम्यक्त्व नहीं । यदि उसे सम्यक्त्व माना जाय तो वह भी उसका बाह्य लक्षण है ।^२ आशय यह है कि जिस प्रकार स्वास्थ्य लाभजन्य हर्ष का ज्ञान करना कठिन है, पर वचन मन और शरीर की चेष्टाओं के उत्साह आदि गुण रूप स्थूल लक्षणों से उसका ज्ञान कर लिया जाता है उसी प्रकार अतिसूक्ष्म और निर्विकल्प सम्यग्दर्शन का ज्ञान करना कठिन है तो भी श्रद्धान आदि बाह्य लक्षणों से उसका ज्ञान कर लिया जाता है ।^३

वास्तव में सम्यग्दर्शन सूक्ष्म है और यह वचनों का अविषय है, इसलिए कोई भी जीव विधिरूप से उसके कहने और सुनने का अधिकारी नहीं है ।^४

१. सामान्यद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पम् ।

सत्त्वरूपं परिणामि प्रदेशेषु परं चितः । पंचाध्यायी, दूसरा अध्याय, गा० ३८१ ॥

२. श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।

न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ वही, गा० ३८६ ॥
अपि स्वात्मानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात् ।

अर्थात्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद् बाह्यलक्षणम् ॥ वही, गा० ३८७ ॥

३. यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।

वाङ्मनः काय चेष्टानामुत्साहादि गुणात्मकैः ॥ वही, गाथा ३८८ ॥

४. सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम् ।

तस्मात् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥

-वही, गाथा ४०० ॥

सम्यग्दर्शन का लक्षण क्या हो सकता है ? यहाँ ग्रन्थकार के अनुसार यह विषय वाचा से अगोचर है। तब शंकाकार शंका करते हैं—चूँकि सम्यग्दर्शन और स्वात्मानुभूति इनकी व्याप्ति पाई जाती है इसलिए स्वात्मानुभूति रूप से सम्यग्दर्शन कहने योग्य हो जाता है। तब यह कहा जा सकता है कि स्वात्मानुभूति ही सम्यक्त्व है।

यहाँ समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि उस स्वात्मानुभूति का शुद्ध नयरूप होना आवश्यक है। सम्यग्दर्शन और स्वात्मानुभूति इनकी विषम व्याप्ति है, क्योंकि उपयोगरूप अवस्था के रहते हुए इनकी समव्याप्ति नहीं पाई जाती। यदि पाई भी जाती है तो वह लब्धि रूप अवस्था के रहते हुए ही पाई जाती है। इसका खुलासा करते हुए कहते हैं कि—जब स्वानुभव होता है या स्वानुभव का काल होता है तब आत्मा में सम्यक्त्व अवश्य पाया जाता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना स्वानुभूति नहीं हो सकती।^१

ग्रन्थकार श्रद्धानादि को सम्यक्त्व का बाह्य लक्षण कहते हैं तो फिर सम्यक्त्व का लक्षण क्या है ? उसका कथन किया है—

सम्यग्दर्शन के जो श्रद्धान आदि गुण बतलाये हैं सो बाह्य कथन के छल से ही बतलाये हैं। वास्तव में उसका ज्ञानचेतना यही एक लक्षण है।^२

१. ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सदभावतस्तयोः ।

सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात् सा चेच्छुद्धनमात्मिका ।

—वही, गाथा ४०३ ॥

किंचास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ।

नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ॥ वही, गाथा ४०४ ॥

तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि ।

अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापितत् ॥ वही, गाथा ४०५ ॥

२. श्रद्धानादिगुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह ।

अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥ वही, गाथा ८२० ॥

आगे कहते हैं कि-सम्यग्दर्शन के विषय में ऐसी यौगिक व लौकिक रूढि है कि वह सम्यग्दर्शन निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से जो सराग और सविकल्प है वह व्यवहार सम्यक्त्व है तथा जो वीतराग और निर्विकल्प है वह निश्चयसम्यक्त्व है^१।

उनमें से जो निर्विकल्प वीतराग सम्यग्दृष्टि है उसी के ज्ञानचेतना होती है और दूसरे सरागसम्यग्दृष्टि के यह ज्ञानचेतना कभी नहीं होती। सविकल्प और सरागी व्यवहारसम्यग्दृष्टि के प्रतीतिमात्र ही होती है।^२

इस प्रकार ग्रन्थकर्त्ता ने इस ग्रन्थ में सम्यक्त्व के भेद, अंगों का पूर्वानुसार ही विवरण किया है, किन्तु विशेषता यह बतलाई है कि सम्यक्त्व का लक्षण ज्ञानचेतना है। यह चेतना का ही एक भेद बताया है।

६. लोकप्रकाश

इस ग्रन्थ के कर्त्ता महामहोपाध्याय श्री विनयविजयजी गणिवर्य हैं। इस ग्रन्थ में जैन दर्शन का सांगोपांग वर्णन किया है। सम्यक्त्व विषय पर इसमें विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इनका समय अठारहवीं शती है।

इस ग्रन्थ में सम्यग्दृष्टि किसे कहना चाहिये? उसका उल्लेख किया है कि “जो जिनेश्वर प्रभु के वचनों का अनुसरण करके (इसके विपरीत नहीं) वर्तन करता है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं।”^३

१. ननु रुद्धिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा ।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थनिश्चयाद् व्यवहारतः ॥ वही, गाथा ८२१ ॥
व्यावहारिक सम्यक्त्वं सराग सविकल्पकम् ।
निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ॥ वही, गाथा ८२२ ॥
२. तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यजिज्ज्ञानचेतना ।
सद्दृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥ वही, गाथा ८२५ ॥
व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः ।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः त्याज्ज्ञानचेतना ॥ वही, गाथा ८२६ ॥
३. लोकप्रकाश, सर्ग ३, द्वार २५, गाथा ५९७ ॥

इसके साथ इस ग्रन्थ के इस पच्चीसवें द्वार में सम्यक्त्व किस प्रकार प्राप्त होता है ? तदन्तर्गत यथाप्रवृत्तकरण आदि तीन करण, सम्यक्त्व के भेद क्रमशः एक प्रकार से, दो प्रकार से, तीन प्रकार से, चार प्रकार से पांच प्रकार से किये हैं ।^१

एक प्रकार से - जिनप्ररूपित तत्त्वों पर श्रद्धा

दो प्रकार से - नैसर्गिक और उपदेशिक अथवा नैश्चयिक और व्यावहारिक अथवा द्रव्य से और भाव से नैसर्गिक अर्थात् स्वाभाविक एवं उपदेशिक से तात्पर्य है गुरु के उपदेश से होने वाला सम्यक्त्व ।^२

आत्मा का ज्ञानादिमय शुद्ध परिणाम यह नैश्चयिक सम्यक्त्व और इसके हेतु से उत्पन्न हुआ हो वह व्यावहारिक सम्यक्त्व है^३ अमुक जिनेश्वर प्ररूपित है, इसलिए सत्य है किन्तु उसका परमार्थ नहीं जानते यह द्रव्य सम्यक्त्व है किन्तु जो परमार्थ जानता है उसका सम्यक्त्व भाव से कहलाता है । इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पौद्गलिक होने से द्रव्य सम्यक्त्व एव क्षायिक तथा औपशमिक दोनों आत्मपरिणामरूप होने से भाव सम्यक्त्व कहलाते हैं ।^४

कारक, रोचक तथा दीपक-इस प्रकार तीन प्रकार का अथवा क्षायोपशमिक औपशमिक एवं क्षायिक भेद से तीन प्रकार का सम्यक्त्व होता है ।

कारक-जिनोपदेश प्रमाणानुसार आचरण होना कारक सम्यक्त्व है । रोचक-ऐसे आचार पर सिर्फ रूचि ही होना रोचक सम्यक्त्व है तथा जो स्वयं तो मिथ्याष्टि है किन्तु अन्यो को उपदेश देकर अपना सम्यक्त्व दीपावे उसका सम्यक्त्व दीपकसम्यक्त्व है ।^५

१. वही, गाथा ६५७ ॥

२. वही, गाथा ६५८-६५९ ॥

३. वही, गाथा ६६५ ॥

४. वही, गाथा ६६६-६६७ ॥

५. वही, गाथा ६६८-६६९ ॥

क्षयोपशम आदि तीन भेदों का पूर्वोल्लेख हो चुका है। क्षयोपशम आदि तीन के साथ “सास्वादन” नामक एक और जोड़ने पर चार प्रकार का होता है। जो प्राणी उपशम सम्यक्त्व का वमन करता है तब उसे सास्वादन सम्यक्त्व हुआ कहते हैं।

उपर्युक्त चार एवं वेदक सम्यक्त्व मिलाने पर पांच प्रकार का सम्यक्त्व होता है। वेदक उसे कहते हैं—शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध। इस प्रकार इन तीन पुंजों में से दो पुंज क्षीण हो जावे और शुद्ध पुंज के परमाणुओं का वेदन करता है उस समय वेदक सम्यक्त्व कहलाता है।^१

अब इनकी स्थिति के विषय में ग्रन्थकार कहते हैं—

क्षयोपशम सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति छ्वासठ सागरोपम से कुछ अधिक एवं जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।^२ उपशम सम्यक्त्व की स्थिति उत्कृष्ट एवं जघन्य दोनों अन्तर्मुहूर्त है।

क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति मुख्यतः सादि-अनन्त है।^३ भवस्थ अवस्था में तैत्तिरीय सागरोपम से कुछ अधिक उत्कृष्ट स्थिति एवं जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।^४ सास्वादन सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति छ्वावली की है और जघन्य एक समय की है।^५

वेदक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट और जघन्य दोनों स्थिति एक-एक क्षण की है।^६

जीव को उपशम सम्यक्त्व और सास्वादन सम्यक्त्व उत्कृष्टतः पांच बार होता है, वेदक सम्यक्त्व एक ही बार होता है और क्षयोपशम सम्यक्त्व तो असंख्य बार होता है।^७ इसी के साथ इस ग्रन्थ में

१. वही, गाथा ६७३ ॥

२. वही, गाथा ६७४ ॥

३. वही, गाथा ६७५ ॥

४. वही, गाथा ६७६ ॥

५-६ वही, गाथा ६७७ ॥

७. वही, गाथा ६७८-६७९ ॥

इन सम्यक्त्व के गुणस्थानों का भी उल्लेख किया है जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। सामायिक के भेदों में प्रथम सम्यक्त्व सामायिक है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में सम्यक्त्व विषय में विशद प्रकाश डाला गया है।

(७) सम्यक्त्व—परीक्षा

इसका अपर नाम उपदेश-शतक है। यह विबुधविमलसूरी की कृति है जिसमें सम्यक्त्व-विषय सामग्री पर्याप्त उपलब्ध होती है। इनका समय १८१३ है।

इस सूत्र के प्रथम-अधिकार में सम्यक्त्व का स्वरूप तथा यथा-प्रवृत्तकरण आदि तीनों करणों का कथन किया है।^१

दूसरे अधिकार में शम संवेग आदि पांच लक्षण एवं नय-प्रमाण तथा स्याद्वाद से सुनिश्चित शंकादि पांच अतिचारों का वर्णन किया है।^२

तृतीय अधिकार में निःशंका आदि आठ अंगों का विवेचन किया गया है।^३

चतुर्थ अधिकार में सम्यक्त्व की महिमा एवं आनंद कामदेव आदि श्रावक सम्यक्त्वधारी थे उसका कथन किया गया है।^४

इस प्रकार यह पूरा ग्रन्थ सम्यक्त्व की विषय-सामग्री से परिपूर्ण है।

आगमेतर साहित्य में सम्यक्त्व के स्वरूप एवं तद्विषय गत विशेष उल्लेख प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्र से लोक प्रकाश प्रभृति हंसने अवलोकन किया कि आगम साहित्य में जहाँ इसकी स्थिति यत्र तत्र विकीर्ण दशा में उपलब्ध होती थी वहाँ आगमेतर साहित्य में इसे स्पष्ट एवं व्यवस्थित रूप दिया।

१. सम्यक्त्व परीक्षा, प्रथम अधिकार, गाथा ३-४ ॥

२. वही, द्वि० अ०, गाथा ११-१२ ॥

३. वही, तृ० अ०, गाथा २४-२७ ॥

४. वही, च० अ०, गाथा ३६, ५३, ५४, ३२, ४९, ६४, ६७ ॥

अध्याय-३

सम्यग्दर्शन के विषय में अन्य दर्शनों की विचारणा

जैन दर्शन में सम्यक्त्व को मोक्ष मार्ग की साधना की नींव, बीज और प्रथम सोपान रूप से स्वीकार किया है। इसके अभाव में मोक्ष प्राप्ति दुर्लभ कहा है। सम्यक्त्व का यहाँ विशद विवेचन किया गया है। जैन दर्शन के अतिरिक्त जैनेतर दर्शनों ने भी इसका अस्तित्व स्वीकार किया है या नहीं? अन्य धर्म-दर्शनों ने इसे सम्यग्दर्शन रूप से अभिप्रेत किया है या अन्य नाम से अथवा इस के अस्तित्व को आवश्यक माना है या नहीं? अब हम अन्य दर्शनों में इसके स्वरूप का समालोचनात्मक अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम बौद्ध धर्मदर्शन की ओर दृष्टि करेंगे। उसके पश्चात् सांख्य-योग दर्शन, न्याय-वैशेषिक दर्शन, वेदांत दर्शन का विवेचन करेंगे। उसके पश्चात् महाभारत, श्रीमद्-भगवत्गीता, भागवत का अवलोकन करके ईसाई एवं इस्लाम धर्म-दर्शन में इस विषय पर विचार करेंगे।

१. बौद्ध धर्म-दर्शन : सम्यक्त्व विचारणा

श्रमण संप्रदाय की शाखा में जैन के अतिरिक्त बौद्ध शाखा है तथा श्रमण भगवान् महावीर के समकालीन एवं निकट गौतम बुद्ध होने से प्रथम हम बौद्ध धर्म दर्शन में सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन के विचार व विकास पर दृष्टिपात् करेंगे।

जिस प्रकार जैनागमों में “आचारांग” का चतुर्थ अध्ययन “सम्यक्त्व” नामक है, उसी प्रकार बौद्ध दर्शन के मज्झिम निकाय में “सम्मदिट्ठि”-सम्यग्दृष्टि नामक नवम सुत्त है। इसमें सम्यग्दृष्टि की चर्चा की गई। जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन से युक्त अर्थात् सम्यग्दर्शन धारण करने वाले को सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। बौद्ध दर्शन में

सम्यग्दृष्टि के लिए कहा गया है कि—“वह आर्य श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है जिसकी दृष्टि सीधी होती है, धर्म में अत्यंत श्रद्धावान् होता है और इस सद्धर्म को प्राप्त होता है।”

इसके अर्थ को अधिक स्पष्ट करते हुए पुनः कहा गया कि “जो आर्य श्रावक अकुशल = बुराई और अकुशल मूल को जानता है; कुशल = भलाई, पुण्य को जानता है और कुशलमूल को जानता है वह सम्यग्दृष्टि होता है।^१ यहाँ शंका करते हैं कि अकुशल और अकुशलमूल एवं कुशल एवं कुशलमूल क्या है? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि—

प्राणातिपात, अदत्तादान, काम में मिथ्याचार, मृषावाद, पिशुन वचन, परुष वचन, संप्रलाप, अभिध्या, व्यापाद एवं मिथ्यादृष्टि को अकुशल कहा है एवं अकुशल मूल हैं—लोभ, द्वेष और मोह।

इसके विपरीत प्राणातिपात से लेकर संप्रलाप तक में विरति तथा अन्-अभिध्या, अ-व्यापाद, सम्यग्दृष्टि को कुशल कहा जाता है। अलोभ, अद्वेष और अमोह कुशलमूल है। इस प्रकार जो कुशलमूल को जानता है, वह रागानुशय का परित्याग करके, प्रतिघ (-प्रतिहिंसा) अनुशय को हटाकर, “अस्मि” अर्थात् “में हूँ” इस दृष्टिमान् अनुशय का अन्मूलन कर, अविद्या को नष्ट कर विद्या को उत्पन्न कर, इस जन्म में दुःखों का अन्त करने वाला होता है, वह सम्यग्दृष्टि होता है।^२

इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि की अन्य पर्यायों का कथन किया है कि जो दुःख है, दुःख का कारण है, दुःखों से निवृत्ति एवं दुःखों से निवृत्ति के उपायों को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है। उन पर श्रद्धा करता है। एवं आहार, जरामरण, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन नाम-रूप, विज्ञान, संस्कार, अविद्या एवं आस्रव—इन सभी को, इनके

१. मज्झिमनिकाय, १-१-९।

२. म० नि०, वही ॥

कारणों को; इनसे निवृत्ति एवं निवृत्ति के उपाय के मार्गों को जानता एवं श्रद्धा करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है। ये सभी एक दूसरे से संबंधित हैं यथा—जरामरण का कारण तृष्णा है और तृष्णा क्षय से जरामरण की निवृत्ति होती है। किंतु दुःखनिवृत्ति आदि के उपाय का मार्ग आर्य अष्टांगिक मार्ग है।

आचारांग का सम्यक्त्व एवं मज्झिम निकाय की सम्यग्दृष्टि में बहुत कुछ साम्य है। विरति को धारण करने वाला भिक्षु या मुनि ही इसका धारक होता है। दोनों ने इसको मान्य किया है।

मज्झिम निकाय में कहा है कि “उपासक की साधना से निर्वाण और आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति संभव नहीं है, उपासक को सुगति ही प्राप्त हो सकती है। भिक्षु ही आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिकर सकता है। भगवान् बुद्ध ने स्पष्टतया कहा है कि ऐसा कोई मनुष्य मेरे ख्याल में नहीं है कि जिसने गृहस्थ जीवन में रहकर आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति की हो।”

इससे स्पष्ट प्रतीति होती है कि बुद्ध उपासकों की साधना को अपूर्ण समझते थे।

इस प्रकार बौद्ध परम्परा में सम्यग्दर्शन का अर्थ साम्य बहुत कुछ सम्यग्दृष्टि से है। सम्यग्दृष्टि का अर्थ दुःख, दुःख के कारण, दुःख निवृत्ति और दुःख विमुक्ति का मार्ग—इन चार आर्य सत्त्यों की स्वीकृति है। जिस प्रकार जैन दर्शन में वह चार आर्य सत्त्यों का श्रद्धान है।^१

चार आर्य सत्त्यों के श्रद्धान के साथ सम्यग्दृष्टि की व्याख्या संयुक्त निकाय में वर्णित है—यह संसार तृष्णा, आसक्ति और ममत्व के मोह में बेतरह जकड़ा है। आर्य श्रावक उस तृष्णा, आसक्ति, ममत्व

१. तेविज्जवच्छगोत्तसुत्त, म० नि० ॥

२. पञ्चयसुत्त, संयुक्त निकाय १२-३-७; विशुद्धिमार्ग, भाग-२, परि० १६, पृ० १२१ ॥

और मोह में नहीं पड़ता है। आत्मभाव से उसमें नहीं बंधता है। जो उत्पन्न होता है, दुःख ही उत्पन्न होता है जो रुक जाता है वह दुःख ही रुक जाता है। न मन में कोई कांक्षा रखता है और न कोई संशय। उसे अपने भीतर ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, इसी को सम्यग्दृष्टि कहते हैं।^१ यहां भिक्षुको ही आर्य श्रावक कह कर संबोधित किया गया है एवं सम्यग्दृष्टि में भेद ज्ञान के साथ गहन श्रद्धा का होना बताया है और शंका एवं कांक्षा का लवलेश भी न होने का निर्देश किया है। साथ ही इसी सुक्त में अन्यत्र यह भी उल्लेख किया है कि “बुद्ध धर्म और संघ में श्रद्धा रखने से दुःखों का अंत होता है।”^२

जिस प्रकार जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन का अर्थ देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा अथवा निष्ठा माना गया है उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में श्रद्धा का अर्थ बुद्ध संघ और धर्म के प्रति निष्ठा है। जैन दर्शन में देव के रूप में अरिहंत को साधना का आदर्श माना गया है, वहाँ बौद्ध दर्शन में साधना के आदर्श के रूप में बुद्ध व बुद्धत्व मान्य है। साधना मार्ग में दोनों ही परम्परा धर्म के प्रति निष्ठा तो आवश्यक मानते हैं एवं जैन दर्शन साधना के पथ-प्रदर्शक के रूप में गुरु को स्वीकार करता है तो बौद्ध दर्शन संघ को स्वीकार करता है।

“विशुद्धिमार्ग” में सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया है कि नाना प्रकार के प्रत्यय के परिग्रह से तीनों कालों में कांक्षा (संदेह, शंका) को मिटाकर प्राप्त हुआ ज्ञान कांक्षा वितरण विशुद्धि है। धर्मस्थिति ज्ञान, यथाभूत ज्ञान और सम्यग्दर्शन इसी का नाम है। जो यथार्थ जानता देखता है उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है।”^३

१. कच्चानगोत्त सुत्त, सं० नि० हि०, १२-२-५, पृ० २००-२०१ ॥

२. सं० नि० ९-११, पृ० १६२ ॥

३. विशुद्धिमार्ग, भाग-२, हिन्दी परि० १९, पृ० २०७ ॥

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन के दृष्टिकोणपरक व श्रद्धापरक ऐसे दो अर्थ स्वीकृत रहे हैं उसी प्रकार उपर्युक्त कथन बौद्ध दर्शन में भी ये दो अर्थ सूचित करता है ।

बौद्ध परम्परा में सम्यग्दर्शन के समानार्थी सम्यग्दृष्टि, श्रद्धा सम्यग्समाधि एवं चित्त शब्द मिलते हैं । बुद्ध ने अपने त्रिविध साधना मार्ग में कहीं शील, समाधि और प्रज्ञा, कहीं शील, चित्त, प्रज्ञा और कहीं शील, श्रद्धा और प्रज्ञा का विवेचन किया है । बौद्ध परम्परा में समाधि, चित्त और श्रद्धा का प्रयोग सामान्यतया एक ही अर्थ में हुआ है । वस्तुतः श्रद्धा चित्त विकल्प की शून्यता की ओर ले जाती है । श्रद्धा के उत्पन्न होने पर विकल्प समाप्त हो जाते हैं दृढ़ आस्था के कारण । उसी प्रकार समाधि की अवस्था में भी चित्त-विकल्पों की शून्यता होती है, अतः दोनों को एक ही माना जा सकता है । श्रद्धा और समाधि दोनों ही चित्त की अवस्थाएँ हैं, अतः चित्त का भी उसके स्थान पर प्रयोग किया गया है । चित्त की एकाग्रता समाधि और उसी की भावपूर्ण अवस्था श्रद्धा है । अतः चित्त, समाधि और श्रद्धा एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं । यद्यपि अपेक्षा-भेद से इनके अर्थों में भिन्नता भी है । श्रद्धा बुद्ध, संघ और धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा है तो समाधि चित्त की शांत अवस्था है ।

यदि हम सम्यग्दर्शन को तत्त्वदृष्टि या तत्त्वश्रद्धान से भिन्न श्रद्धापरक अर्थ में लेते हैं तो बौद्ध परम्परा में उसकी तुलना श्रद्धा से की जा सकती है । इसमें पांच इन्द्रियों में अर्थात् श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा में प्रथम इन्द्रिय है ।^१ ये पांच इन्द्रियाँ आध्यात्मिक विकास की मुख्य शक्तियाँ हैं ।^२ ऐसा वार्डन ने कहा है । जैन दर्शन में इन पांच शक्तियों को क्रमशः सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषय और अयोग से अभिप्रेत किया है । दर्शन यह श्रद्धा है, विरति ही वीर्य है, स्मृति

१. जागर सुत्त, सं० नि०, १-१-६ ॥

2 Indian Buddhism, A. K. Warder P. 89-93 ॥

अप्रमाद को सूचित करती है। अकषाय की अवस्था समाधि की अवस्था है क्योंकि जब चित्त कषायों से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर होता है तब उसे समाधि सम्पन्न चित्त कहा जाता है। अयोग को प्रज्ञा कह सकते हैं। क्योंकि प्रज्ञा अयोग का कारण है अतः।

श्रद्धा को पांच बलों में प्रथम बल बौद्ध परम्परा में स्वीकार किया है। पांच बल है—श्रद्धाबल, वीर्यबल, स्मृतिबल, समाधिबल और प्रज्ञाबल। पांच इन्द्रियों के सदृश ही पांच बल है किन्तु इन्द्रिय और बल में भेद यह है कि इन्द्रिय तो क्रियाशील होती है और बल इन्द्रिय की क्रिया का परिणाम होकर स्थिर या सिद्ध होता है। इन्द्रिय ही बल के रूप में परिणमन करती है।

आध्यात्मिक विकास की बौद्ध परम्परा में चार भूमिकाएं मानी गई हैं। विकासक्रम की चार अवस्थाएं ये हैं—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्।^१

१. स्रोतापन्न का अर्थ है—“प्रवाहित होने वाला”। यह प्रवाह निर्वाणगामी होता है। स्रोतापन्न को बुद्ध, धर्म और संघ में अविचल श्रद्धा होती है। शील सम्पन्न होता है। निर्वाण होने में उसके अधिक से अधिक ७ भव शेष होते हैं।

२. सकृदागामी—इससे अभिप्राय है केवल एक बार जन्म लेने वाला। इस अवस्था में आस्रव-क्षय करने का प्रबल प्रयत्न होता है। क्लेश जैसे जैसे क्षीण होते जाते हैं वैसे वैसे प्रज्ञाप्रकाश प्रसरता जाता है।

३. अनागामी—अनागामी से तात्पर्य है पुनः जन्म न लेने वाला। इस अवस्था में वह कर्म का पूर्ण क्षय करता है, वह इहलोक में जन्म नहीं लेता वरन् ब्रह्मलोक में जन्म लेकर निर्वाण प्राप्त करता है।

१. महापरिनिब्बान सुत्त, दीघ निकाय, सामगाम सुत्त म० नि०;
Indian Buddhism P. 93 ॥

२. बुद्धचरित-धर्मानंद कौसंबी, पृ० १११-११२, २५४-२५६ (“ बौद्ध धर्म दर्शन ” नगीन जी० शाह से उद्धृत) ॥

४. अर्हत्-अनागामी साधक जब रूप-राग (ब्रह्मलोक की इच्छा) अरूप-राग (अरूप देवलोक प्राप्ति इच्छा) भान, औद्धत्य (चित्त की चंचलता) और अविद्या का नाश करके, क्लेशों का पूर्णरूपेण समूल नाश करता है तब पूर्ण प्रज्ञा का उदय होता है। वह जलकमलवत् अलिप्त रहता है। जीव-मुक्त अर्थात् उसी भव में निर्वाण प्राप्त करता है। बुद्ध और अर्हत् में यही भेद है कि बुद्ध स्वप्रयत्न से निर्वाण का साक्षात्कार करते हैं तथा अर्हत् परोपदेश के निमित्त से।

यहाँ स्रोतापन्न अवस्था का प्रथम अंग श्रद्धा है। जैन दर्शन में चतुर्दश गुणस्थानों में से प्रथम चार के ये तुल्य हैं। स्रोतापन्न अवस्था चतुर्थ गुणस्थानवर्ती है। सकृदागामी अनिवृत्तिकरण नवम गुणस्थानवर्ती है जो कि क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है। अनागामी अवस्था बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह के सदृश कह सकते हैं तथा अर्हत् इसे सयोगी केवली तेरहवां गुणस्थान कह सकते हैं।

इस प्रकार बौद्ध परम्परा में श्रद्धा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। श्रद्धा को चित्त की प्रसादमयी अवस्था कहा है।^१ जब श्रद्धा चित्त में उत्पन्न होती है तो वह चित्त को प्रीति और आनंद से भर देती है और चित्तमलों को नष्ट कर देती है।

बौद्ध परम्परा में श्रद्धा अन्धविश्वास नहीं, वरन् एक बुद्धि सम्मत अनुभव है। यह विश्वास नहीं वरन् साक्षात्कार के पश्चात् उत्पन्न तत्त्वनिष्ठा है। बुद्ध एक और यह मानते हैं कि धर्म का ग्रहण स्वयं के द्वारा जानकर ही करना चाहिये, दूसरी और यह भी आवश्यक समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति निष्ठावान् रहे। बुद्ध श्रद्धा को प्रज्ञा से समन्वित करके चलते हैं। मज्झिम-निकाय में बुद्ध यह स्पष्ट कर देते हैं कि “समीक्षा के द्वारा ही उचित प्रतीत होने पर धर्म को ग्रहण करना चाहिये।”^२ विवेक और समीक्षा

१. पसादो सद्धा-पुग्गलपंजति टीका २४८ ॥

२. सम्पसाद लक्खणा सद्धा मिल्लिन्द पंहो (लक्खण पंहो) म०नि०, १।५।७ ॥

सदैव ही बुद्ध को मान्य रहे हैं। बुद्ध कहते थे कि भिक्षुओ ! क्या तुम शास्ता के गौरव से तो हाँ नहीं कर रहे हो ? जो तुम्हारा अपना देखा हुआ, अपना अनुभव किया हुआ है, उसी का तुम कह रहे हो ?' इस प्रकार बुद्ध श्रद्धा को प्रज्ञा से समन्वित करते हैं। सामान्यतया बौद्ध दर्शन में श्रद्धा को प्रथम और प्रज्ञा को अंतिम स्थान दिया गया है। साधना मार्ग की दृष्टि से श्रद्धा पहले आती है और प्रज्ञा उसके पश्चात् आती है। श्रद्धा के कारण ही धर्म का श्रवण, ग्रहण, परीक्षण और वीर्याभ्रम होता है। नैतिक जीवन में श्रद्धा कैसे आवश्यक होती है, इसका सुन्दर चित्रण बौद्ध परम्परा के अश्वघोषकृत सौन्दरनन्द-नामक ग्रन्थ में मिलती है। उसमें बुद्ध नन्द के प्रति कहते हैं कि 'पृथ्वी के भीतर जल है यह श्रद्धा जब मनुष्य को होती है तब वह पृथ्वी को प्रयत्नपूर्वक खोदता है। भूमि से अन्न की उत्पत्ति होती है, यदि यह श्रद्धा कृषक में न हो तो वह भूमि में बीज क्षेपण नहीं करेगा। धर्म की उत्पत्ति में यही श्रद्धा उत्तम कारण है। जब तक मनुष्य तत्त्व को देख या सुन नहीं लेता, तब तक उसकी श्रद्धा स्थिर नहीं होती।

इस प्रकार साधना के क्षेत्र में प्रथम अवस्था श्रद्धा एक परिकल्पना के रूप में ग्रहण होती है और वही अंत में तत्त्व साक्षात्कार बन जाती है। "बुद्ध ने श्रद्धा और प्रज्ञा अथवा दूसरे शब्दों में जीवन के बौद्धिक और भावात्मक पक्षों में समन्वय किया है। यह ऐसा समन्वय है जिसमें श्रद्धा न तो अन्धश्रद्धा बनती है और न प्रज्ञा केवल बौद्धिक या तर्कात्मक ज्ञान बन कर रह जाती है।^१

बौद्ध दर्शन में चार अर्थ सत्यों की स्वीकृति को सम्यग्दृष्टि कहा है, उसी प्रकार जैन साधना में षट् स्थानकों (छह बातों) की स्वीकृति को सम्यग्दृष्टि कहा है—(१) आत्मा है, (२) आत्मा नित्य है, (३) आत्मा अपने कर्मों का कर्त्ता है, (४) आत्माकृत कर्मों के फलों का

१. वही, १-४-८ ॥

२. जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग, पृ० ६६ ॥

३. वही, पृ० ६५-६६ ॥

भोक्ता है, (५) आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है, (६) मुक्ति का उपाय है। जैन तत्त्व विचारणा के अनुसार इन षट्स्थानकों पर दृढ प्रतीति सम्यग्दर्शन की साधना का आवश्यक अंग है। दृष्टिकोण की विशुद्धता एवं सदाचार दोनों ही इन पर निर्भर है। हम कह सकते हैं कि ये षट्स्थानक जैन नैतिकता के केन्द्रबिंदु है।

जिस प्रकार जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, आदि (दोष) माने हैं, उसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी पांच नीवरण माने गये हैं—१. कामच्छन्द (कामभोगों की चाह) २. व्यापाद (हिंसा), ३. स्थानमृद्ध (मानसिक चैतसिक आलस्य), ४. औद्धत्य-कौकृत्य (चित्त की चंचलता), ५. विचिकित्सा (शंका)। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो बौद्ध परम्परा का कामच्छन्द जैन परम्परा के कांक्षा नामक अतिचार के सदृश है। विचिकित्सा को दोनों ने ही मान्य किया है पर जैन परम्परा में संशय और विचिकित्सा अलग-अलग माने गए हैं, लेकिन बौद्धपरम्परा दोनों का एक में ही अन्तर्भाव कर देती है। बौद्ध विचारणा में आर्य अष्टांगिक मार्ग में सम्यग्दर्शन या सम्यग्दृष्टि का अर्थ यथार्थ दृष्टिकोण स्वीकारा है।

दुःखों का समूलोच्छेद करने का उपाय यह अष्टांगिक मार्ग है। चतुर्थ आर्य सत्य और यह एक ही है। इस मार्ग को “ अरण ” (दुःखरहित) धर्म भी कहते हैं।^१ यह मार्ग आँख खोलने वाला, बोधि और निर्वाण तक ले जाने वाला है। यह कल्याण और अमृत का मार्ग है।^२ इस मार्ग को मध्यम मार्ग (मध्यमा प्रतिपद्) भी कहते हैं क्योंकि यह अनुत्तर शांति का मार्ग है।^३

१. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृ० ५१ [हिंदी] ॥

२. अरणं विभंगसुत्त, म० नि० ॥

३. भागदिय सुत्त, म० नि० ॥

४. धम्मचक्रपवत्तन सुत्त, म० नि० ॥

यह आर्थ अष्टांगिक मार्ग है—१. सम्यग्दृष्टि, २. सम्यक्संकल्प, ३. सम्यक्वाणी, ४. सम्यक्कर्म, ५. सम्यक्आजीव, ६. सम्यक्व्यायाम, ७. सम्यक्समृति, ८. सम्यक् समाधि ।^१

इसमें सबसे प्रथम मार्ग सम्यग्दृष्टि है । अतः हम कह सकते हैं कि इस मार्ग का प्रथम सोपान व आधार—शिला सम्यग्दृष्टि अथवा श्रद्धा है । सम्यग्दृष्टि और सम्यक् संकल्प को प्रज्ञा स्कन्ध में एवं सम्यक् वाणी, सम्यक्कर्म और सम्यक्आजीव को शील स्कन्ध में तथा सम्यक्व्यायाम, सम्यक्समृति और सम्यक्समाधि को समाधि स्कन्ध में समावेश किया है । सम्यग्दृष्टि ही सम्यक्संकल्प का कारण है । इसके अभाव में सम्यक्संकल्प संभव नहीं । प्रज्ञा स्कन्ध में समावेश करके ज्ञान को इसमें अन्तर्निहित कर लिया है । हालांकि अष्टांगिक मार्ग में ज्ञान का स्वतंत्र स्थान नहीं है तथापि वह सम्यग्दृष्टि में ही समाहित है । हालांकि बौद्ध साधना के त्रिविध मार्ग—शील, समाधि और प्रज्ञा में ज्ञान स्वतंत्र भी बताया है । किंतु यहाँ तो सम्यग्दृष्टि में ही सन्निहित है । इस प्रकार बौद्ध आचार दर्शन में श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । सुत्तनिपात में आलवक यज्ञ के प्रति बुद्ध स्वयं कहते हैं कि मनुष्य का श्रेष्ठधन श्रद्धा है ।^२ मनुष्य श्रद्धा से इस संसार रूमी बाढ़ को पार करता है ।^३ एवं निर्वाण की ओर ले जाने वाले अर्हतों के धर्म में श्रद्धा रखने वाला अप्रमत्त और विचक्षण पुरुष प्रज्ञा प्राप्त करता है ।^४

संयुक्त निकाय में कहा है कि श्रद्धा पुरुष का साथी है और प्रज्ञा उस पर नियंत्रण करती है ।^५ संसार में पुरुष का सबसे श्रेष्ठवित्त

१. धम्मचक्रपवत्तन सुत्त, सं० नि०, महापरिनिब्बानसुत्त, दी० नि०, महासतिपट्टान सुत्त, दी० नि०, सम्भादिट्ठि सुत्त, म० नि० ॥

२. आलवक सुत्त, सं० नि० १०-१२, पृ० १७१ ॥

३. वही ॥

४. सुत्तनिपात १०-६ ॥

५. संयुक्त निकाय, १-६-९ ॥

श्रद्धा है ।^१ श्रद्धा राह खर्च बांधती है ।^२ दान भी उसीको देना चाहिये जिसमें श्रद्धा है ।^३ इस प्रकार श्रद्धा बीज, तपवृष्टि प्रज्ञा ही मेरा जुठार और हल है ।^४ इस प्रकार बुद्ध सम्यग्दृष्टि को नैतिक जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं । इनकी दृष्टि में मिथ्या दृष्टिकोण संसार का किनारा है और सम्यग्दृष्टिकोण निर्वाण का किनारा है ।^५ बुद्ध के ये वचन यह स्पष्ट कर देते हैं कि बौद्ध दर्शन में सम्यग्दृष्टि का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है । कुछ सामान्य मतभेदों को छोड़कर बौद्ध दृष्टिकोण जैन दर्शन के निकट ही है । हालांकि जैन विचारणा में तो इसका विस्तृत विवेचन है ।

(२) सांख्य एवं योगदर्शन

बौद्ध सम्मत सम्यक्त्व चर्चा करके अब हम सांख्य एवं योग दर्शन में इस विचारधारा को प्रस्तुत करेंगे कि सम्यग्दर्शन या सम्यक्श्रद्धा का स्वरूप इसमें क्या निर्धारित है । प्रथमतः हम सांख्यदर्शन का निरूपण कर पश्चात् योगदर्शन पर दृष्टिपात करेंगे ।

सांख्यदर्शन के साहित्य में सम्यग्दर्शन या श्रद्धा का नाममात्र से तो उल्लेख प्राप्त नहीं होता, जबकि सम्यग्ज्ञान व विरति अर्थात् चारित्र का उल्लेख स्पष्टतया किया गया है । साथ ही ज्ञान और चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है यह भी उल्लिखित है ।^६ किंतु ज्ञान और चारित्र के पूर्व की स्थिति के रूप में सांख्य सिद्धांतों में विवेक ख्याति को स्वीकृत किया है । यह विवेक क्या सम्यग्दर्शन से अभिप्रेत है या

१. वही, १-८-३ ॥

२. वही, १-८-९ ॥

३. वही, ३-३-४ ॥

४. वही, ७-२-१ ॥

५. अंगुत्तर निकाय, १०-१२ ॥

६. (क) 'ज्ञानान्मुक्ति' सांख्यसूत्र, ३-२३ ।

(ख) विरक्तस्य तत्सिद्धेः, २-२, सांख्यसूत्र ॥

सम्यग्ज्ञान से अथवा सहभावी अर्थात् मिश्र रूप से अभिप्रेत है इसका हम अवलोकन करेंगे ।

ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्यकारिका में कहा गया है कि उक्त पच्चीस तत्त्वों के अभ्यास से “मैं (सूक्ष्म शरीर) नहीं हूँ क्योंकि यह मेरा नहीं है । मैं (प्रकृति भी) नहीं हूँ”—इस प्रकार जो ज्ञान उत्पन्न होता है वो संशयरहित होने से विशुद्ध एवं केवल अर्थात् एक होता है ।^१ यहाँ प्रतीति होती है कि तत्त्वाभ्यास के अनन्तर मैं और मेरे का भेद ज्ञान होता है कि जो संशयरहित और विशुद्ध होता है । संशयरहित तत्त्वाभ्यास युक्त विवेक को हम सम्यग्दर्शन संज्ञा दे सकते हैं । क्योंकि जैन दर्शन में तत्त्वार्थसूत्र में जो सम्यग्दर्शन का लक्षण दिया गया है कि “तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” उससे साम्यता लिये हुए है । संशयरहितता तभी संभव है जबकि विश्वास अर्थात् श्रद्धा हो जो कि तत्त्वाभ्यास पर अवलम्बित हो ।

सांख्यसूत्र में इसे और स्पष्ट किया है कि—“आत्म-तत्त्व का अभ्यास करने से—”यह नहीं है, यह नहीं है” (ऐसा विचार करते हुए) त्यागपूर्वक विवेकसिद्धि होती है ।”^२ इस सूत्र से उपरोक्त कथन को पुष्टि मिलती है कि तत्त्वाभ्यास से विवेक सिद्धि होती है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सम्यग्दर्शन को विवेक संज्ञा से सांख्यदर्शन ने अभिप्रेत किया है ।

यह विवेकख्याति ही पुरुष को (आत्मा को) मोक्ष की ओर ले जाती है और अविवेक से संसार भ्रमण होता है, इसका स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है—“विवेक प्राप्त करने वाले की संसार में आवृत्त अर्थात् पुनः पुनः आवागमन नहीं होता”—श्रुति बताती है ।^३ “विवेकी

१. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।

अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ सांख्यकारिका, का ६४ ॥

२. तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद् विवेक सिद्धिः । सांख्यसूत्र ३-७५ ॥

३. तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्ति श्रुतिः । सांख्यसूत्र, १-८३ ॥

से भिन्न (अविवेकी) का उपभोग बना रहने से आवागमन नहीं छूटता”^१ । पुरुष को बन्धन और मुक्तिस्वभाव से नहीं होते अविवेक से होते हैं ।^२ विवेक से सभी दुःखों की निवृत्ति होने पर पूर्णसिद्धि अर्थात् मोक्ष होता है, अन्य से नहीं ।^३ “परम्परा से विवेक की सिद्धि होने से मोक्ष श्रुति संभव है”^४ प्रकार में अन्तर संभव न होने से अविवेक ही बंधन है ।^५

इस प्रकार उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि विवेक से मुक्ति अर्थात् मोक्ष होता है तथा अविवेक से संसार-भ्रमण । ग्रंथ में यह भी कहा गया है कि अविवेक के कारण ही पुरुष अर्थात् आत्मा प्रकृति (जड़) से सम्पर्क करती है ।^६

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन को ही मुक्ति का प्रथम सोपान व आधारशिला कहा है तथा सम्यग्दर्शन के कारण अर्थात् सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान में सम्यक्तता आती है । यहाँ विवेक व सम्यग्दर्शन में साम्यभाव है क्योंकि विवेक होने पर भेद ज्ञान होता है । वैसे जैन-सिद्धांतों में सम्यग्दर्शन के भेद, व्यवहार व निश्चयसम्यक्त्व में भेद ज्ञान को निश्चयसम्यक्त्व कहा गया है ।

विवेक को सम्यग्दर्शन मान लेने पर तत्त्वार्थसूत्र का कथन कि सम्यग्दर्शन; ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है उसी प्रकार यहाँ सांख्यमत

१ उपभोगादितरस्य, सांख्यसूत्र, ३-५ ॥

२. नैकान्ततौ बंधमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते । सांख्यसूत्र, ३-७१ ॥

३. विवेकान्निशेष दुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् ।

-सांख्यसूत्र, ३-८४ ॥

४. पारम्पर्येण तत्सिद्धौ त्रिमुक्ति श्रुतिः । सांख्यसूत्र, ६-२८ ॥

५. (क) प्रकारान्तरासंभवादविवेक एव बन्धः । सांख्यसूत्र, ६-१६ ॥

(ख) सांख्य प्रवचन भाष्य । १-५५ ॥

६. (क) अविवेकनिमित्तो वा पंचशिखः । सांख्यसूत्र, ६-६८ ॥

(ख) तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् । सांख्यसूत्र, १-२५ ॥

(ग) प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम् । सांख्यसूत्र, १५७ ॥

में प्रकारान्तर से विवेक, ज्ञान व विरति से मोक्ष प्राप्ति होती है, यह समवेत रूप से न कह कर विभिन्न स्थलों पर कहा गया है। किंतु विवेक से ज्ञान और ज्ञान प्राप्त होने पर विरति होती है यह तो स्पष्टतया दिखाई देता है। विवेक को ज्ञान नहीं कह सकते क्योंकि एक तो वह विवेक के होने के बाद होता है तथा दूसरा विवेक के साथ सांख्यसूत्र में ज्ञान का कथन न करके स्वतंत्र रूप से ज्ञान का कथन किया गया है अतः हम कह सकते हैं कि विवेक ज्ञान से तो भिन्न है पर कहीं कहीं सूत्रकार ने विवेक में ज्ञान का अन्तर्भाव भी कर लिया है।

मोक्ष की प्राप्ति कर्मों के क्षय होने पर होती है यह जैन दर्शन स्वीकार करता है तो सांख्य भी त्रिविध दुःखों की अत्यंत निवृत्ति मोक्ष है यह मान्य करता है।^१ दुःख को कर्म का ही रूप मान सकते हैं। सांख्यमतानुसार पुरुष जीवन में मुक्ति प्राप्त कर लेता है और वह जीवनमुक्त कह लाता है।^२ यह जीवनमुक्त अवस्था जैन-मतानुसार तेरहवें गुणस्थानवर्तीसयोगी केवली की अवस्था है।

विवेक की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? उसका भी सांख्यसूत्र में वर्णन किया है कि-राजपुत्र के समान तत्त्वोपदेश से विवेक होता है।^३ इस पर दृष्टांत दिया है कि राजपुत्र को किसी कारणवशात् राजा ने निकाल दिया और चाण्डाल ने उसका पालन-पोषण किया तो वह अपने को चाण्डालपुत्र समझने लगा। पर जब किसी ने बताया कि तू चाण्डालपुत्र नहीं, राजपुत्र है तो उसने अपना यथार्थ स्वरूप जाना। इसी प्रकार तत्त्व का उपदेश सुनने से विवेक की प्राप्ति होती है।^४

विवेक की उत्पत्ति के विषय में पुनः कहते हैं कि-पिशाच के समान अन्य को उपदेश होने पर भी विवेक होता है।^५ पिशाच के

१. अथ त्रिविध दुःखात्यंतनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः । सांख्यसूत्र, १-१ ॥

२. जीवनमुक्तश्च । वही, ३-७८ ॥

३. राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात् । वही, ४-१ ॥

४. सांख्यदर्शन, संपादक श्रीराम शर्मा, पृ० १६७ ॥

५. पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि । सांख्यसूत्र, ४-२ ॥

समान यह कथानक दिया कि जंगल में गुरु द्वारा शिष्य को तत्त्वोपदेश दिया जा रहा था । तब पिशाच ने भी उसे छिपकर सुना, और तत्त्वज्ञान प्राप्त कर विवेकी हुआ ।^१

विवेकोत्पत्ति के लिए पुनः पुनः कहा कि “उपदेश को पुनःपुनः दुहराने से भी सिद्धि हो जाती है”^२ । तथा पिता व पुत्र के समान दोनों के देखें जाने से भी विवेक होता है ।^३

यहाँ विवेक की उत्पत्ति में परोपदेश का कथन है । जैनदर्शन में इसे ‘अधिगम’ संज्ञा दी गई है जो परोपदेश, शास्त्रश्रवण व जातिस्मरण आदि निमित्तों से होता है ।

यहाँ तर्क हमें जैन सिद्धांतों और सांख्यसिद्धांतों में सामान्यतया साम्य दिखाई देता है किन्तु कुछ तथ्य ऐसे भी हैं जो कि जैनमत से बिलकुल विपरीत है । सांख्यदर्शन यह स्वीकार करता है कि प्रकृति से ही बंध और मोक्ष होता है पुरुष से नहीं । अर्थात् बंध व मोक्ष प्रकृति के कारण ही पुरुष को होता है, पुरुष अकर्ता है । वह तटस्थ, मध्यस्थ भाव से द्रष्टा बना रहता है । वस्तुतः पुरुष निर्गुण और अपरिणामी है अतः न वह बंधता है और न संसरण करता है और न मुक्त होता है अपितु प्रकृति ही (सूक्ष्म शरीर के रूप में) असंख्य पुरुषों के आश्रय से बंधती है, संसरण करती है और मुक्त होती है ।^४

इतना तो जैन दर्शन भी मान्य करता है प्रकृतिरूप कर्म के कारण आत्मा संसार में भ्रमण करती है और कर्मों के समूल क्षय से मोक्ष होता है किंतु कर्मक्षय करने के लिए आत्मा को प्रबल

१. सांख्यदर्शन, सं० शर्मा । पृ० १६८ ॥

२. आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । सांख्यसूत्र, ४-३ ॥

३. पितापुत्रवदुभयोदृष्टत्वात् । सांख्यसूत्र, ४-४ ॥

४. (क) सांख्यसूत्र, ३-७२, १-७, १-१२, १-१३, १-१६, १-१४ ॥

(ख) सांख्यकारिका । ६२, ६५, २० ॥

(ग) सांख्य प्र० भा० १-१ ॥

पुरुषार्थ करना पड़ता है तभी वह मोहकर्म की दुर्भेद्य ग्रंथि को भेद कर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। कर्मोंका कर्ता, भोक्ता आत्मा ही है और उनसे मुक्त भी आत्मा ही होता है। इस प्रकार सांख्यमत से जैनमत यहाँ विरुद्ध दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार सांख्यदर्शन में सम्यग्दर्शनका विचार विवेक-ख्याति नाम से किया है। जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भेद अवश्य किया है किंतु सम्यग्दर्शन होने पर ही ज्ञान में सम्यक्ता आती है अन्यथा वह मिथ्याज्ञान होता है। सांख्यदर्शन में वास्तव में देखा जाय तो श्रद्धा से ज्ञान को अर्थात् विवेक में ज्ञान को अन्तर्निहित कर लिया है और भेदज्ञान कहा है। भेदज्ञान या विवेक की प्राथमिक अवस्था में तो संशय आदि होते हैं और उसके पश्चात् तत्त्वाभ्यास द्वारा दृढीभूत होकर विवेक स्वरूप धारण किया जाता है। अतः सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सहभावित्व विवेक में होता है अथवा इस प्रकार भी हम कह सकते हैं कि विवेकख्याति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान परक है।

योग दर्शन—

सांख्य दर्शन में सम्यक्त्व-विचार का निरूपण कर अब हम योगदर्शनगत सम्यक्त्व श्रद्धा की विचारधारा पर दृष्टिपात करें। वास्तव में देखा जाय तो सांख्य और योगदर्शन में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। सांख्य सिद्धांतों का व्यावहारिक जीवन में प्रयोग यही योग है। योग सांख्य का व्यावहारिक पूरक है। ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया जो सांख्योक्त है उसे योग ने भी स्वीकार किया है। योगदर्शन में सांख्य सम्मत २५ तत्त्वों को तो स्वीकार किया ही है किंतु एक ईश्वर तत्त्व को अधिक स्वीकार करके छत्तीस तत्त्वों को मान्य किया है।

सांख्य मतानुसार विवेकज्ञान ही मुक्ति का साधन है। योग दर्शन यह विचार स्वीकार करके आगे अधिक निरूपण करते हुए कहते हैं कि योगाभ्यास विवेक ज्ञान का साधन है। सांख्य सिद्धांत-है और योग साधना है। योग साधना के बिना सांख्योक्त तत्त्वों का ज्ञान,

विवेक ज्ञान और आत्यंतिक दुःखमुक्ति अशक्य है । सांख्य और योग दोनों के समन्वय से ही तत्त्वज्ञान, विवेकज्ञान और दुःखमुक्ति शक्य हो सकती है ।^१

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दृष्टि के लिए ' कुशल ' शब्द प्रयुक्त हुआ है उसी प्रकार योगभाष्य में क्लेशरहित विवेकी को कुशल कहा है ठीक इसके विपरीत जो क्लेशरहित अविवेकी है उसे अकुशल कह कर अभिप्रेत किया है ।^२ वस्तुतः यह क्लेशराहित्य से कुशलता सूचित की गई है, क्लेशराहित्य को चित्त की प्रसन्नता कह सकते हैं । योगभाष्य में चित्त की संप्रसाद अवस्था को श्रद्धा कहा है ।^३ चित्त में स्थित दुःखों को दूर करने के लिए योगदर्शन के अनुसार प्रकृति पुरुष का जो संयोग है, उसे तोड़ना चाहिये, क्योंकि दुःख का कारण संयोग है ।^४ और इस संयोग का कारण अविद्या है ।^५ परन्तु इस अविद्या की निवृत्ति तभी हो सकती है जब विवेक-ज्ञान का उदय हो ।^६ यह विवेक ज्ञान योगांग के अनुष्ठान के परिणामस्वरूप चित्त की अशुद्धियों के दूर होने पर उदित होता है ।^७

इस प्रकार योगदर्शन योगांग के अभ्यास व अनुष्ठान से विवेक की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं । यह विवेक जब चित्त में उदित होता है तब पुरुष का लक्ष्य कैवल्य की ओर जाता है अन्यथा अविवेक के कारण वह संसार में भटकता रहता है । इस विषय में भाष्यकार

१. सांख्य-योग [षड्दर्शन प्रथम खंड], पृ० २३० ॥

२. अतः क्षीणक्लेशः कुशलः, योगभाष्य, २-४ ॥

प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशल, यो० भा०, ४-३३ ॥

३. श्रद्धा चेतसः संप्रसादः, यो० भा०, १-२० ॥

४. द्रष्टव्यहेतुः संयोगो हेतुः, यो० सूत्र, २-१७ ॥

५. तस्य हेतुरविद्या, यो० सू० २-२४ ॥

६. परमार्थतस्तु ज्ञानाद्दर्शनं निवर्तते । यो भा० ३-५५ ॥

७. योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः । यो० सू० २-१८ ॥

का कथन है कि 'चित्त एक नदी है, उस चित्त-नदी के वृत्तिरूप प्रवाहित होने के दो मार्ग हैं—१. बहिर्मुख, २. अन्तर्मुख। बहिर्मुख के मार्ग में प्रवाहित वृत्तिप्रवाह अविवेक रूप ढाल के कारण संसार सागर की ओर दौड़ता है तथा अन्तर्मुख मार्ग में प्रवाहित वृत्तिप्रवाह विवेक रूप ढाल के फलस्वरूप कैवल्यसागर की ओर दौड़ता है। बहिर्मुख मार्ग में प्रवाहित होते हुए को रोकने के लिए अपर वैराग्य और अन्तर्मुख करने के लिए विवेकदर्शन का अभ्यास आवश्यक है।'^१

इस प्रकार इतना तो निश्चित है विवेकख्याति से कैवल्य की अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति होती है और यह विवेकख्याति सम्यक्त्व अर्थात् भेद-ज्ञान है। सांख्यदर्शन इस विवेक-ख्याति की उत्पत्ति परोपदेश से मानता है तो योगदर्शन योगांगों के अभ्यास व अनुष्ठान से स्वीकार करता है। ये योगांग आठ हैं इसके अतिरिक्त अभ्यास, वैराग्य एवं श्रद्धा भी योग के अंग हैं पर इन आठों में ही उनका समावेश हो जाता है। ये आठ योगांग इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।^२ इसमें समाधि के दो भेद हैं—संप्रज्ञातसमाधि जो कि अंगरूप है और असंप्रज्ञातसमाधि जो कि अंगीरूप है। यह असंप्रज्ञातसमाधि भी दो प्रकार की है—भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। भवप्रत्यय असंप्रज्ञातसमाधि में योगियों को जन्म से ही इस समाधि का अनुभव होता है।^३ किंतु उपायप्रत्यय असंप्रज्ञातसमाधि जन्मसिद्ध नहीं वरन् उपायों के अनुष्ठान द्वारा प्राप्त होती है। ये उपाय हैं— श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा।^४

आगम, अनुमान और आचार्य के उपदेश से परोक्ष रीति से पुरुष का साक्षात्कार करने की जो उत्कृष्ट इच्छा है वही श्रद्धा है।^५

१. यो० भा० १-१२ ॥

२. योगसूत्र, २-२९ ॥

३. वही, १-१९ ॥

४. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ वही, १-२० ॥

५. स चागमानुमानाचार्योपदेशसमधिगततत्त्वविषयो

भवतितत्त्ववैशारदी । १-२० ॥

यह श्रद्धा कैसी है ? उसके लिए भाष्यकार कहते हैं कि—यह श्रद्धा कल्याणी माता की भांति अनेक विघ्नों को दूर करके अनर्थाँ से योगी का रक्षण करती है । इससे उसके योग का भंग नहीं होता । ऐसी श्रद्धावाले योगी में इच्छित विषय की प्राप्ति के लिए उस विषय में चित्त को पुनः पुनः स्थापन करने रूप धारणा नामक प्रयत्न उत्पन्न होता है । धारणा का अभ्यास करने वाले योगी को ध्यानावस्था की प्राप्ति होती है । ध्यान का अभ्यास करने से योगी का चित्त सर्व प्रकार की वंयाकुलता से रहित बनकर अंतिम योगांग समाधि को प्राप्त करता है । पश्चात् इन सभी योगांगों में कुशल योगी को संप्रज्ञातयोग की पराकाष्ठा रूप विवेकख्याति उत्पन्न होती है । उसके बाद विवेकख्याति के अभ्यास से और वैराग्य से असंप्रज्ञात योग होता है ।^१ इस प्रकार श्रद्धा की सिद्धि होने से वीर्य का उदय, वीर्य की सिद्धि से स्मृति, स्मृति की सिद्धि से समाधि और समाधि की सिद्धि से प्रज्ञा विवेक का उदय होता है ।^२ इस प्रकार श्रद्धा या विवेकख्याति तो सर्व योगों का प्रभवस्थल है ।

जैनदर्शन में इन पांचों को अन्य रीति से स्वीकार किया है—सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग । दर्शन यह श्रद्धा है, वीर्य यहां विरति है । अप्रमाद और स्मृति, अकषाय और समाधि, अयोग और प्रज्ञा सदृश है । बौद्धदर्शन में श्रद्धा, वीर्य आदि को आध्यात्मिक विकास की पांच शक्तियों के रूप में स्वीकार करता है ।

योगदर्शन में प्रज्ञा की विशुद्धावस्था को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा है ।^३ जिसका व्युत्पन्न अर्थ सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा । वैसे

१. तत्त्ववैशारदी, १-२० ॥

२. सा हि जननीव कल्याणी योगिने पाति, तस्य हि श्रद्धानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते समुपजातवीर्यस्यस्मृतिरूपतिष्ठे, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते । योगभाष्य, १-२० ॥

३. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा, यो० सू० १-४८ ॥

यह प्रज्ञा विवेकख्याति रूप ही है। ऋतम्भरा प्रज्ञा और विवेकख्याति के बीच भेद है या नहीं, इसकी स्पष्टता योगदर्शन नहीं करता। परन्तु विवेकख्याति के स्वरूप से ऋतम्भराप्रज्ञा भिन्न महसूस नहीं होती। अथवा दूसरी दृष्टि से इस प्रकार भी कह सकते हैं कि साधक की प्रज्ञा विवेकख्याति के उदय के साथ ही ऋतम्भरा बन जाती है। विवेकख्याति यह सम्यग्दृष्टि है और सम्यग्दृष्टि होने पर साधक का ज्ञान या प्रज्ञा भी सम्यक् बन जाती है। वैसे विवेकज्ञान के उदय के साथ ही ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है। इस दृष्टि से भी दोनों अभिन्न महसूस होती है। इस प्रकार यह फलित होता है कि वह विवेकज्ञान की प्राथमिक भूमिका है।^१

इस विवेकख्याति को साधक प्रबल या दृढ़ीभूत न कर सके तो वह वापिस चली जाती है। किन्तु यदि विवेकख्याति को निरंतर अभ्यास से प्रबल किया जाय तो मिथ्याज्ञान का नाश होकर सर्व क्लेश दूर हो जाते हैं।^२ इस प्रकार मिथ्याज्ञान के नाश होने पर उस के पुनः उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती।^३

जैनदर्शन के अन्तर्गत इसे हम सम्यक्त्व के भेदों में उपशम व क्षायिकसंज्ञा दे सकते हैं। उपशमसम्यक्त्व का वसन हो जाता है जबकि क्षायिकसम्यक्त्व तो अप्रतिपाति है अर्थात् उत्पन्न होने के बाद नाश नहीं होता।

विवेकख्यातिनिष्ठा योगी के निरतिशय उत्कर्षवाली सात प्रकार की प्रज्ञा होती है।^४ वस्तुतः प्रज्ञा तो एक ही होती है परन्तु उसके विषय भेद से सात भेद होते हैं वे सात विषय हैं—१. हेयविमुक्ति, २. हेय-

१ यो० भा०, ३-५२ ॥

२. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः यो० सू० २-२० एवं यो० भा० २-२६ ॥

३. ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धवीजभावोपगमः पुनश्चाप्रसवः ॥ यो० भा० २-२६ ॥

४. तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा, यो० सू० २-२७ ॥

हेतुविमुक्ति, ३. हानविमुक्ति, ४. हानोपायविमुक्ति, ५. चित्ताधिकार-
विमुक्ति, ६. चित्तगुणविमुक्ति, ७. प्रलीनचित्तगुणपुनर्भावविमुक्ति ।

१. हेयविमुक्ति—जो कुछ हेय है, वह सभी जान लिया गया अब मेरे
जानने में न हो, ऐसा कोई हेय नहीं है ऐसी प्रज्ञा ।

२. हेयहेतुविमुक्ति—हेय के जितने हेतु हैं, उन सभी का मैंने नाश
किया है । अब मेरे क्षय करने योग्य कुछ नहीं ऐसी प्रज्ञा ।

३. हानविमुक्ति—मोक्षरूप हान के स्वरूप का मुझे निश्चय हो गया
है, उस विषय में निश्चय करना शेष नहीं, ऐसी प्रज्ञा ।

४. हानोपायविमुक्ति—मोक्ष के उपायरूप विवेकख्याति को मैंने सिद्ध
करके प्राप्त कर ली है, उसे प्राप्त करने के लिए अब मुझे कुछ करना
शेष नहीं ।

५. चित्ताधिकारविमुक्ति—बुद्धि के प्रयोजन सिद्ध हो गये हैं, वह कृतार्थ
हुई है ऐसी प्रज्ञा ।

६. चित्तगुणविमुक्ति—बुद्धिसत्त्व के गुण बुद्धि के साथ अपने मूल कारण
में लय हो गये—ऐसी प्रज्ञा ।

७. प्रलीनचित्तगुणपुनर्भावविमुक्ति—अत्यन्त लय प्राप्त चित्त-गुणों की
पुनः उत्पत्ति होती नहीं, कारण कि उसके लिए कोई प्रयोजन नहीं ।
चित्तगुणों का लय होने पर अनंतकाल में गुणसम्बन्धातीत हुआ
निर्मल केवल पुरुष अपने स्वरूप में ही स्थिति करता है, ऐसी प्रज्ञा ।'

जैनदर्शन में इन सातों विषयों को गुणस्थान के समान मान
सकते हैं । प्रथम चार को समावेश चतुर्थ सम्यग्दृष्टि में कर सकते
हैं । पाँचवें को ग्यारहवें गुणस्थान, छठे को बारहवें गुणस्थान एवं
सातवें को तेरहवें और पदचात् चौदहवें गुणस्थान के समान मान
सकते हैं । योगदर्शनचित्त को स्थिर होने में बाधक अर्थात् चित्त को
विक्षिप्त करने वाली नौ वस्तुएं मानता है । इन नव को योगमल,

योगान्तराय वा योगप्रतिपक्षी से भी पहचाना जाता है । ये नौ हैं—
१. व्याधि, २. स्त्यान, ३. संशय, ४. प्रमाद, ५. आलस, ६. अविरति,
७. भ्रान्तदर्शन, ८. अलब्ध भूमिकता, ९. अनवस्थितता ।^१

जैनदर्शन में इन नौ में से भ्रान्तदर्शन = मिथ्यादर्शन, अविरति—
प्रमाद=आलस, कषाय=अलब्ध भूमिकता और योग का अनवस्थितता
के सदृश स्वीकार कर सकते हैं । संशय यह शंका नामक सम्यक्त्व के
अतिचारों में ग्रहण किया गया है ।

इस प्रकार योगदर्शन में सम्यग्दर्शन को विवेकख्याति संज्ञा से
अभिप्रेत किया है । वह आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त कर कैवल्य की और
दौड़ता है ।^२ जब तक विवेकख्याति दृढ़ नहीं होती तब तक व्युत्थान-
संस्कार अन्य विक्षेप डालते हैं ।^३ पर जो योगी विवेकख्याति का
अभ्यास करता रहता है, वह योगी जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त कर लेता
है । कारण कि उसके पुनर्जन्म भी संभव नहीं क्योंकि उसने उन
कारणों का भी नाश कर दिया है ।^३ इस प्रकार विवेकख्याति अर्थात्
सम्यग्दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति को स्वीकार किया है । वह सर्वज्ञ और
परिपूर्ण ज्ञानयुक्त होता है ।^४

(३) न्याय-वैशेषिक दर्शन

सांख्य और योगदर्शन में सम्यक्त्व का निरूपण करके अब हम
न्याय एवं वैशेषिक दर्शनगत सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन की विचारधारा
का अवलोकन करेंगे । न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम एवं वैशेषिक
दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद माने जाते हैं । वस्तुतः न्यायदर्शन और
वैशेषिकदर्शन दोनों का समानतन्त्र है । वैशेषिकदर्शन पदार्थशास्त्र है,

१. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थि-

तत्त्वानिचित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया, यो० सू० १-३०

२. तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्, यो० सू० ४-२६ ॥

३. यो० सू० ४-३०, ४-३१ ॥

४. यो० सू० ३-२४, यो० भा०, ३-२४ ॥

तो न्याय दर्शन प्रमाणशास्त्र है। इन दोनों दर्शनों को हम एक दूसरे के पूरक कह सकते हैं। वैशेषिक दर्शन में सम्यक्त्व विषयक वर्णन किञ्चिद्मात्र है जबकि न्याय दर्शन में इस का कुछ स्वरूप अवश्य द्योतित किया गया है।

जैनदर्शन ने एवं बौद्धदर्शन ने जिसे सम्यग्दर्शन कहा उसे सांख्य एवं योगदर्शन ने विवेकख्याति से अभिहित किया। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन उसे तत्त्वज्ञान संज्ञा से अभिहित कर उससे मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार करते हैं। षोडश सत् पदार्थों के तत्त्वज्ञान से (यथार्थ ज्ञान से) निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।^१ जैनदर्शन में जहाँ जीवादि सात पदार्थों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन को मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग कहा, वहाँ न्यायदर्शन तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्ति स्वीकार करता है।

इस तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति अर्थात् यह तत्त्वज्ञान किस प्रकार होता है? उसे स्पष्ट करते हुए न्यायसूत्रकार कहते हैं कि—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने पर उससे रागद्वेषादि दोषों के निवृत्त हो जाने से तत्त्वज्ञान से अपवर्ग्य अर्थात् मोक्ष होता है।^२

यह तत्त्वज्ञान क्या है? तो न्यायसूत्रकार, न्याय-वैशेषिकदर्शन-अध्यात्मविद्या को स्वीकार कर तत्त्वज्ञान का अर्थ करते हैं—आत्मा आदि का ज्ञान।^३ वास्तव में आत्मा का ज्ञान या आत्मा का साक्षात्कार ही तत्त्वज्ञान है। आत्म-साक्षात्कार अन्य पदार्थों के स्वरूप को जाने बिना नहीं होता अतः तत्त्वज्ञान से आत्म और अनात्म सर्वपदार्थों के स्वरूप को जाना जाता है।

१ तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः । न्या० सू०, १-१ ॥

२ दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादप-
वर्गः । न्या० सू०, १-३ ॥

३ इह त्वध्यात्मविद्यायाभात्मादितत्त्वज्ञान तत्त्वज्ञानम्, न्या० भा०, १-१ ॥

अनात्म देह आदि में आत्मबुद्धि होना मिथ्याज्ञान या विपर्यय अर्थात् विपरीत ज्ञान है तथा अनात्म देहादि में अनात्म बुद्धि होना यही तत्त्वज्ञान है।^१ इसी भेद ज्ञान को सांख्य व योगदर्शन में विवेकख्याति से अभिहित किया है। इस तत्त्वज्ञान के उदय होने पर मिथ्याज्ञान दूर होता है। मिथ्याज्ञान के दूर होने पर अनात्म शरीरादि के प्रति जो मोह-राग है वह दूर होता है अर्थात् मिथ्याज्ञान के दूर होने पर मोह, राग आदि दोष भी दूर होते हैं।^२ रागादि दोषों के दूर होने पर व्यक्ति की प्रवृत्ति इन दोषों से युक्त नहीं होती। ऐसी दोषरहित प्रवृत्ति से पुनर्भव का कारण नहीं होता। इस प्रकार दोषरहित प्रवृत्ति करने से पुनर्भव दूर होता जाता है।^३ इधर दोषरहित प्रवृत्ति से कर्मबंधन नहीं होता। इस प्रकार इन सभी से (दोषों से) मुक्त हो जाता है और वह जीवन्मुक्त कहलाता है।^४ यह किस प्रकार होता है? न्यायसूत्रकार इसे समाधिविशेष के अभ्यास से स्वीकार करते हैं।^५ तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिए वे यम, नियम का अनुष्ठान आवश्यक कहते हैं। इसी के साथ वे इसकी उत्पत्ति के विषय में योगविहित तप, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि उपायों को भी जरूरी समझते हैं। इस प्रकार योगसाधना से आत्मा संस्कृत बनकर शुद्ध होती है और उसमें तत्त्वज्ञान की योग्यता आती है।^६ वैशेषिक सूत्रकार कणाद भी यही स्वीकार करते हुए कहते हैं कि धर्म निःश्रेयस का उपाय है।^७

१. न्या० भा०, ४-२-१ (उत्थानिका) ॥

२. तत्त्वज्ञानं खलु मिथ्याज्ञानविपर्ययेण व्याख्यातम् आत्मनि तावदस्तीति, अनात्मनि अनात्मेति १-१-२, न्या० भा० ॥

३. वही ॥

४. वही, ४-२-२ ॥

५. समाधिविशेषाभ्यासात्, वही। ४-२-३८ ॥

६. तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः, न्या० सू०। ४-२-४६ ॥

७. यतो अभ्युदयानिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः, वैशेषिक सूत्र। १-१-२ ॥

धर्म का अर्थ है श्रद्धा, अहिंसा, भूतहितत्व, सत्य, अस्तेय, भाव-शुद्धि, क्रोधवर्जन, अभिषेचन, शुचिद्रव्यसेवन, देवताभक्ति, तप और अप्रमाद ।^१ इस प्रकार धर्म तत्त्वज्ञान को जन्माकर उसके द्वारा मोक्ष का उपाय या उसे मोक्ष का हेतु कहते हैं ।^२

न्यायसूत्रकर्ता गौतम कहते हैं कि तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिए अध्यात्मविद्यारूप शास्त्र का अध्ययन करना चाहिये और उनके अर्थ का ग्रहण करना चाहिये । उस अर्थ के श्रवण का, मनन का और निदिध्यासन का सतत अभ्यास एवं अध्यात्मज्ञानी के साथ चर्चा करनी चाहिये ।^३

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानग्रहण, ज्ञानाभ्यास और ज्ञानियों के साथ संवाद के परिणामस्वरूप प्रज्ञा का उदय होता है । प्रज्ञा के परिपाक से संशयोच्छेद होता है, अज्ञात अर्थ ज्ञात होता है फलस्वरूप तत्त्वज्ञान का उदय होता है ।

न्याय सूत्रकार कहते हैं कि प्रमेय आदि पदार्थों का तत्त्वज्ञान होने से साक्षात् निःश्रेयस की प्राप्ति होती है तथा अवशिष्ट पदार्थों के तत्त्वज्ञान का अंग होने के कारण उनके तत्त्व की परम्परा से मोक्ष होता है । प्रमेय क्या है ?—आत्मा, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग नामक पदार्थ प्रमेय (जानने योग्य) है ।^४

इस विषय का उपसंहार करते हुए भाष्यकार स्पष्टतया कहते हैं कि—“ इस प्रकार न्यायसूत्र के प्रारम्भ के प्रथम सूत्र में कही हुई इन चारों ही प्रकारों से विभाग किये हुए आत्मादि प्रमेय-पदार्थों की सेवा से, अभ्यास से, सदा उक्त विषयों के चिंतन करते करते

१. प्रशस्तपादभाष्य, धर्मप्रकरण ॥

२. धर्मविशेषप्रस्तुतात्. ..तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसम्, वै० सू० । १-१-४ ॥

३. ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्येश्च सह संवादः. न्या० सू० ४-२-४७ ॥

४. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् । १-१-९ न्या० सू० एवं न्या० भा० ॥

सम्यग्दर्शन यथार्थ ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है ।”^१ भाष्यकार के कथन से इस प्रकार हमें स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन को न्यायसूत्रकार ने तत्त्वज्ञान कह कर अभिप्रेत किया है । यह तत्त्वज्ञान ही भेद ज्ञानरूप सांख्ययोग मतानुसार विवेकख्याति है । इस प्रकार सम्यग्दर्शन से मोक्ष की प्राप्ति स्वीकृत की है ।

(४) वेदान्तदर्शन

हमने न्याय-वैशेषिक दर्शन में सम्यक्त्व के स्वरूप का अवलोकन किया । अब हम इस विषय को वेदांतसूत्र में देखें कि यहाँ इन्होंने सम्यक्त्व का क्या स्वरूप निर्धारित किया है ? शंकराचार्य से यह परम्परा चली आ रही है कि वेदांतसूत्र के प्रणेता ‘बादरायण’ है । डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार “भारतीय परम्परा के अनुसार वेदांतसूत्र के रचयिता बादरायण व व्यास एक ही व्यक्ति है”^२।

समग्र हिंदूधर्म में चार प्रकार के पुरुषार्थ स्वीकार किये गये हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । मोक्ष को ही इनमें से श्रेयस्कर माना गया है । मोक्ष का अर्थ है आत्मसाक्षात्कार । उत्तर वेदान्तियों में मोक्ष का स्वरूप बीज रूप से उपनिषद् में द्रष्टिगत होता है । वैष्णववेदान्तियों की विदेहमुक्ति और शांकर वेदान्तियों की जीवन्मुक्ति का स्वरूप उपनिषद् में दिखाई देता है ।^३

उपनिषद् में ज्ञान के द्वारा (विद्या) मोक्ष की प्राप्ति स्वीकृत की गई है । अज्ञान (अविद्या) यह बंधन का कारण है । इस प्रकार श्रुति और स्मृति आत्मज्ञान से मोक्ष प्राप्ति स्वीकार करती है । आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मभाव वही मोक्ष है । वेदों में स्थान-स्थान पर इसका उल्लेख मिलता है । ऋग्वेद में कहा गया है—“प्रज्ञानम् ब्रह्म” ज्ञान

१. अपवर्गोऽधिगन्तव्यस्तस्याधिगमोपायस्तत्त्वज्ञानम् । एवं चतसृभिर्विधाभिः प्रमेयं विभक्तमासेवमानस्याभ्यस्तो भावयतः ‘सम्यग्दर्शनं’ यथाभूतावबोधस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते, न्या० भा० । ४-१-६८ ॥

२. भारतीय दर्शन, भाग २ पृ० ४२५ ॥

३. बृह० उप० IV ४-१४, ईश० उप० ६, मुंडक० उप० II २-८, III २-९ ॥

यही ब्रह्म है, “सर्वम् खलु इदं ब्रह्म” । इसी प्रकार सामवेद में कहा है—“तत्त्वमसि” वह तू है।^२ यजुर्वेद में कथन है—‘अहम् ब्रह्मास्मि’ मैं ब्रह्म हूँ।^३ तथा अथर्ववेद में उल्लेख है—“अयम् आत्मा ब्रह्म” यह आत्मा ब्रह्म है।^४

इन सबसे तात्पर्य यही है कि इस दृश्यमान जगत् में जो कुछ है सब ब्रह्म है। इस प्रकार का अनुभव होने पर अर्थात् ब्रह्मरूपी अधिष्ठान का ज्ञान होने पर अध्यारोपित जगत् की निवृत्ति होती है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को धर्मोपदेश देते हुए कहते हैं कि “हे मैत्रेयी ! यह आत्मा ही द्रष्टव्य है अर्थात् देखने योग्य है अथवा अनुभव करने योग्य है, मनन करने योग्य है, निदिध्यासन करने योग्य है। हे मैत्रेयी ! आत्मा के ही दर्शन से, श्रवण से, बुद्धिपूर्वक समझने से सब कुछ अर्थात् सब जगत् ज्ञात हो जाता है।”^५

यहाँ याज्ञवल्क्य द्वारा दिये गये धर्मोपदेश में आत्मदर्शन की बात सर्वप्रथम करते हैं। आत्म-दर्शन के पश्चात् श्रवणेच्छा आदि होते हैं और ज्ञान प्राप्त होता है। आत्मदर्शन की बात सर्वप्रथम की है। यह आत्म-दर्शन सम्यग्दर्शन का रूप है। सम्यग्दर्शन अर्थात् श्रद्धा सर्वप्रथम हो जाने पर ही व्यक्ति की श्रवण की इच्छा जागृत होती है। अतः हम आत्म-दर्शन को सम्यग्दर्शन संज्ञा दे सकते हैं। उसके पश्चात् ज्ञान प्राप्त होता है। यह सूत्र भी यहाँ प्राप्त होता है। बौद्ध दर्शन में जो यह कहा गया कि “सम्पसाद् लक्षणा श्रद्धा”, तथा योगदर्शन में भी कहा गया है कि “श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः” वह

१. ऋग्वेद, एत०उप० ५ ॥

२. सामवेद, छान्दो० उप० ६-८-७ ॥

३. यजुर्वेद-बृह० उप० १-४-१० ॥

४. अथर्ववेद-मां० उप० २ ॥

५. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मन्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्”-बृहदारण्यकोपनिषद्, २-४-५ ॥

भी यही सूचित करता है। चित्त की सम्प्रसाद-आनन्दायक अवस्था श्रद्धा है। आनन्दमय चित्त में ही श्रद्धा स्थान जमा सकती है अतः श्रद्धा प्रथमावस्था है आत्मदर्शन में आनन्द आने पर श्रवणेच्छा होगी, चिंतन मनन की अवस्था हो सकेगी।

जैनदर्शन यही अवस्था सम्यग्दर्शन की स्वीकार करता है, “तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं” जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धानं सम्यग्दर्शन वहाँ रूढ़ है।

वेदांतदर्शन में एकमात्र यही एक स्थल है जहाँ आत्मदर्शन की चर्चा की गई है। अन्य श्रुतियों में, ब्राह्मणों तथा उपनिषद् में दर्शन व ज्ञान को भिन्न नहीं स्वीकार किया। वहाँ आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान शब्दों के साथ इसकी प्ररूपणा की है और इसे ही मुक्ति के साधन के रूप में मान्य किया है।

वेदांतसूत्र पर सर्वप्राचीन उपलब्ध भाष्य शंकराचार्य का मान्य है। इस पर शंकर भाष्य करते हुए कहते हैं कि अविद्या से बंध और आत्मविद्या से ही मोक्ष हो सकता है।”

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र में दर्शन और ज्ञान को भिन्न भिन्न न मानकर एकरूपता से स्वीकार किया है और इसे आत्मज्ञान, ज्ञान, विद्या, तत्त्वज्ञान आदि शब्दों से व्यवहृत किया है। ज्ञान की पूर्व भूमिका में वहाँ विवेक, वैराग्य, श्रद्धा को भी मान्यता दी है, जिसका हम यथावसर उल्लेख करेंगे।

आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान को सम्यग्ज्ञान के तुल्य नहीं कह सकते क्यों कि यहाँ यह ज्ञान विवेक पर आधारित है। स्व-पर विवेक तथा मिथ्यात्व या अविद्या की निवृत्ति से होने वाला ज्ञान सम्यग्दर्शन से ही साम्य रखता है। यहाँ सम्यग्दर्शन में सम्यग्ज्ञान अन्तर्निहित है। वेदांतदर्शन में ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के अधिकारियों

१. अविद्याकृतत्वात् बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यते, ब्र० सू०, शां० भा०।

की चर्चा वेदांतसूत्र में प्रारंभ में ही की है। “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा”^१ में “अथ” शब्द का अर्थ है पश्चात्। तो किससे पश्चात् ब्रह्म की जिज्ञासा होती है ? इसका समाधान करते हुए कहा कि जो विवेक वैराग्य आदि साधनचतुष्टय युक्त है वह ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी है।

ज्ञानमार्ग सर्व संसारियों के लिए सरल नहीं। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का अधिकार जिसने प्राप्त किया हो उसे ही हो सकता है कारण कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने वाली भूमिका तैयार होनी चाहिये। इस भूमिका को तैयार करने के लिए वेदांतदर्शन में चार साधन बताये हैं। ये चार साधन होने पर ही सत्य-वस्तु (आत्मा) पर श्रद्धा होती है अन्यथा नहीं, ऐसा विवेक चूडामणि में कहा है।^२ श्रीमद् शंकराचार्य भी अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रारंभ में नैतिक साधन चतुष्टय को तत्त्वज्ञान के अधिकारी के लिए आवश्यक मानते हैं।^३ ऐसा व्यक्ति ही वेदांत का सच्चा अधिकारी है।

चार साधन -

१. विवेक (नित्यानित्यवस्तु विवेकः) सारासार समझने की शक्ति को विवेक कहा गया है। जड़ प्रकृति और चैतन्यमय पुरुष के बीच का भेद समझने की बुद्धि को वेदांतशास्त्र में विवेक कहा है। विवेकिन अर्थात् ज्ञानी। सत् और असत्, नित्य और अनित्य वस्तु को जानने की इस विवेक शक्ति को सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं।^४ कथन मात्र से अथवा वाचन मात्र से ही विवेकरूपी साधन प्राप्त नहीं हो सकता, इसकी अर्थानुभूति आवश्यक है।

२. वैराग्य -(इह-अमुत्र [अर्थ]-फल-भोग-विरागः) वैराग्य अर्थात् संसार का आत्यंतिक त्याग करना यह अर्थ नहीं बल्कि

१. ब्र० सू०। १-१-१ ॥

२. श्रीमद् शंकराचार्यनुं तत्त्वज्ञान, पृ० १२१ ॥

३. ब्र० सू०, शांकर भाष्य, १-१-१ ॥

४. श्रीमद् शंकराचार्यनुं तत्त्वज्ञान। पृ० ६२७ ॥

वैराग्य का ग्राह्य अर्थ यह है कि संसार के समस्त कर्त्तव्य कर्म अनासक्तिपूर्वक करना। विषयों में या उपभोग के साधनों में अनासक्ति यही वैराग्य है। यह अनासक्ति वैराग्य का राजमुकुट और स्थितप्रज्ञ का उदात्त लक्षण है। इहलोक तथा परलोक के सभी राजभोगों को प्रारंभ में दोषदृष्टियुक्त विवेक से नाशवंत जानने से और उन सभी के प्रति चित्त में उदित नीरसता, आग्रही प्रीति का अभाव और उसकी दृढता होने पर उन विषयों में विमुखता, और रागद्वेष से रहितता की स्थिति और जगत् का सर्व व्यवहार आसक्ति रहित हो जाने वाली चित्तस्थिति यही सच्चे वैराग्य की निशानी है।

इस प्रकार विवेक और वैराग्य गुण के वृद्धिगत होने पर मन शुद्ध होता है। जिस प्रकार पक्षी के दो पंख होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के ज्ञान अर्थात् विवेक और वैराग्य दो पंख हैं क्योंकि इनके बिना अन्य कोई दूसरे साधन से मुक्तिरूपी महल पर चढ़ा या उड़ा नहीं जा सकता है।

३. षट्संपत्ति—(शमदमादिसाधन संपत्ति) इस तीसरे षट्संपत्ति रूप साधन से मनःशुद्धि या मनःशान्ति होती है। ये छः शक्तियाँ संगठित रूप में एक ही है। एक ही मनुष्य के मनःसंयम के ये भिन्न भिन्न स्वरूप हैं —

१. शम — लौकिक व्यापार से मन की निवृत्ति वह है शम। चित्त में वृत्तियों के निरंकुश उद्भव तथा वेग पर अंकुश, चित्तवृत्तियों का एक में समीकरण, मनोनिग्रह, बारबार दोषदृष्टि करने से, विषय-समूह पर वैराग्य प्राप्त कर, मन का स्वलक्ष्य में स्थिर अवस्था का होना शम कहलाता है।

२. दम — बाह्य इन्द्रियों का निग्रह वह है दम। इन्द्रियों को विषय में भटकने से रोकना, उनको इस प्रकार काबू में रखकर उनसे प्रेरित चित्तवृत्तियों को शम-दम के संयुक्त उपाय से अन्तर्मुख रखना वह दम है। शम अर्थात् मानसिक शान्ति और दम अर्थात् इन्द्रिय निग्रह।

३. उपरति - अर्थात् कर्मत्याग । भोग भोगने की इतिश्री । मन और इन्द्रियों पर काबू होने पर वासना का क्षय हो जाता है । भोगों के सेवन करने की मन में अनिच्छा हो उसे उपरति कहते हैं ।

४. तितिक्षा - अर्थात् सहनशीलता । सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, ठंडी-गर्मी इत्यादि द्वन्द्वोरूपी दुखों को मन से उपेक्षा करके उनके संताप को सहन करना ।

५. श्रद्धा - शास्त्र और गुरु के वचनों पर सत्यबुद्धि रख उसे ग्रहण करना ये श्रद्धा है । इन पर शंका या संशय नहीं करना वह श्रद्धा है । आस्तिक बुद्धि यही श्रद्धा है ।

६. समाधान - निद्रा, आलस्य, प्रमाद का त्याग करके मन का एकाग्र करना । इसे कितनेक समाधि भी कहते हैं । इससे संचित कर्म जन्य वासना क्षीण होकर समता का उदय होता जाता है । बुद्धि को हमेशा शुद्ध ब्रह्म में स्थिर करना यह समाधान कहलाता है । डॉ. पाल डायसन के इस क्रम में कुछ भिन्नत्व है-शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधि, श्रद्धा ॥”

४. मुमुक्षुत्व

अर्थात् मोक्ष की इच्छा । यह साधन चतुर्थ है, पर तीनों के साथ ही रहता है । इसकी उपस्थिति में पहले तीनों साधन सार्थक होते हैं । जब तक मनुष्य को आत्मदर्शन की तृष्णा न लगे तब तक वह इस मार्ग पर नहीं आ सकता । इस प्रकार ये चार साधन ब्रह्मजिज्ञासा के अधिकारी होते हैं ।

इनकी तुलना जैनसम्मत सम्यक्त्व के पांच लिंग अथवा लक्षण-उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य से कर सकते हैं । इनमें से शम, समाधान को उपशम के अन्तर्गत, संवेग में मुमुक्षुत्व और विवेक, निर्वेद में वैराग्य, उपरति और तितिक्षा तथा आस्तिक्य में श्रद्धा का अन्तर्भाव हो जाता है । अतः हम कह सकते हैं कि

१. वेदांतदर्शन । पृ० ८० ॥

सम्यक्त्व के पांच लिंगों से ये अत्यधिक साम्य रखते हैं। इन साधन चतुष्टय को डॉ० पाल डायसन ने चार अपेक्षा कह कर उल्लिखित किया है।^१

वेदांत में ज्ञान की सात भूमिकाएं कही हैं वे निम्न हैं—^२

१. शुभेच्छा—पूर्व या वर्तमान जन्म में किये हुए निष्काम कर्म तथा उपासना द्वारा जिसके अन्तःकरण की शुद्धि हो गई हो और जिसे एकाग्रता प्राप्त हो गई हो ऐसे साधक को साधन चतुष्टय की सिद्धि होने से आत्मा को जानने की प्रबल मंगल इच्छा हो उसे शुभेच्छा कहते हैं अर्थात् तीव्र मुमुक्षा।

२. सुविचारणा—इस इच्छा से प्रेरित होकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोतिय गुरु का आश्रय लेकर, वेदान्तोपदेश श्रवण कर और जो सुना है उसके अर्थ का कुतर्कों को छोड़कर अनेक युक्तियोंपूर्वक मनन करना उसे सुविचारणा कहते हैं।

३. तनुमानसी—उपर्युक्त शुभेच्छा और सुविचारणा के संयोग से इन्द्रियों के विषयों पर राग न रहे और मन की स्थिति इन विषयों पर जब कृश हो जाय तब मन की इस अन्तर्मुख क्षीणदशा को तनुमानसी कहते हैं।

४. सत्त्वापत्ति—उपर्युक्त भूमिका त्रय के अभ्यास से साधक का मन अनात्म पदार्थों पर उदासीन होने पर आत्मस्वरूप में स्थिर होता है। श्रवणादि संशय-विपर्यय रहित स्वरूपानुभवरूपी निर्विकल्प स्थिति होने से चित्त में ज्ञानमय निश्चल, शुद्ध सत्त्व की स्थिति होती है उसे सत्त्वापत्ति (सत्त्व=शांत ज्ञानस्वरूपता, आपत्ति=आगमन) कहते हैं। यह चौथी स्थिति स्वयं तत्त्वज्ञान रूप होने से जीवन मुक्ति के साधन रूप है।

१. वही। पृ० ८२॥

२. श्रीमद् शंकराचार्यनुं तत्त्वज्ञान। पृ० ६२२।

५. असंसक्ति - इस भूमिका के अभ्यास की दृढ़ता होने पर चित्त निरंतर स्वरूप में लीन बनकर अहं-ममभाव नष्ट हो जाय और देहादि में आसक्ति का अभाव स्थिर हो जाय और बाह्य सृष्टि अस्पष्ट भासमान होने लगे, ऐसी स्थिति को असंसक्ति कहते हैं ।

६. पदार्थाभाविनी - पूर्वोक्त पांच भूमिका के अभ्यास की दृढ़ता होने पर योगी की निर्विकल्प स्थिति होती है तथा जगत् के अन्य पदार्थों की हस्ती जाने विस्मृत हो जाती है । यह सब आत्मस्वरूप में अदृश्य हो जाते हैं अतः इस भूमिका को पदार्थाभाविनी कहते हैं ।

७. तुर्यगा - इसे कैवल्य भी कहते हैं । इसमें केवल आत्मरूप एकनिष्ठा प्राप्त होती है । यह व्युत्थानरहित विदेह की स्थिति है ।

यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करें तो जैन दर्शनानुसार चतुर्दश गुणस्थानों में पहली चार भूमिकाओं का समावेश चतुर्थ गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि में हो जाता है । पाँचवें व छठे गुणस्थान को पाँचवीं भूमिका, बारहवें गुणस्थान को छठ्ठी भूमिका में तथा तेरहवें गुणस्थान का सातवीं भूमिका में अन्तर्भाव हो जाता है ।

वेदांतसूत्र पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं । जिनमें शंकराचार्य का शारीरक अथवा शांकर भाष्य, रामानुज का श्री भाष्य, वल्लभ और मध्वाचार्य आदि प्रसिद्ध हैं । इन में भी भाष्यकारों के विचारों में मतभेद है । किन्तु सभी (ज्ञान से तो) 'ज्ञानान्मोक्षः' स्वीकार करते हैं । अब हम इनके विचारों का अवलोकन करेंगे । शंकराचार्य कहते हैं—“ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्ममैव नापरः” अर्थात् “ब्रह्म ही सत्य है और नानात्व से भरा यह जगत् मिथ्या है, और अंतिम विश्लेषण में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है ।” इस प्रकार अपने ग्रन्थ ब्रह्मज्ञानावलीमाला में अद्वैत वेदांत का सार इस अर्द्ध श्लोक में ही कर देते हैं । तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ब्रह्म के लिए कहा है कि “सत्यं ज्ञानमनन्तं” सत्य ज्ञान ही अनन्त है ।

शंकराचार्य कहते हैं कि बंधन का कारण जीव का स्वयं के स्वरूप के विषय में अज्ञान है । जीव स्वयं ब्रह्म है, परंतु अनादि अविद्या के

कारण वह इस तथ्य को भूल जाता है और स्वयं को मन, शरीर, इन्द्रियाँ इत्यादि समझने लगता है। यही उसका अज्ञान है। परंतु जब यह दोषपूर्ण तादात्म्य समाप्त हो जाता है, जब अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान का प्रादुर्भाव हो जाता है तब यह जीव अनुभव करता है कि वह अनादिकाल से ब्रह्म ही था। ब्रह्मसूत्र में कहा है कि “बुद्धि का संयोग जब तक आत्मज्ञान से संसार की निवृत्ति नहीं होती तब तक रहता है” उस पर भाष्य करते हुए शंकर कहते हैं कि जब तक सम्यग्दर्शन से संसारित्व निवृत्त नहीं होता तब तक बुद्धि के साथ संबंध निवृत्त नहीं होता।^१

स्पष्ट है जब सम्यग्दर्शन अर्थात् यथार्थ दर्शन होता है तब देहात्मबुद्धि की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार शंकर दृढ़तापूर्वक कहते हैं ज्ञान और केवल ज्ञान (यर्थाथ ज्ञान) ही मोक्ष का साधन है। वे आग्रह-पूर्वक स्थापना करते हैं कि मोक्ष का कर्म से कोई संबंध नहीं है। ज्ञान और कर्म के बीच में वैसा ही विरोध है जैसा कि प्रकाश और अंधकार के बीच है। पुण्य और पाप कर्मों का फल क्रमशः सुख-दुःख है, परंतु आत्मज्ञान का फल स्वयं मोक्ष है। कर्म और भक्ति मन को शुद्ध करके ज्ञान के उदय के लिए आधार तैयार करते हैं और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से मोक्ष के साधन है। प्रत्यक्षरूप से वे मोक्ष के साधन नहीं।

दैनिक जीवन का रज्जु-सर्प का भ्रम कर्म या भक्ति द्वारा दूर नहीं किया जा सकता इसी प्रकार ब्रह्म जगत् भ्रम को भी कर्म या भक्ति के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता, वह केवल ज्ञान से ही दूर किया जा सकता है। इस प्रकार दैनिक जीवन का उदाहरण देकर शंकर इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं। जहाँ मुक्ति के साधन में शंकर ज्ञान मार्ग का उपदेश देते हैं एवं भक्ति तथा कर्म को गौण स्थान देते हैं वहाँ रामानुज मुख्यतः भक्तिमार्ग का उपदेश देते हैं वे ज्ञान और कर्म को गौण स्वीकार करते हैं।

१. यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् । ब्र०सू०, २-३-१३-३० ॥

२. यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते, तावदस्य बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति । ब्र०सू० शां०भा०, २-३-१३-३० ॥

रामानुज के अनुसार कर्म और ज्ञान से ही भक्ति का उदय होता है उसके परिणामस्वरूप मुक्ति प्राप्त होती है। कर्म से तात्पर्य वेदोक्त कर्मकाण्ड। इन कर्मों का अनुष्ठान जीवनपर्यन्त कर्तव्यबुद्धि से करना चाहिये। इन निष्काम कर्मों से ज्ञान प्राप्ति में विघ्नरूप जो पूर्व-जन्म के संस्कार हैं, वे दूर हो जाते हैं। मुक्ति के साधन रूप में उपासनात्मक भक्ति को ही अतिआवश्यक स्वीकार करते हैं।^१

ब्रह्मात्मिक ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि जहाँ बंधन पारमार्थिक हैं वहाँ इस प्रकार के ज्ञान से उसकी निवृत्ति कैसे हो ? अतः रामानुज स्वीकार करते हैं कि भक्ति के द्वारा भगवान् प्रसन्न होकर मुक्ति प्रदान करते हैं। रामानुज सेश्वरवादी होने से उनके मत में भक्ति और ईश्वरकृपा से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।^२

मध्वाचार्य आदि द्वैतवादी के अनुसार—बन्धन यह यथार्थ रूप से ज्ञान मात्र द्वारा नहीं किन्तु ईश्वरप्रसाद द्वारा ही दूर हो सकता है। उनके मतानुसार भक्ति का स्थान ज्ञान की तुलना में अति उच्च है और ज्ञान तो भक्ति की तुलना में अतिगौण है। जब भक्ति द्वारा तथा ईश्वर के ज्ञान द्वारा भक्त ईश्वरकृपा प्राप्त करने में शक्तिमान होता है तब ईश्वर की कृपा से ही वह विश्व की माया के पजे से मुक्त हो सकता है।^३

निम्बार्क ज्ञान के पांच साधन स्वीकार करते हैं—१. कर्म, २. विद्या या ज्ञान, ३. उपासना, ४. प्रपत्ति—ईश्वर को आत्मसमर्पण, ५. गुरुपासति—गुरु को आत्मसमर्पण।

वल्लभाचार्य अपने “निबन्ध” में मोक्ष प्राप्ति के लिए पांच

१. भक्ति प्रपत्तिभ्याम् प्रसन्न ईश्वर एव मोक्षं ददाति। श्री भाष्य अ०४, पा०४ ॥

२. यतो नारायण प्रसादात्मते न मोक्षः न च ज्ञानं बिना अत्यार्थप्रसादः। ब्र०सू० माध्वभाष्य ॥

साधनों का विवेचन करते हैं—१. वैराग्य, २. सांख्य-विवेक, ३. योग, ४. तप, ५. भक्ति ।^१

इस प्रकार वेदांतदर्शन में सम्यक्त्व विषयक विचारणा का हमने अवलोकन किया । जैनदर्शन के सम्यग्दर्शन के सिद्धांत में अन्यवेदांतियों की अपेक्षा शंकर सन्निकट दृष्टिगत होते हैं ।

(५) महाभारत

अब तक हमने भारतीय दर्शनों में सम्यक्त्व के स्वरूप का अवलोकन किया । अब हम महाभारत में इसके स्वरूप की विचारणा करेंगे । इस विशाल ग्रन्थ के रचयिता “महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास” है । महाभारत को पंचम वेद भी कहा गया है । व्यक्ति तथा समाज के आचार के लिए प्रमाणभूत माने जाने वाले ग्रन्थों में इसकी गणना होती है ।

सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन का विचार इस ग्रन्थ में ‘श्रद्धा’ रूप से किया गया है । जैनदर्शन में श्रद्धान को सम्यग्दर्शन का लक्षण पूर्व में स्वीकार किया जा चुका है । इसमें श्रद्धा के लिये कहा गया है कि—“अश्रद्धा यह महान पाप है और श्रद्धा सर्व पापों से मुक्त कराने वाली है । जिस प्रकार सर्प अपनी पुरानी कांचली का त्याग करता है, उसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष भी सब पापों का त्याग करता है ।”^२ इस कथन का आशय यही निकाला जा सकता है कि श्रद्धालु पाप-कर्म नहीं करता । जैनदर्शन के आचारांग सूत्र से यह कथन अति साम्य रखता है । वहाँ कहा गया है कि “सम्मत्तदंसी न करेइ पावं” एवं बौद्धादि दर्शनों में भी यह मान्य किया गया है ।

१. माहात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोधिकः ।

स्नेहोभक्तिरितिख्याता तथा मुक्तिर्न चान्यथा । निबन्ध ॥ बल्लभाचार्य ।

२. अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पाप प्रमोचिनी ।

जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पं जीर्णमिव त्वचम् । महा० शांतिपर्व ।

२६४-१५ ॥

पुनः श्रद्धा के लिए कहा गया है कि “हिंसा श्रद्धा का नाश करती है और उसके द्वारा पुरुष स्वयं का भी नाश करता है।”^१ अतः उपदेश देते हुए कहा है कि “तुम भी श्रद्धा को धारण करो कि जिससे ब्रह्म को प्राप्त करोगे।”^२ जो पुरुष वेद के वाक्यों पर, उसमें कहे हुए धर्म पर श्रद्धा करता है, उसका अमुक एक निश्चय होता है, वही पुरुष ही धर्मात्मा है और वही अपने धर्ममार्ग में स्थिर रह कर अत्यन्त श्रेष्ठ हो सकता है।^३

जैन सम्मत तत्त्वार्थ श्रद्धा के समान यहाँ वेद सम्मत श्रद्धा को स्वीकार किया गया है। यहाँ भी श्रद्धा को परमोच्च स्वीकार किया है। उसकी उत्कृष्टता दर्शाते हुए कहा है कि श्रद्धापूर्वक की हुई कर्म की निवृत्ति पवित्र में भी पवित्र है और जो श्रद्धालु पुरुष रागद्वेष का त्याग करता है वह तो सदा ही पवित्र होता है।^४

श्रद्धालु के कर्म पवित्र होते हैं उसका उल्लेख धान्य के व्यापारी के साथ करते हुए ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि “धान्य का व्यापार करने वाला दातापुरुष का अन्न श्रद्धा के कारण ही पवित्र है। इसके विपरीत वेदविद्या में पारंगत हुए लोभी पुरुष का अन्न श्रद्धा के अभाव के कारण अपवित्र है अतः अभक्ष्य है और धान्य के व्यापारी का अन्न भक्ष्य है।”^५

यहाँ श्रद्धा का महत्त्व सूक्ष्म रूप से किया गया है कि अन्न भी श्रद्धालु का ही पवित्र होता है। इसी हेतु से धर्मवेत्ता कहते हैं

१. श्रद्धां निहन्ति वै ब्रह्मन्सा हता हन्ति तं नरम् । वही, २६४-१६ ॥
२. श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ ततः प्राप्स्यसि यत्परम् । वही, २६४-१९ ॥
३. श्रद्धावान् श्रद्धाधानश्च धर्मश्चैव हि जाजले ।
स्ववर्त्मनि स्थितश्चैव गरीयानेव जाजले । वही ॥
४. ज्यायसी या पवित्राणां निवृत्तिः श्रद्धया सह ।
निवृत्तशीलदोषो यः श्रद्धावान्पूत पव सः । वही, २६४-१९ ॥
५. श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ।
भोज्यमन्नं वदान्यस्य कदर्यस्य न वार्धुषेः । वही, २६४-१३ ॥

कि जो पुरुष श्रद्धा से रहित है उसे देवताओं को होम द्रव्य अर्पण करने का अधिकार नहीं है क्योंकि अश्रद्धालु का अन्न भोज्य नहीं है अतः ।^१

उपरोक्त कथन व्यावहारिक सम्यग्दर्शन के सदृश है । तथा वेदोक्त धर्म पर श्रद्धा, जिनप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा के निकट है । महाभारत में वेदों को प्राधान्यता दी है अतः वेदवाक्यों पर होने वाली श्रद्धा सम्यग्दर्शन की कक्षा में आ सकती है ।

श्रद्धा की परिपूर्णता का उल्लेख करते हुए कहा कि “ मन्त्रादि के उच्चारण में स्वर या वर्ण के विपर्यय के कारण यदि कर्म नष्ट होता हो तो उसका श्रद्धा रक्षण करती है । इसी प्रकार मन की व्यग्रता के कारण जो ध्यानादि कर्म अपूर्ण रह गया हो तो उसे श्रद्धा पूर्ण कर देती है किंतु श्रद्धा के अभाव से नष्ट हुआ कर्म पुरुष की वाणी का या मन का रक्षण हो नहीं सकता । ”^२ इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य के जीवन में श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा सर्व कर्मों में श्रद्धा के होने को प्राथमिकता दी गई है । कहा है—“ मनुष्य पवित्रता रहित हो पर श्रद्धा से युक्त है तो उसका द्रव्य यज्ञकर्म में उपयोगी हो सकता है । ”^३ श्रद्धा को तो ग्रन्थकार ने यहाँ तक स्थान दिया है कि “ यज्ञ करने वाला पुरुष मानसिक श्रद्धा को ही अपनी स्त्री बनाता है ” यहाँ तात्पर्य यह है कि स्त्री बिना श्रौतयज्ञ हो नहीं सकता, ऐसा वेद में कहा गया है । जिस पुरुष के स्त्री न हो उसे श्रद्धा रूपी स्त्री को साथ में रख कर यज्ञ करना चाहिये ।^४

१. अश्रद्धान एवैको देवानां नार्हते हविः ।

तस्यैवान्नं न भोक्तव्यमिति धर्मविदो विदुः । वही २६४-१४ ॥

२. वाग्बुद्धं त्रायते श्रद्धा मनोबुद्धं च भारत ।

श्रद्धाबुद्धं वाङ्मनसी न कर्म त्रातुमर्हति । वही २६४-९ ॥

३. शुचेरश्रद्धानस्य श्रद्धानस्य चाशुचेः । वही २६४-१० ॥

४. वही २६३-३९ ॥

श्रद्धाशील पुरुष के लिए कहा है कि ऐसे पुरुष का तप का, आचार का और शरीर का भी क्या काम है ? श्रद्धा तो सभी में होती ही है । संसार के प्रत्येक मनुष्य को श्रद्धा तो होती ही है, परंतु जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही गिना जाता है ।^१

ब्रह्म संबंधी जो श्रद्धा वह प्रकाशात्मक ऐसे सत्त्वगुण की पुत्री है और सात्विकी श्रद्धा ही सब का पालन करने वाली होकर शुद्ध जन्म को देने वाली है । तथा तप और ध्यानधर्म से भी श्रेष्ठ है ।^२ स्पष्ट है श्रद्धान्वित कर्म ही सफल होते हैं ।

जो पुरुष दाम्भिक होते हैं उनमें श्रद्धा का भी अभाव होता है इसीलिए उनके द्वारा किये गए यज्ञ अयज्ञ होते हैं । बड़े बड़े सौ यज्ञों के यजन करने से भी उसके हवि का क्षय हो जाता है परंतु श्रद्धावान् जनों के कहे हुए धर्मों का क्षय होता नहीं है ।^३ ऐसा अनुशासन पर्व में कहा गया है ।

भीष्मपर्व में ग्रन्थकार ने उल्लेख करते हुए कहा—हे श्रीकृष्ण ! जो श्रद्धा-युक्त हैं वे शास्त्रविधि का त्याग करके यजन करते हैं उनकी निष्ठा कैसी है ? सात्विकी, राजसी या तामसी ?^४

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि “प्राणियों को स्वभाव से उत्पन्न होने वाली वह श्रद्धा तीन प्रकार की है—सात्विकी,

१. किं तस्य तपसा कार्यं किं वृत्तेन किमात्मना ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ वही, २६४-१७ ॥
२. श्रद्धा वैवस्वती सेयं सूर्यस्य दुहिता द्विजः ।
सावित्री प्रसवित्री च बहिर्वाङ् मनसी ततः ॥ वही, २६४-८ ॥
३. अपिक्रतुशतैरिष्ट्वा क्षयं गच्छति तद्धवि ।
न तु क्षीयन्ति ते धर्मा श्रद्धधानैः प्रयोजिताः । वही, अनु०पर्व १२७-११ ॥
४. ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहोरजस्तमः । वही, भीष्मपर्व ४१-१ ॥

राजसी और तामसी।^१ इन तीन प्रकार की श्रद्धा का विवेचन करते हुए कहा कि सभी को अपने पूर्वजन्म के कर्मों के संस्कारवाली बुद्धि के अनुसार श्रद्धा होती है। यह पुरुष भी श्रद्धावाला ही है। जो जैसी श्रद्धा वाला होता है वह वैसा ही कहलाता है।^२

इस प्रकार यहाँ सात्विकी, राजसी व तामसी तीन प्रकार की श्रद्धा का वर्णन किया है इसमें सात्विकी उत्कृष्ट है राजसी मध्यम व तामसी निकृष्ट है। हम सात्विकी श्रद्धा को सम्यग्दृष्टि एवं तामसी को मिथ्यादृष्टि एवं राजसी को मिश्रदृष्टि कह सकते हैं।

इस प्रकार महाभारत में श्रद्धा विषय पर विचार किया है। हालांकि यह जैनदर्शन से भिन्न है क्योंकि यहाँ वेद परकश्रद्धा स्वीकार की है और इन वाक्यों पर की गई, श्रद्धा से परब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है अतः वेदनिष्ठ श्रद्धा सम्यग्दर्शन की कोटि में आ सकती है। श्रद्धा का स्थान इसमें तप-जप-यज्ञ आदि सभी से पूर्व है। श्रद्धा को ही यहाँ प्राथमिकता दी गई है। श्रद्धावान् के कर्म शुभ और अश्रद्धावान् के कर्म अशुभ स्वीकार किये हैं। जिस प्रकार जैन दर्शन में सम्यग्दृष्टि के कर्म निर्जरा हेतु व संवर हेतु कहे हैं उसी प्रकार यहाँ भी यह रूप दिखाई देता है। इस रूप में महाभारत में सम्यग्दर्शन/श्रद्धा का विचार किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता

अभी हमने 'महाभारत' में सम्यग्दर्शन के स्वरूप को 'श्रद्धा' के रूप में देखा। अब हम भगवद्गीता में इसका विचार करेंगे कि यहाँ इसका क्या स्वरूप निर्धारित किया है।

गीता में सम्यक्त्व/सम्यग्दर्शन के स्थान पर 'श्रद्धा' ग्राह्य है।

१. त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।

सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु। वही, भीष्मपर्व ४१-२ ॥

२. सत्त्वानुरुपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः। वही ४१-३ ॥

यद्यपि इसमें सम्यग्दर्शन शब्द का तो अभाव है तथापि सम्यग्दर्शन को श्रद्धापरक अर्थ में लिया गया है अतः उस रूप में गीता में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। श्रद्धा गीता के आचार-दर्शन के केन्द्रीय तत्त्वों में से एक है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेशित करते कहते हैं कि-

“ जो श्रद्धावान् है, तत्पर है और संयतेन्द्रिय है वह ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके तत्क्षण भगवत्प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।^१ शांकरभाष्य में इसे बहुत ही सुन्दर रीति से समझाया गया है कि “श्रद्धावान्-श्रद्धालु मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है।” शंका उठती है कि श्रद्धालु होकर भी तो कोई मन्द प्रयत्न वाला हो सकता है? इसलिए कहते हैं कि तत्पर अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति के गुरुशुश्रूषादि उपायों में जो अच्छी प्रकार लगा हुआ हो। श्रद्धावान् और तत्पर होकर भी कोई अजितेन्द्रिय हो सकता है, इसलिए कहते हैं कि संयतेन्द्रिय भी होना चाहिये। जो इस प्रकार श्रद्धावान्, तत्पर और संयतेन्द्रिय होता है वह अवश्य ही ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।” पुनः कहते हैं कि जो दण्डवत्-प्रणामादि उपाय हैं वे तो बाह्य हैं और कपटी मनुष्य के द्वारा भी किये जा सकते हैं इसलिए वे (ज्ञानरूप फल उत्पन्न करने में) अनिश्चित भी हो सकते हैं। परन्तु श्रद्धालुता आदि उपायों में कपट नहीं चल सकता, इसलिए ये निश्चयरूप से ज्ञान प्राप्ति के उपाय हैं।^२ इस प्रकार अंत में कहते हैं कि “सम्यग्दर्शन से (यथार्थ ज्ञान से) शीघ्र ही मोक्ष हो जाता है, यह सब शास्त्रों और युक्तियों से सिद्ध सुनिश्चित बात है।”^३

यहाँ हमारे सामने दो तथ्य आते हैं—१. श्रद्धा को शंकराचार्य

१. श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। गीता, ४-३९-१ ॥
२. शांकरभाष्य (गीता) ४-३९
३. “सम्यग्दर्शनात्” क्षिप्रं मोक्षो भवति इति सर्वशास्त्रन्यायप्रसिद्धः सुनिश्चित अर्थः। वही ॥

ने सम्यग्दर्शन कह कर सम्बोधित किया है तथा परचात् ज्ञान होने पर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, अतः यह मोक्षमार्ग है ।

दूसरा तथ्य यह सामने आता है कि श्रीमदुमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में जो यह कहा कि “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः” यह इससे बहुत अधिक साम्य रखता है । यहाँ कहा गया है कि श्रद्धा-तत्पर-संयतेन्द्रिय-ज्ञान=मोक्ष जबकि तत्त्वार्थसूत्र में कहा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र=मोक्षमार्ग इतनी भिन्नता क्रम में दिखाई देती है । किंतु श्रद्धा को तो प्रथम स्थान दिया है । एवं श्रद्धा, तत्परता, संयती (चारित्र) व ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है । गीता में पुनः कहा है कि जो कोई भी मनुष्य दोषबुद्धि से रहित और श्रद्धा से युक्त हुए सदा ही मेरे इस मतानुसार वर्तते हैं वे सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं ।^१

इस श्लोक में पूर्वोक्त कथन की पुष्टि दिखाई देती है । अर्जुन को शंका होती है कि “योग से चलायमान हो गया है मन जिसका ऐसा शिथिल यत्नवाला श्रद्धायुक्त पुरुष योग की सिद्धि को अर्थात् भगवत्साक्षात्कारता को न प्राप्त होकर हे कृष्ण ! किस गति को प्राप्त होता है ?”

यहाँ कृष्ण इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि उस पुरुष का न तो इस लोक में और न परलोक में ही नाश होता है क्योंकि कोई भी शुभकर्म करने वाला अर्थात् भगवदर्थ कर्म करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ।^३ यहाँ हमें स्पष्ट दृष्टिगत होता है कि श्रद्धावान् कभी दुर्गति में नहीं जाता क्योंकि गीता में श्रीकृष्ण ने यह कह कर

१. ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः । वही, ३-३१ ॥

२. अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ वही, ६-३७ ॥

३. पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ वही, ६-४० ॥

सम्यग्दर्शन या श्रद्धा के महत्त्व को स्पष्ट कर दिया है कि यदि दुराचारी व्यक्ति भी मुझे भजता है अर्थात् मेरे प्रति श्रद्धा रखता है तो उसे साधु ही समझो, क्योंकि वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर चिरशान्ति को प्राप्त हो जाता है ।^१ गीता का यह कथन आचारांग के कथन से कि सम्यग्दृष्टि कोई पाप नहीं करता, बहुत अधिक साम्य रखता है । आचार्य शंकर ने गीताभाष्य में सम्यग्दर्शन के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सम्यग्दर्शननिष्ठ पुरुष संसार के बीज रूप अविद्या आदि दोषों का उन्मूलन नहीं कर सके, ऐसा कदापि संभव नहीं हो सकता अर्थात् सम्यग्दर्शनयुक्त पुरुष निश्चितरूप से निर्वाण-लाभ करता है ।^२

श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन को कह रहे हैं कि “सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मेरे में लगे हुए अन्तरात्मा से मुझे निरन्तर भजता है वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।”^३

श्रद्धा से युक्त योगी अथवा भक्त को श्रीकृष्ण स्थान-स्थान पर उसे परम श्रेष्ठ मान्य करते हैं और कहते हैं कि “जो-जो सकामी भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उस भक्त की मैं उस ही देवता के प्रति श्रद्धा-को स्थिर करता हूँ ।”^४ साथ ही यहाँ तक श्रीकृष्ण ने कह दिया कि “पूर्व में व्यतीत हुए

१. अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ वही ६:३०-३१ ॥

२ शां० भा०, गीता, १८-१२ ॥

३. योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

-वही, ६-४७, १२-२, १२-२० ॥

४. यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ वही, ७-२१-२२ ॥

और वर्तमान में स्थित तथा आगे होने वाले सब भूतों (प्राणियों) को मैं जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई भी श्रद्धा भक्ति रहित पुरुष नहीं जानता है ।” यद्यपि श्रद्धा से युक्त हुए जो सकामी भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं वे भी मुझे ही पूजते हैं, किन्तु उनका वह पूजना अविधिपूर्वक है ।^१

यहाँ कृष्ण कहते हैं कि अन्य देवता के रूप में जो श्रद्धा से उनको पूजता है वास्तव में तो वह मुझे ही पूजता है किन्तु उसका इस प्रकार का पूजन अविधि युक्त है ।

कृष्ण कहते हैं कि भगवत् विषय को न जानने वाला तथा श्रद्धा-रहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है, उनमें भी संशययुक्त पुरुष के लिए तो न सुख है और न यह लोक है, न परलोक है अर्थात् दोनों ही उसके लिए भ्रष्ट हो जाते हैं ।^२ एवं इस तत्त्वज्ञान रूप धर्म में श्रद्धारहित पुरुष मुझे न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार चक्र में भ्रमण करते हैं ।^३

यहाँ संशय को श्रद्धा का घात करने वाली कहा है तथा जो श्रद्धारहित हैं वे तो जन्म मरण के चक्र में फंस कर संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं उनकी मुक्ति संभव नहीं ।

बिना श्रद्धा के होमा हुआ हवन तथा दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह समस्त असत्

१. वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।

भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ वही, ७-२६ ॥

२. तेऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ वही, ९-२३ ॥

३. अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ वही, ४ : ४० ॥

४. अश्रद्धानाः पुरुषाः धर्मस्यास्य परंतप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ वही, ९-३ ॥

इसलिए कहा जाता है कि वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के पीछे ही लाभदायक है ।^१

यहाँ कृष्ण यज्ञ आगादि कर्म में, दान एवं तप में भी श्रद्धा का होना परमावश्यक स्वीकार करते हैं । श्रद्धा बिना की क्रिया को निष्फल स्वीकार किया गया है । ठीक इसके विपरीत जो श्रद्धा से युक्त हैं किन्तु शास्त्रविधि-विधान को छोड़कर यजन करते हैं उनकी निष्ठा कौनसी है ? सात्विक, राजस या तामस ?^२

यहाँ महाभारत और गीता में समानता दिखाई देती है । डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार—भगवद्गीता, जो महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है ।^३ अतः यहाँ साम्य होना स्वाभाविक है । उपरोक्त प्रश्न का उत्तर श्रीकृष्ण महाभारत के अनुसार ही देते हैं कि “मनुष्यों की वह बिना शास्त्रीय संस्कारों के केवल स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है ।” इसका विवेचन करते हुए कहा है कि सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह स्वयं भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है वैसा ही उसका स्वरूप है ।^४ श्रद्धा विरहित यज्ञ तामसी है ।^५ तथा

१. अश्रद्धया हुनं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ वही, १७-२८ ॥

२. ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहोरजस्तमः ॥ वही, १७-१ ॥

३. भारतीय दर्शन, भाग १०, नवां अध्याय, पृ० ४७८ ॥

४. त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।

सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ गीता, १७-२ ॥

५. सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स पव स ॥ वही, १७-३ ॥

६. श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ वही, १७-१३ ॥

कायिक, वाचिक तथा मानसिक तप जो फलाकांक्षारहित और समाहित-चित्त पुरुषों द्वारा श्रद्धापूर्वक किया जाता है वह सात्विक तप है ।^१ यहाँ दो बातें हमारे सामने आती हैं—१. श्रद्धा विरहित क्रिया तामसिक एवं श्रद्धायुक्त की क्रिया सात्विक है । २. श्रद्धा के साथ की जाने वाली क्रिया फलाकांक्षा से रहित होनी चाहिये । जैनदर्शन शंका, कांक्षा को सम्यक्त्व के अतिचार स्वीकार करता है ।

इस प्रकार अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं कि मेरा अज्ञानजन्य मोह जो कि समस्त संसार रूप अनर्थ का कारण था नष्ट हो गया है । आपकी कृपा से मेरे संशय नष्ट हो गये हैं तथा मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है ।^२ आचार्य शंकरभाष्य में कहते हैं कि “ जिसके प्राप्त होने पर सब ग्रन्थियाँ—संशय विच्छिन्न हो जाते हैं । ”^३

इस प्रकार गीता में श्रद्धा का अवरोध तत्त्व मोह एवं तज्जन्य ग्रन्थियों को स्वीकार किया है ।

जैन परम्परा में सामान्यतया सम्यग्दर्शन दृष्टिपरक अर्थ में स्वीकार हुआ है और अधिक से अधिक उसमें यदि श्रद्धा का तत्त्व समाहित है तो वह तत्त्वश्रद्धा है, जबकि गीता में श्रद्धा शब्द का अर्थ प्रमुख रूप से ईश्वर के प्रति अनन्य निष्ठा ही माना गया है । इस प्रकार गीता में श्रद्धा के स्वरूप पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि जैनदर्शन में जो श्रद्धा का अर्थ है, गीता में उससे भिन्न है । गीता की श्रद्धा पर हम प्रारम्भ से अवलोकन करें तो पायेंगे कि प्रथम ज्ञान प्राप्ति के लिए श्रद्धा का होना अनिवार्य माना गया है । उसके पश्चात् भक्ति के लिए श्रद्धा को आवश्यक

१. श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्रिविधं नरैः ।

अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ॥ १७-१७, १७-११ ॥

२. नष्टो मोहो स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ वही, १८-७३ ॥

३. यस्या लाभात् सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः । शां० भा० (गीता) वही ॥

अग मान्य किया है एवं यज्ञ-यागादि कर्मों में भी श्रद्धा की प्रधानता को स्वीकार किया है। ज्ञान-योग, भक्ति-योग एवं कर्म-योग सभी स्थानों में श्रद्धा आवश्यकिय गीता में स्वीकृत की गई है। नैतिक जीवन का सूत्रपात गीता में श्रद्धा से मान्य किया गया है।

गीता में श्रद्धा या भक्ति चार प्रकार की कही गई है^१ —

१. ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् होने वाली श्रद्धा या भक्ति-परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् उनके प्रति जो निष्ठा होती है वह, एक ज्ञानी की निष्ठा मानी गई है।
२. जिज्ञासा की दृष्टि से परमात्मा पर श्रद्धा रखना, श्रद्धा या भक्ति का दूसरा रूप है। इसमें श्रद्धा तो होती है लेकिन वह पूर्णतया संशयरहित नहीं होती, जबकि प्रथम स्थिति में होने वाली श्रद्धा पूर्णतया संशयरहित होती है। संशयरहित श्रद्धा तो साक्षात्कार के पश्चात् ही सम्भव है। जिज्ञासा की अवस्था में संशय बना ही रहता है। अतः श्रद्धा का यह स्तर प्रथम की अपेक्षा निम्न ही माना गया है।
३. तीसरे स्तर की श्रद्धा आर्त्त-व्यक्ति की होती है। कठिनार्थ में फंसा व्यक्ति जब स्वयं अपने को उससे उबारने में असमर्थ पाता है और इसी दैन्यभाव से किसी उद्धारक के प्रति अपनी निष्ठा को स्थिर करता है, तो उसकी यह श्रद्धा या भक्ति एक दुःखी या आर्त्त व्यक्ति की भक्ति ही होती है। श्रद्धा या भक्ति का यह स्तर पूर्वोक्त दोनों स्तरों से निम्न होता है।
४. श्रद्धा या भक्ति का चौथा स्तर वह है जिसमें श्रद्धा का उदय स्वार्थ के वशीभूत होकर होता है। यहाँ श्रद्धा कुछ पाने के लिए की जाती है। यह फलाकांक्षा की पूर्ति के लिए की जाने वाली श्रद्धा अत्यन्त निम्नस्तर की मानी गई है। वस्तुतः इसे श्रद्धा केवल उपचार से ही कहा जाता है। अपनी मूल भावनाओं में तो यह

१. जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग, पृ० ६७-६८ ॥

एक व्यापार अथवा ईश्वर को ठगने का एक प्रयत्न है। ऐसी श्रद्धा या भक्ति नैतिक प्रगति में किसी भी अर्थ में सहायक नहीं होती। नैतिक दृष्टि से केवल ज्ञान के द्वारा अथवा जिज्ञासा के लिए की गई श्रद्धा का ही कोई अर्थ और मूल्य हो सकता है।

‘तिलक’ गीता की इस श्रद्धा के विषय में कहते हैं कि “जगत का सर्वव्यवहार श्रद्धा प्रेम वगैरह मनुष्य स्वभाव में सिद्ध हुई मनोवृत्तियों के कारण ही चलता है। एवं बुद्धि तो इन मनोवृत्तियों पर काबू रखने के उपरांत अन्य कुछ करती नहीं। बुद्धि किसी भी बाबत में जब सत्य-झूठ का विचार करती है उसके पश्चात् मनोवृत्तियों द्वारा उसका अमल होता है। अतः बुद्धिनिष्ठ ज्ञान की पूर्णता के लिए तथा बाद में वह ज्ञान आचरण में तथा कृतियों में आता है। इस फलरूप अवस्था के लिए ज्ञान को हमेशा श्रद्धा-दया-वात्सल्य, कर्तव्य-प्रेम इत्यादि अन्य नैसर्गिक मनोवृत्तियों की अपेक्षा होती है। जो ज्ञान इन मनोवृत्तियों को शुद्ध और जागृत करके उनके सहाय की अपेक्षा या जरूरत रखता नहीं है वह ज्ञान कोरा, अपूर्ण, तर्कटी निष्फल और कच्चा समझना चाहिये। तिलक इस बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार दारु के बिना गोली से बंदूक का वार होता नहीं उसी प्रकार श्रद्धादि मनोवृत्तियों की सहायता के बिना केवल बुद्धिनिष्ठ ज्ञान किसी को तारने में समर्थ नहीं होता।”

यहाँ तिलक ने ज्ञानमार्ग के लिए श्रद्धादि मनोवृत्तियों का होना अनिवार्य बताया। भक्तिमार्ग के लिए कहते हैं कि “भक्तिमार्ग में ज्ञान का काम श्रद्धा से ही कर लिया जाता है। यानि शुद्ध परमेश्वर स्वरूप की श्रद्धा से अथवा विश्वास से कुछ समझ प्राप्त करके उसमें उस प्रकार

१. चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरथार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ वही, ७-१६ ॥

२. श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य, पृ० ४१४ ॥

की भावना बांध लेता है।”^१ इस प्रकार ज्ञानमार्ग व भक्तिमार्ग दोनों में ही श्रद्धा का होना अनिवार्य माना गया है।

डॉ० राधाकृष्णन् गीता विषयक श्रद्धा का विवेचन करते हुए कहते हैं कि “श्रद्धा=विश्वास। ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धा आवश्यक है। श्रद्धा अंधविश्वास नहीं है। यह आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए महत्त्वाकांक्षा है। यह ज्ञान के उस अनुभवगम्य आत्मा का प्रतिबिम्ब है, जो हमारे अस्तित्व के गंभीरतम स्तरों में निवास करता है। यदि श्रद्धा स्थिर हो, तो हमें यह ज्ञान की प्राप्ति तक पहुँचा देती है। ज्ञान परम ज्ञान के रूप में संदेहों से रहित होता है, जबकि बौद्धिक ज्ञान में, जिससे हम इन्द्रियों द्वारा प्रदान की गई जानकारी पर और तर्क से निकले निष्कर्षों पर निर्भर रहते हैं, संदेहों और अविश्वास का स्थान रहता है। ज्ञान इन साधनों द्वारा प्राप्त नहीं होता। हमें उसे आन्तरिक रूप से अपने जीवन में लाना होता है और बढ़ते हुए उसकी वास्तविकता तक पहुँचना होता है। उस तक पहुँचने का मार्ग श्रद्धा और आत्म-संयम में से होकर है।”^२

अन्य स्थल पर भी श्रद्धा के लिए कहते हैं कि “श्रद्धा किसी विश्वास को ही स्वीकार कर लेने का नाम नहीं है। यह तो निश्चित आदर्श के लिए मन की शक्तियों के एकाग्रीकरण द्वारा आत्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न है।”

“श्रद्धा मानवता पर पड़ने वाला आत्मा का दबाव है। यह वह शक्ति है, जो मानवता को न केवल ज्ञान की दृष्टि से, अपितु आध्यात्मिक जीवन की समूची व्यवस्था की दृष्टि से उत्कृष्टतर की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है। सत्य की आन्तरिक अनुभूति के रूप में आत्मा उस लक्ष्य की ओर संकेत करती है, जिस पर पूरा प्रकाश बाद में पड़ता है।”^३ जैनदर्शन सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान स्वीकार करता है

१. वही, पृ० ४३० ॥

२. भगवद्गीता, अध्याय ४, पृ० १७३ ॥

३. वही, अध्याय १७, पृ० ३३३ ॥

उसी प्रकार गीता में भी श्रद्धा के पश्चात् ज्ञान का अस्तित्व माना है । तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते समय हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गीता में स्वयं भगवान् के द्वारा अनेक बार यह आश्वासन दिया गया है कि जो मेरे प्रति श्रद्धा रखेगा वह बन्धनों से छूटकर अंत में मुझे ही प्राप्त होगा । गीता में भक्त के योगक्षेम की जिम्मेदारी स्वयं भगवान् ही वहन करते हैं । जबकि जैनदर्शन में ऐसे आश्वासनों का अभाव है । गीता में वैयक्तिक ईश्वर के प्रति जिस निष्ठा का उद्बोधन है, वह सामान्यतया जैन परम्परा में अनुपलब्ध ही है ।

सामान्यतया जैन विचारणा में यदि हम सम्यग्दर्शन को दृष्टिपरक अर्थ में स्वीकार करते हैं, तो उसका हमारे जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है । सम्यग्दर्शन जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है । वह अनासक्त जीवन जीने की कला का केन्द्रीय तत्त्व है । हमारे चरित्र या व्यक्तित्व का निर्माण इसी जीवनदृष्टि के आधार पर होता है । गीता में इसी को यह कह कर बताया कि यह पुरुष श्रद्धामय है और जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बन जाता है । हम अपने को जो और जैसा बनाना चाहते हैं वह इसी बात पर निर्भर है कि हम अपनी जीवनदृष्टि का निर्माण भी उसी के अनुरूप करें । क्योंकि व्यक्ति की जैसी दृष्टि होती है वैसा ही उसका जीवन जीने का ढंग होता है और जैसा उसका जीने का ढंग होता है, वैसा ही उसका चरित्र बन जाता है । और जैसा उसका चरित्र होता है वैसा ही उसके व्यक्तित्व का उभार होता है । अतः एक यथार्थ दृष्टिकोण का निर्माण जीवन की सबसे प्राथमिक आवश्यकता है ।

यदि हम गीता के अनुसार सम्यग्दर्शन अथवा श्रद्धा को आस्तिक बुद्धि के अर्थ में लेते हैं और उसे समर्पण की वृत्ति मानते हैं तो भी उसका महत्त्व निर्विवादरूप से बहुत अधिक है । तनावरहित, शांत और समत्वपूर्ण जीवन जीने के लिए सम्यग्दर्शन या श्रद्धा युक्त होना आवश्यक है । उसी से वह दृष्टि मिलती है जिसके आधार पर अपने ज्ञान को भी सही दिशा में नियोजित कर उसे यथार्थ बना लेते हैं ।

श्रीमद्भागवत

श्रीमद्भगवद्गीता में सम्यग्दर्शन/श्रद्धा के स्वरूप का हमने अवलोकन किया। अब श्रीमद्भागवत में इसके स्वरूप पर विचार करेंगे। श्रीमद्भागवत सब पुराणों में सिरमौर है अतः इसे महापुराण कहते हैं। महामुनि व्यास, जिन्होंने वेदों का संपादन, ब्रह्मसूत्रादि तथा महाभारत की रचना की है, इसके भी रचयिता माने जाते हैं। इन अपूर्व ग्रंथों की रचना करने के बावजूद भी महर्षि वेदव्यास के मन में असंतोष एवं अतृप्ति बनी रही। उन्हें यह अनुभव होने लगा कि मेरे जीवन-कार्य में कुछ कसर रही प्रतीत होती है। इसका कारण व उपाय खोजने के लिए वे विचार करने लगे तब महर्षि नारद के सद्बोध से समाहितचित्त में स्फूर्ति हुई कि कलिकाल के जीवों के उद्धार के लिए सरल मार्ग-भक्तिमार्ग है, इस मार्ग की प्ररूपणा के लिए उन्होंने भागवत की रचना की। इस प्रकार श्रीमद्भागवत भक्तिमार्गीय तत्त्वज्ञान का एक अपूर्व ग्रंथ है, इसीलिए इसे “पारमहंसी संहिता” नाम से भी अभिहित किया गया है।

इस महापुराण में भगवद्भक्ति का ही विशेष रूप से निरूपण किया गया है। वास्तव में भागवत का प्रयोजन ही यह है कि भक्ति का उत्कर्ष दिखाकर मनुष्य को उस ओर प्रवृत्त करना। ग्रंथ के आदि मध्य और अंत में भक्ति का ही विवेचन किया है। इस ग्रंथ में ग्रंथकार ने भक्ति को ज्ञान वैराग्य से भी उत्कृष्ट स्वीकार की है। भक्तिप्रधान धर्म की श्रेष्ठता बताते हुए कहा कि “मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्ण में भक्ति हो”। भक्ति भी ऐसी हो जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरंतर बनी रहे; ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द स्वरूप परमात्मा की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण में भक्ति होते ही,

१ स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

अहेतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ॥ भा० पु०, १-२-६ ॥

अनन्य प्रेम से उनमें चित्त जोड़ते ही निष्काम ज्ञान और वैराग्य का आविर्भाव हो जाता है ।^१ तत्त्ववेत्तालोग ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं । उसी को कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान् के नाम से पुकारते हैं ।^२ श्रद्धालु मुनिजन भागवत श्रवण से प्राप्त ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्ति से अपने हृदय में उस परमतत्त्वरूप परमात्मा का अनुभव करते हैं ।^३ इसीलिए एकाग्र मन से भक्तवत्सल भगवान् का ही नित्य निरन्तर श्रवण, कीर्तनध्यान और आराधन करना चाहिये ।^४

भागवतकार ने श्रीकृष्णभक्ति को परमश्रेष्ठ स्वीकार किया है तथा ज्ञान व वैराग्य उसी के फलस्वरूप प्राप्त हो सकते हैं, ऐसा माना है । साथ ही यहाँ उपरोक्त कथन से यह लक्षित होता है कि जो ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति स्वीकार करते हैं उनका निषेध करके यहाँ भक्ति को प्रतिष्ठापित किया गया है ।

कर्मों को भस्मीभूत करने में भगवद् चिन्तन सहायक है उसका उल्लेख करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि “कर्मों की गांठ बड़ी है । विचारवान् पुरुष भगवान् के चिन्तन की तलवार से उस गांठ को काट डालते हैं ।^५ हृदय में आत्मस्वरूप भगवान् का साक्षात्कार होते ही हृदय

१. वासुदेवे भगवति भक्तियोग. प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥ वही, १-२-७ ॥

२. वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दघते ॥ वही, १-२-११ ॥

३. तच्छ्रद्धधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।

पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ॥

-वही, १-२-१२ एवं ३-२५-४३ ॥

४. तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥ वही, १-२-१४ ॥

५. यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।

छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ॥ वही, १-२-१५

की ग्रंथि टूट जाती है, सारे संदेह मिट जाते हैं तथा कर्मबंधन क्षीण हो जाता है ।^१ इस प्रकार भगवान् की प्रेममयी भक्ति से जव संसार की समस्त आसक्तियाँ मिट जाती हैं, हृदय आनन्द से भर जाता है, तब भगवान् के तत्त्व का अनुभव अपने आप हो जाता है ।^२ इसी से बुद्धिमान् लोग नित्य-निरंतर बड़े आनन्द से भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रेमभक्ति करते हैं, जिससे आत्मप्रसाद की प्राप्ति होती है ।^३

जैनदर्शन में जिस प्रकार सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए यथाप्रवृत्तकरण आदि तीन करणों से मोहनीय कर्म की दुर्भेद्य ग्रंथिभेदन का कथन है उसी प्रकार यहाँ पर भी कर्मों की गांठ-छेदन का कथन किया गया है । संशयमुक्ति सम्यक्त्व के होने पर हो जाती है, यहाँ भी संशय-मुक्ति का कथन किया गया है । साथ ही हमें यहाँ यह भी लक्षित होता है कि सम्यक्त्व के रूप में भगवद्भक्ति ग्राह्य है । हालांकि जैन संमत सम्यक्त्व में एवं भक्ति के स्वरूप में भिन्नता है फिर भी कुछ अंशों में इसे समकक्ष रखा जा सकता है । क्योंकि वहाँ सम्यक्त्व को मोक्ष की आधारशिला माना है उसी भांति यहाँ भगवद्भक्ति को मान्य किया है ।

भक्ति के विषय में कथन किया है कि “अनर्थों की शांति का साक्षात् साधन है-केवल भगवान् का भक्तियोग । परंतु संसार के लोग इस बात को नहीं जानते । यही समझकर उन्होंने इस परमहंसों की संहिता श्रीमद्भागवत की रचना की । इसके श्रवणमात्र से पुरुषोत्तम

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्लघन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥

-वही, १-२-२१ पं. ३-२६-२ ॥

२. एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।

भगवत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते ॥ वही, १-२-२० ॥

३. अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।

वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥ वही, १-२-२२ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति परम प्रेममयी भक्ति हो जाती है, जिससे जीव के शोक, मोह और भय नष्ट हो जाते हैं ।^१

यहाँ स्पष्ट होता है कि भक्ति से अनर्थों का उपशम हो जाता है तथा शोक, मोह और भय नष्ट हो जाता है । अज्ञान की निवृत्ति भी इसी से होती है उसका कथन है कि उनके भजन से जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालने वाले अज्ञान का नाश हो जाता है ।^२

भक्ति के विषय में स्वयं श्रीकृष्ण उद्धव जी से कहते हैं कि “उद्धव ! मेरी बढी हुई भक्ति जिस प्रकार मुझको सहज ही प्राप्त करा सकती है उस प्रकार न तो योग, न ज्ञान, न धर्म, न वेदों का स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है । मैं सन्तों का प्रिय आत्मा हूँ, एकमात्र श्रद्धा सम्पन्न भक्ति से ही मेरी प्राप्ति सुलभ है । दूसरों की तो बात ही क्या कुत्ते का मांस खाने वाले चाण्डालादिकों को भी मेरी भक्ति पवित्र कर देती है, मनुष्य में सत्य और दया से युक्त धर्म हो तथा तपस्या से युक्त विद्या भी हो परंतु मेरी भक्ति न हो तो वे धर्म और विद्या उनके अन्तःकरण को पूर्णरूप से पवित्र नहीं कर सकते । मेरे प्रेम से जब तक शरीर पुलकित नहीं हो जाता, हृदय द्रवित नहीं हो उठता, आनंद के आंसुओं की झड़ी नहीं लग जाती तब ऐसी मेरी भक्ति के बिना अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकता है ? भक्ति के आवेश में जिसकी वाणी गद्गद् हो गई है, चित्त द्रवित हो गया है, जो कभी रोता है, कभी हसता है, कभी संकोच छोड़कर ऊँची आवाज से गाने लगता है और कभी नाच उठता है ऐसा मेरा भक्त स्वयं पवित्र है इसमें तो कहना ही क्या, वह तीनों लोकों को पवित्र

१. अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे ।

लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसहिताम् ॥

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे ।

भक्तिरूपद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥ वही, १-७-६-७-॥

२. तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत ।

संसारहेतुपरमश्च यत्र ॥ वही, २-२-६ ॥

कर देता है। जिस प्रकार अग्नि से तपाए जाने पर सोना मैल को त्याग कर अपने स्वच्छ स्वरूप को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार मेरे भक्तियोग के द्वारा आत्मा भी कर्मवासना से मुक्त होकर मुझे भगवान् को प्राप्त हो जाता है।^१

यहाँ स्पष्ट है कि भक्ति से रहित ज्ञान और वैराग्य तप-दान आदि निष्फल है। जैसाकि आचारांग-सूत्रकृतांग आदि जैनागमों में भी उल्लेख है कि सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान चारित्र्य एवं धार्मिक अनुष्ठान निष्फल है/व्यर्थ है। इस प्रकार यहाँ समानता दृष्टिगत होती है।

भक्ति से मन कितना निश्चल होता है उसका उल्लेख किया है कि “जो मोक्ष के स्वामी भगवान् श्रीहरि की भक्ति करता है वह तो अमृत के समुद्र में खेलता है। छोटी तलैया में भरे गंदे जल के सदृश किसी भी भोग में या स्वर्गादि में उसका मन चलायमान नहीं होता।^२ जैसे धधकती हुई आग लकड़ियों के बड़े ढेर को जलाकर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पापराशियों को पूर्णतया जला देती है।^३

इस प्रकार उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि श्रीमद्भागवत में भक्ति को सर्वोत्कृष्ट बताया है। साथ ही इसमें ज्ञान वैराग्य और भक्ति से मुक्त नष्कर्म्य का आविष्कार किया गया है तथा भक्तिसहित ज्ञान का निरूपण हुआ है। श्रीमद्भागवत के तीसरे, चौथे, सातवें और बारहवें स्कंधों में जहाँ कहीं ज्ञान का प्रसंग आया है वहाँ बड़ी युक्ति और अनुभव की भाषा में निर्गुण तत्त्व का ही विवेचन हुआ है। ज्ञान की अंतरंग साधना में श्रवण, मनन निदिध्यासन को विशेष स्थान देने पर भी “न तत्रोपायसहस्राणाम्” इत्यादि कहकर भक्ति को

१ भाग०, ११-१४-२०-२५ ॥

२. भाग०, ६-१२ २१ ॥

३. वही, ११-१४-१९ ॥

ही मुख्य माना है। इसका कारण यह है कि ज्ञान का आविर्भाव होने के लिए शुद्ध अतःकरण की आवश्यकता होती है और भगवत् कामरूप भक्ति अन्य समस्त कामनाओं को नष्ट करने का कारण होने से अन्तःकरण शुद्धि का प्रधान साधन है। भागवतकार ने ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य किया है।^१

वास्तव में ज्ञान और भक्ति में कोई तात्विक भेद नहीं है, भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान है और ज्ञान की पराकाष्ठा भक्ति है। जहाँ भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ बतलाया गया है वहाँ भक्ति का अर्थ साधन भक्ति है और जहाँ ज्ञान को भक्ति से श्रेष्ठ बताया गया है वहाँ ज्ञान का अर्थ परोक्ष ज्ञान है। पराभक्ति और परमज्ञान दोनों एक ही वस्तु हैं। श्रीमद्भागवत में स्थान स्थान पर भक्ति और ज्ञान का वर्णन हुआ है। ज्ञान और भक्ति दोनों अंतरंग भाव है। इसीलिए अंतरंग में रहने वाला परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं।^२ परंतु इस विवेचन से यह न समझना चाहिये कि श्रीमद्भागवत में भक्ति का वर्णन साधन रूप में ही हुआ है। कई स्थल पर तो भागवतकार ने ज्ञान और मुक्ति से बढ़कर भक्ति को बतलाया है। कहा है कि “भगवान् भक्त को मुक्ति भी सहज में दे देते हैं परंतु भक्ति योग को वे सद्ज में नहीं देते।”^३

भागवत माहात्म्य में भक्ति नारद से कहती है कि “मेरा नाम भक्ति है, ये ज्ञान और वैराग्य नामक मेरे पुत्र हैं।”^४ यहाँ भागवतकार ने ज्ञान और वैराग्य से भक्ति का माहात्म्य अधिक बताया है। जिस प्रकार जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य से पूर्ववर्ती स्वीकृत किया है उसी प्रकार यहाँ भागवत में ज्ञान और वैराग्य की जन्मदात्री भक्ति को बताया है। यह कथन जैन मान्यता से साम्य रखता है।

१. डॉ० हरवंशलाल शर्मा, भागवत-दर्शन, पृ० १३७-१३८ ॥

२. वही, पृ० १३७-१३८ ॥

३. मुक्ति ददादि कर्हिचित्स्म न भक्ति योगम्, भाग०, ५-६-१८ ॥

४. भागवत माहात्म्य, अध्याय १, श्लोक ४५ ॥

किंतु साथ ही जैन विचार और हिन्दू विचारणा में अंतर यह है कि भागवत में भक्ति ईश्वर निष्ठा, ईश्वर कृपा से होती है। ईश्वरेच्छा के अभाव में भक्ति संभव नहीं। जैन विचार इससे भिन्न है, इनकी निष्ठा आत्मा में है। उनके अनुसार आत्मा कर्मों के अनुसार उसके फलस्वरूप संसार में भ्रमण करता है। स्वपुरुषार्थ द्वारा कर्म क्षय करके सम्यग्दर्शनादि से मुक्ति प्राप्त करता है। हिंदूओं में साध्य स्वयं साधक के पास आता है जबकि जैन में साधक स्वयं पुरुषार्थ करके साध्य की ओर बढ़कर उसे प्राप्त करता है। यह यहाँ भिन्नता है।

अन्य धर्म-दर्शन

अब तक हमने भारतीय दर्शनों में एवं महाभारत, गीता एवं भागवत में सम्यक्त्व विषयक विचारणा की। अब हम अन्य प्रचलित धर्म व दर्शनों में इसके स्वरूप पर दृष्टिपात करेंगे। चूंकि भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य है, अतः यहाँ अनेकानेक धर्मों का होना संभव है किंतु प्रमुख प्रचलित धर्मों का ही यहाँ हमने निरूपण किया है।

१. ईसाई धर्म-दर्शन

ईसाई धर्म यहूदी धर्म से उत्पन्न हुआ तथा दार्शनिक दृष्टि से यूनानी दर्शन से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुआ है। ईसाई दर्शन बाइबिल-ग्रंथ पर आधारित है, जिसके आद्य-प्रणेता ईसा-मसीह है। बाइबिल ग्रंथ में सम्यग्दर्शन को हम विश्वास या श्रद्धा रूप में देख सकते हैं। “योहान फाइस” ने ईसाई-दर्शन नामक पुस्तक में लिखा है कि “ईसाई धर्म में विश्वास या आस्था का विशेष महत्त्व है। इस आस्था में मुक्ति संबंधी निश्चय और मुक्तिदाता ईश्वर के प्रति श्रद्धा ये दोनों निहित हैं। दूसरे शब्दों में, विश्वास का तात्पर्य है : ईसा भक्त की ओर से मुक्तिकर्ता स्वरूप ईसा मसीह को आत्मसमर्पण।

यथार्थ के विश्वासी पुनर्जीवित ईसा का प्रभुत्व साक्ष्य मात्र के आधार पर स्वीकार करते हैं। विश्वास का मुक्ति से संबंध प्रतीत

होता है। पुनरुत्थान तो मुक्तिकार्य की सफलता को सिद्ध करता है। सैद्धान्तिकरूप से संतपौलुस पूर्वोक्त अर्थ में विश्वास को मुक्ति-प्राप्ति की शर्त मानते हैं। विश्वास को इसलिए मुक्ति की शर्त मानते हैं, क्योंकि मुक्ति परमेश्वर की ओर से अनुग्रह का दान ही है। फिर, वरदान को प्राप्त करने की उपर्युक्त मनोवृत्ति विश्वास जैसी ग्रहणशील भावना ही हो सकती है।

विश्वास और कर्म का विरोध इस बात से संबध रखता है। यदि वास्तव में मुक्ति ईश्वर के अनुग्रह का फल है, तो मानव कठोर परिश्रम करने पर भी उसे प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। ईसा के मुक्ति-कार्य के अभाव में मानव साधना की सिद्धि प्राप्त करने में असफलता अनिवार्य है। इसी अर्थ में कार्य व्यर्थ है; विश्वास ही मुक्तिदायक हो सकता है। “जो कर्म नहीं करता, किंतु उसमें विश्वास रखता है जो अधर्मी को धार्मिक बनाता है, तो वह अपने विश्वास के कारण धार्मिक माना जाता है।” इस संदर्भ में यह न भूला जाय कि संत पौलुस विशेष रूप से पूवार्द्ध का कर्मकाण्ड व्यर्थ समझते हैं। जब तक मुक्तिकर्ता ईसा का आगमन नहीं हुआ था, मुक्ति की संभावना ही नहीं हो सकी थी। इसलिए हम मानते हैं कि संहिता के कर्मकाण्ड द्वारा नहीं, बल्कि विश्वास द्वारा मनुष्य पापमुक्त होता है। कहने की जरूरत नहीं है कि कार्यरहित विश्वास भी निष्फल ही है। यह भी सत्य है कि साधना के अभाव में मानव मुक्ति को नहीं अपना सकता है। इसलिए कर्मों के अभाव में विश्वास अपने आप में निर्जीव है। विश्वास मानव की ओर से मुक्ति दान प्राप्त करने के लिए ग्रहणशीलता है।^१

डॉ भास्कर गोपालजी देसाई के अनुसार^२ मुक्तिमार्ग में प्रयाण करने के लिए प्रभु में और जीसस (ईसा) में एवं प्रभु की क्षमाशीलता तथा कृपाभावना पर श्रद्धा रखना और हृदय की पवित्रता

१. वही ॥

२. धर्मों नुं तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १७७ ॥

रखना अत्यावश्यक है। ईश्वर कृपापात्र वही व्यक्ति हो सकता है जिसने ईश्वर के आदेशानुसार जीवन जीया हो और जिसने अपने पाप का सच्चा प्रायश्चित्त किया हो।

कई ईसाई विचारकों का मत है कि मुक्ति श्रद्धा से प्राप्त होती है या कर्तव्यों अथवा कार्यों से। इस सम्बन्ध में विविध विचार प्रचलित हैं। सामान्यतया सत्य तो यही है कि ईसाई धर्म श्रद्धा और विश्वास का धर्म है पर कर्तव्य भी वहाँ उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। हकीकत में तो व्यक्ति के कर्तव्य उसके विश्वास की पाराशीशी के सदृश है और व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वास में कितका निष्ठावान् और अड़ग है; दर्शाती है। अतः यह कहना उचित है कि ईसाई धर्म में मुक्ति प्राप्ति में श्रद्धा और कार्य दोनों ही महत्त्वपूर्ण है।^१

ईसाई धर्म में कहा गया है कि “साधुजन व गृहस्थजन दोनों के लिए ही मुक्ति मार्ग खुला है। जो विश्वास और श्रद्धा से प्रभु के आदेशों का पालन करके, पापों का विनाश करता है तथा नवीन पापकर्मों में प्रवृत्त नहीं होता है वही मुक्तिमार्ग की ओर बढ़ सकता है।”^२

यहाँ स्पष्ट दिखाई देता है मुक्ति के लिए ईसाई धर्म में श्रद्धा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है तथा आचारांग सूत्र के सदृश “सम्भत्तदंसी न करेइ पावं” से यह तुलनीय है कि पाप कर्मों को त्यागना अनिवार्य है। दूसरा तथ्य यह हमारे सम्मुख आता है कि गृहस्थ व साधु दोनों श्रद्धा के अधिकारी हो सकते हैं। श्रद्धा से क्या नहीं हो सकता? उससे सम्बन्धित स्वयं ईसा मसीह के साथ घटित घटना का उल्लेख है कि “एक बार एक व्यक्ति ईसा के पास आया और पैरों में गिरकर गिड़गिड़ाकर कहने लगा—प्रभु मेरे पुत्र पर दया करो वह व्याधिग्रस्त है तथा बहुत पीड़ित है। आपके शिष्य भी उसे रोगमुक्त

१. वही, पृ० १७७ ॥

२. वही, पृ० १७७ ॥

नहीं कर सके। तब ईसा ने कहा कि ओ श्रद्धा बिना के लोगों ! मैं कब तक तुम्हारे साथ रहूँ ? उसे रोगमुक्त किया। तब शिष्यों ने पूछा कि हमसे वह रोगमुक्त क्यों नहीं हो सका ? तब ईसा ने कहा कि तुम्हारे में श्रद्धा का अभाव है। मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि यदि तुम में राई के दाने जितनी भी श्रद्धा हो और तुम यदि इस पर्वत को कहो कि यहाँ से दूर जा तो वह भी चला जाएगा। श्रद्धा के होने पर कुछ भी अशक्य नहीं। श्रद्धा से क्या नहीं हो सकता ?'

(संत माथ्थी कृत शुभ संदेश)

इस प्रकार के संदर्भ एवं दृष्टांत बाइबिल में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होते हैं कि श्रद्धा के कारण ईसा के स्पर्श एवं आज्ञा से अनेक रोगी व्याधिमुक्त हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रद्धा को ईसाई धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। श्रद्धा व्यावहारिक जीवन के लिए व आध्यात्मिक जीवन का अनिवार्य अंग माना गया है। यह श्रद्धा सम्यग्दर्शन रूप में कुछ अंशों में ब्राह्म हो सकती है। किंतु जैनदर्शन में जो इसका स्वरूपनिर्देश है उससे यह श्रद्धा भिन्नता लिए हुए है। किंतु यहाँ इतना तो निश्चित माना है कि श्रद्धा के बिना मुक्ति संभव नहीं।

इस्लाम-धर्म

ईसाई धर्म में सम्यग्दर्शन का विचार करने के पश्चात् अब इस्लाम-धर्म इस विषय पर विचार करेंगे। इस्लाम धर्म का उद्भव अरेबिया देश में हुआ। इस्लाम धर्म के संस्थापक पैगम्बर मुहम्मद थे। जिनका जन्म मक्का शहर में ईस्वीसन् ५७० में हुआ। इस्लाम-धर्म का ग्रन्थ "कुरान शरीफ" है।

"कुरान-शरीफ" में श्रद्धा विषय पर काफी चर्चा की गई है। उनके स्थलों पर श्रद्धा का विचार किया गया है। "कुरान-सार" में १. भगवान ईसु नो शुभसंदेश अने प्रेषितो नां चरितो, पृ० ५०, १४०, २१९ एवं पृ० २३, २०४; ५२, १३४; २८, १२४, २१३ ॥

उसका उल्लेख इस प्रकार किया है कि “ जो अव्यक्त पर श्रद्धा रखते हैं, प्रार्थना करते हैं उसे परमात्मा सब कुछ देता है ” और पूर्वजों को जो दिया गया है, वह दिव्य ज्ञान पर श्रद्धा रखने और परलोक में श्रद्धा रखने के कारण।^१ कुरान पर श्रद्धा रखने के लिए कहा गया है कि “ यह (कुरान) एक श्रद्धेय दूत का कथन है। यह कोई कवि की शब्द रचना नहीं, किंतु तुम लोग इसमें श्रद्धा कम रखते हो।^२ जिसमें श्रद्धा है उसके लिए इसमें प्रबोधन और शमन है।^३ किंतु जो श्रद्धाहीन है उनको ईश्वर मार्ग नहीं बताता है।^४ उसे दृष्टि प्राप्त नहीं होती किंतु जिसे यह दृष्टि प्राप्त हो जाती है वह सूक्ष्मदर्शी और सावधान होता है।^५ जो श्रद्धाहीन स्थिति में मृत्यु प्राप्त करता है उसके लिए दुःखद सजा तैयार होती है।^६ श्रद्धाहीन दुःखी होता है, यहाँ यह आशय निकलता है।

श्रद्धा के लिए तो यहाँ तक कहा है कि “ किसी जीव को ईश्वर की अनुज्ञा के बिना श्रद्धा रखना अशक्य है।^७ वह जिसे मार्ग-भ्रष्ट रखना इच्छता है, उसके लिए उसका हृदय बहुत संकुचित बनाता है, जैसे कि वह आकाश की चढ़ाई जोर देकर चढ़ता हो। इस प्रकार वह श्रद्धाहीनों की फजीती (बुरी गत) करता है।^८ वह ईश्वर श्रद्धा-प्रतिपालक है,^९ श्रद्धालु है।^{१०}

१. कुरान-सार, २-१-५ ॥
२. वही, ६९-४०-४१ ॥
३. वही, ४१-४४ ॥
४. वही, ३९-३ ॥
५. वही, ६-१०३ ॥
६. वही, ४-२७-१८ ॥
७. वही, १०-१००, पृ० ४२ ॥
८. वही, ६-१२५, पृ० ४३ ॥
९. वही, ५९-२३, पृ० ४५ ॥
१०. वही, ७-१४३, पृ० ४८ ॥

क्षमायाचना के लिए कहा है कि “परमात्मा के सिवा अन्य कोई भजनीय नहीं। अपने पाप के लिए श्रद्धावानों और श्रद्धावतियों के लिए क्षमा मांग।”^१

निष्ठावान् कौन ? तो कहा-निष्ठावान् वही है जिसने ईश्वर पर और उसके प्रेषित पर श्रद्धा रखी है और बाद में उस पर शंका नहीं करी तथा तन-मन-धन से ईश्वर के मार्ग में जूझते हैं, वे ही लोग सच्चे हैं।^२ जो श्रद्धा रखते हैं और सत्कृत्य करते हैं उनके भोजन में पाप नहीं है कारण यह है कि वे प्रभुपरायण रहकर श्रद्धा रखते हैं और सुकृत्य करते हैं। उस पर कर्तव्य पूर्ण कर के श्रद्धा रखते हैं और तत्कर्मपरायण रह कर सुकृत्य करते हैं। ईश्वर सत्कृत्य करने वाले पर अत्यंत प्रेम रखते हैं।^३

यदि कोई दम्भी मनुष्य यह कहे कि हम तो श्रद्धा रखते हैं तो यह कह कर छूट नहीं सकते, क्या उनकी परीक्षा नहीं होती ?^४ ईश्वर के वचन हैं कि—“मुझ पर श्रद्धा रखनी चाहिये, कि जिससे लोग सन्मार्ग पर आवे।” हे श्रद्धालुओ ! यदि ईश्वर के प्रति तुम्हारा कर्तव्य पूरा करोगे तो वे तुमको विवेक देंगे, बुद्धि देंगे। वे तुम्हारे दोष दूर करेंगे और तुमको क्षमा करेंगे।^५ ईश्वर ही श्रद्धावानों के चित्त में समाधान पैदा करते हैं कि जिससे उनकी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती जाय।^६ पश्चात् में अपने प्रेषितों को एवं लोगों को कि जो श्रद्धायुक्त हुए उनके मोक्ष दूंगा। इसी प्रकार हमारी जवाबदारी है कि श्रद्धावानों को मुक्त करें।^७

१. वही, ४७-१९, पृ० ५९ ॥

२. वही, ४९-१५, पृ० ६२-६३ ॥

३. वही, ५-९६, पृ० ६३ ॥

४. वही, २९-२-३, पृ० ६८ ॥

५. वही, २-१८६, पृ० ६९ ॥

६. वही, ८-२९, पृ० ७० ॥

७. वही, ४८-४ ॥

८. वही, १०-१०३ ॥

श्रद्धावान् और श्रद्धावती के लिए ईश्वर ने क्षमा और महान् पुण्यफल तैयार कर रखा है ।^१

श्रद्धावान् कौन है ? तो उसके लिए कथन किया है कि “जब ईश्वर का वर्णन किया जाय तब उसका हृदय कंपित होने लगे और जब उसके सन्मुख उसके वचनों का वांचन किया जाय तो ये वचन उसकी श्रद्धा में वृद्धि करे ।^२ धर्म का सार क्या है ? तो कहा गया है कि “धार्मिकता इसमें नहीं है कि तुम्हारा मुख पूर्व की ओर रखो या पश्चिम की ओर। धार्मिकता तो यह है कि मनुष्य ईश्वर पर और अंतिम दिन पर, देवदूतों पर और ईश्वरीय ग्रन्थों पर और प्रेषितों पर श्रद्धा रखे ।^३ इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ ईश्वर, गुरु और धर्म ग्रन्थों पर श्रद्धा रखने का सूचन किया है, जो श्रद्धा रखता है वह धार्मिक है। जैन संमत सम्यक्त्व का एक अर्थ देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा रखना भी है। उससे यहाँ तुलना की जा सकती है। यह वचन उससे साम्य रखता है।

जो श्रद्धायुक्त है उसके लिए तो पाप का नाम भी बुरा है। और जिसे ऐसा करने का पश्चाताप नहीं होता वही अत्याचारी है ।^४ यह कथन जैन आगम आचारांग के सदृश है।

श्रद्धावानों को उल्लेख करते इसमें कहा गया है कि हे श्रद्धावानों ! अति संशय से बचते रहो। निःसंदेह, कितनेक संशय पाप हैं ।^५ जैनदर्शन के समान यहाँ भी शंका न करने का आदेश दिया गया है। अतः शंका न करके “श्रद्धावानों को ईश्वर पर ही भरोसा करना चाहिये ।^६ यदि परमात्मा पर, उसकी वाणी पर श्रद्धा रखोगे

१. वही, ३३-३५ ॥

२. वही, ८-२ ॥

३. वही, २-१७७, पृ० १०५ एवं २-२८५, पृ० १०७ ॥

४. वही, ४९-११, पृ० १२२ ॥

५. वही, ४९-१२ ॥

६. वही, १४-११, पृ० १७५ ॥

और उसका अनुसरण करोगे तो तुमको मार्ग की प्राप्ति होगी।^१

इस प्रकार कुरान सार में श्रद्धा विषयक चर्चा की गई है। उसमें श्रद्धा अर्थ का अरबी भाषा में आए “ईमान” शब्द का किया है तथा निश्चय आस्तिकता व निष्ठा भी इसका अर्थ किया गया है। अरबी शब्द “मोमिन” का अर्थ श्रद्धावान्, भक्त किया है तथा श्रद्धाहीन, नास्तिक के लिए अरबी भाषा में “काफिर”, “मुल्हिद” शब्द प्रयुक्त हुए हैं।^२

इस्लाम धर्म में यह कहा है कि ईश्वर (अल्लाह) ही मेरा सहायक है, उस पर मुझे विश्वास है।^३ और अपने अनुयायियों को भी ईश्वर पर विश्वास करने को कहते हैं कि ईश्वर पर विश्वास रखो, ईश्वर ही तुम्हारा रक्षण करेंगे। ये लोग ईश्वरीय विश्वास के अतिसमीप हैं, इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि “वास्तव में जिन लोगों को धर्म पर श्रद्धा है और जो घर का त्याग करके ईश्वर के काम में अपनी मिलकत लगा देता है वह पैगम्बर का अनुसरण करता है।^४

इस प्रकार ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाले और पवित्र जीवन जीने वाले के लिए स्वर्ग में स्थान निश्चित है और उसे किस प्रकार का आनंद प्राप्त होता है?^५

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि इस्लाम धर्म में श्रद्धा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। श्रद्धा ही विकास का द्वार है। ईश्वरीय श्रद्धा को सर्वप्रथम माना है तथा आवश्यक माना है। इस श्रद्धा को सम्यग्दर्शन के लक्षण श्रद्धान के समकक्ष रखा जा सकता है।

१. वही, ७-१५८, पृ० १९४ ॥

२. वही, केटलाक शब्दार्थ, पृ० २१९ ॥

३-४. धर्मों नुं तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २०६ ॥

५. वही, पृ० २१९ ॥

उपसंहार

भारतीय दार्शनिक-धार्मिक साहित्य में हमने सम्यक्त्व के स्वरूप का अवलोकन किया। जैनदर्शन में ही नहीं अपितु लगभग सभी दर्शनों ने इसके अस्तित्व को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है।

जैनागम साहित्य में एवं आज जो सम्यक्त्व का अर्थ व स्वरूप प्रचलित है उसमें भिन्नता है। “आचारांग” एवं “सूत्रकृतांग” के प्रथम श्रुतस्कन्ध में एवं “दशवैकालिक” सूत्र में तो सम्यक्त्व व मुनि-जीवन का एकीकरण ही दृष्टिगत होता है। आत्मोपम्य की भावना से ओतप्रोत, अहिंसा, विवेक, अनवद्य-तप से युक्त चारित्र को सम्यक्त्व के अर्थ में व्यापक दृष्टिकोण से अनुलक्षित किया है। उपरोक्त गुणों की सुरक्षा भी पूर्णतया मुनिजीवन में ही संभव है। “सूत्रकृतांग” के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में संयतीमुनि के साथ व्रतधारी श्रावकों का भी सम्यग्दृष्टि होना बताया गया है। संयतीमुनि व श्रावक श्रद्धापूर्वक धर्मानुष्ठान करते हैं, यत्र-तत्र उसका भी उल्लेख मिलता है। किंतु सम्यक्त्व के स्वरूप ने श्रद्धारूपी बाना यहाँ धारण नहीं किया। “उत्तराध्ययन सूत्र” में सर्वप्रथम सम्यक्त्व को तत्त्वश्रद्धा स्वीकार किया व तत्त्वों का भी निर्देशन किया। अन्य आगमों में इसके भेद, प्रकार, अतिचार, अंग, लक्षण आदि का कथन किया।

आगेतर साहित्य में तत्त्वार्थसूत्र में वाचकवर्य उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन का स्वरूप स्पष्ट रूप से निर्धारित किया। उत्तराध्ययन सूत्र की अपेक्षा तत्त्वार्थसूत्र अधिक प्रकाश में आया। उसका कारण यह रहा कि सभी जैन संप्रदायों को तत्त्वार्थसूत्र ग्राह्य है। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों ने भी इसकी विशद चर्चा की। सम्यक्त्व के पर्यायवाची शब्द सम्यग्दर्शन, श्रद्धा, रुचि, प्रतीति विश्वास भी व्यवहृत होते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति में किसी ने ज्ञान को पश्चात्कर्ती

माना तो किसी ने सहभागी माना । तत्त्वार्थ के पूर्व नदीसूत्र में देववाचक गणि ने नदीसूत्र में कहा कि सम्यग्दृष्टि का श्रुत ही सम्यक् श्रुत अन्यथा वह मिथ्याश्रुत ही है । दिगम्बर साहित्य में भी सम्यक्त्व का यही स्वरूप स्वीकृत किया है । तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात्वर्ती सामान्यतया संपूर्ण जैन साहित्य में उसकी ही छाप दिखाई देती है । हां तत्त्वों के अन्तर्गत अवश्य फेरफार किया है । हरिभद्रसूरि ने तो सड़सठ भेद सम्यक्त्व के बताए हैं ।

जैनेतर दर्शनों में बौद्धदर्शन तो श्रमण भगवान् महावीर के समकालीन व सन्निकट रहा हैं अतः इनमें एक दूसरे का प्रतिबिम्ब झलकना स्वाभाविक है । त्रिपिटकों में सम्यग्दृष्टि को सम्माहिट्टी कहा गया तथा सम्यग्दृष्टि का श्रद्धायुक्त होना माना गया है । आर्य अष्टांगिक मार्ग में, शिक्षात्रय, आध्यात्मिक विकास की पांच शक्तियाँ, ओर पांच बल सभी में श्रद्धा का स्थान प्रथम माना है । श्रद्धा को सांख्यदर्शन एवं योगदर्शन ने विवेकख्याति कहकर सम्बोधित किया है । वेदांतदर्शन में ज्ञान में ही श्रद्धा को अन्तर्निहित किया गया है ।

महाभारत में श्रद्धा को सर्वोपरि माना है तथा श्रद्धा ही सब पापों से मुक्त कराने वाली है ऐसा मान्य किया है । गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को श्रद्धा धारण करने का उपदेश दिया और कहा कि श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है, वही संयती होता है । तदनन्तर वह आत्मा परब्रह्म को प्राप्त हो सकती है । ईसाई धर्म व इस्लाम धर्म ने भी श्रद्धा को प्राथमिकता दी है । सारांश यही है कि सर्वधर्म-दर्शनों ने श्रद्धा/सम्यग्दर्शन को मोक्ष का हेतु समवेत स्वर से स्वीकार किया है ।

आध्यात्मिक दृष्टि से तो सम्यग्दर्शन का स्थान महत्त्वपूर्ण है ही- किन्तु लौकिक जीवन में भी क्या इस का मूल्य है ? इस पर भी हम विचार करें । जैन मान्यतानुसार इसका हम यथार्थ दृष्टिपंरक अर्थ करते हैं तो भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है । क्योंकि यह

जीवन के प्रति ही एक दृष्टिकोण हो जाता है। अहिंसा-अनेकांत और अनासक्त जीवन जीने रूप में जीवन की कला इससे प्राप्त होती है। चूंकि जीवनदृष्टि के अनुसार ही व्यक्तित्व व चरित्र का निर्माण होता है। दृष्टि के अनुसार ही जीवन सृष्टि निर्मित होती है ऐसे उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। अतः यह अपने आप पर निर्भर है कि हमकों जैसा बनना है उसी के अनुरूप हम अपनी जीवनदृष्टि बनाये। क्योंकि जैसी दृष्टि होती है वैसा ही उसके जीवन जीने का ढंग होता है और जैसा उसके जीने का ढंग होता है, उसी स्तर से उसके चरित्र का निर्माण होता है और चरित्र के अनुसार ही उसके व्यक्तित्व में प्रतिभा आती है। अतः यथार्थ दृष्टिकोण होना जीवन निर्माण की दिशा में आवश्यकीय है।

जीवन में सम्यक्त्व की उपयोगिता

सैद्धान्तिक अपेक्षा से आध्यात्मिक विकास में सम्यक्त्व महत्त्वपूर्ण है ही किंतु व्यावहारिक जीवन में भी सम्यक्त्व अत्यंत उपयोगी है। सामाजिक क्षेत्र हो या पारिवारिक क्षेत्र हो, राजनैतिक क्षेत्र हो या आर्थिक क्षेत्र हो, धार्मिक क्षेत्र हो या नैतिक क्षेत्र हो, हर क्षेत्र में सम्यक्त्व उपयोगी है। क्योंकि सही दृष्टि सही दिशा की ओर ले जाती है। फलतः मंजिल तक पहुंचा देती है किन्तु गलत राह पर जाने वाला भटक जाता है सही राह वाला नहीं।

सामाजिक क्षेत्र में, पारिवारिक क्षेत्र में तथा उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में जीवन के आदर्शों के साथ परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखना, सम्यक् रीति से जीवन व्यतीत करना है। राजनैतिक व्यवस्था सम्यक् न होगी तो राष्ट्र में भ्रष्टाचार बढ़ता ही जावेगा, फलतः राष्ट्र का अनैतिकता के कारण पतन हो जायगा। धार्मिक व नैतिक क्षेत्र में तो स्पष्ट रूप से ही सम्यक्त्व की छाप दृष्टिगोचर होती है। धार्मिक सिद्धांतों का व्यावहारिक जीवन में उपयोग होना ही सम्यक्त्व है। यह शाश्वत सिद्धांत है कि “सदा सत्य बोलो” उसका व्यावहारिक

जीवन में उपयोग होना, नियमबद्ध होकर पालन करना सम्यक् सिद्धांत का पालन करना है । जीवन को सुव्यवस्थित रूप से, सुचारु रूप से प्रतिपादन करने में, उत्तरोत्तर आत्मिक गुणों के विकास में सम्यक्त्व ही सहायक है ।

मुमुक्षु के लिए सम्यक्त्व को जानना, उसे हृदयंगम करना आवश्यक है । क्योंकि मुमुक्षु ही सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकता है अन्य नहीं । सिंहनी का दुग्ध तो स्वर्णपात्र ही ग्रहण कर सकता है, अन्य धातु के पात्र नहीं ।

परिशिष्ट-१

‘सम्यक्त्व’ शब्द-सूचित ग्रंथ

‘सम्यक्त्व’ शब्द का माहात्म्य जैनदर्शन में अत्यधिक है। यह इस बात से सूचित होता है कि इस ‘सम्यक्त्व’ नाम को लेकर ही पूर्वाचार्यों ने अनेक रचनाएं प्रस्तुत कर दार्शनिक-साहित्य में अभिवृद्धि करी है। वैसे तो सम्यक्त्व विषय से तो सामान्यतया जैन साहित्य का कोई ही ग्रन्थ अछूता रहा हो। परन्तु स्वतन्त्र इस अभिधान को ही ग्रहण कर अनेकानेक रचनाएं हुईं और अद्यावधि हो रही हैं। प्राचीन आचार्यों की कृतियों का ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है यदि आधुनिक रचनाओं का भी इसमें समावेश किया जाय तो यह संख्या बढ़ती ही चली जायेगी।

निम्न ग्रन्थों में से भी आज प्रकाशित हो अत्यल्प ही है।

१. सम्यक्त्वकलिका-(ग्रंथाग्र ३०)
२. (क) सम्यक्त्वकुलक-१७ गाथा
३. (ख) सम्यक्त्वकुलक-३५ गाथा अमरचंद्रसूरि कृत
४. (ग) अज्ञातकर्तृक-प्राकृत
५. सम्यक्त्वकौमुदी (क)-१४८८ श्लोक, संस्कृत, सं. १५१४ में चैत्र गच्छीय गुणाकरसूरि कृत
६. सम्यक्त्वकौमुदी (ख)-ग्रंथाग्र ९९५, संस्कृत, सं. १४५७ में जयशेखर द्वारा रचित।
७. सम्यक्त्वकौमुदी (ग)-संस्कृत, १४८७ में जिनहर्षगणि द्वारा रचित (प्रकाशित)
८. सम्यक्त्वकौमुदी वृत्ति-संस्कृत, १४९७ में जयचंद्रगणि रचित

१. संख्या १ से ८१ तक ‘जिन रत्न कोष’ में से ली गई है।

पृ. ४२३ से ४२७ तक।

९. सम्यक्त्वकौमुदी (घ)-वत्सराज रचित
१०. सम्यक्त्वकौमुदी (ङ)-संस्कृत, ग्रंथाग्र ३३५२, सं. १५७३ में सोमदेवसूरि कृत
११. सम्यक्त्वकौमुदी (च)-धर्मकीर्ति रचित
१२. सम्यक्त्वकौमुदी (छ)-मंगरासा कृत
१३. सम्यक्त्वकौमुदी (ज)-मल्लिभूषण कृत
१४. सम्यक्त्वकौमुदी (झ)-यशःकीर्ति कृत
१५. सम्यक्त्वकौमुदी (ञ)-यशस्सेन कवि
१६. सम्यक्त्वकौमुदी (ट)-वादी भूषण
१७. सम्यक्त्वकौमुदी (ठ)-श्रुतसागर के शिष्य द्वारा रचित
१८. सम्यक्त्वकौमुदी (ड)-
१९. सम्यक्त्वकौमुदी (ढ)-दिगम्बर कर्ता, संस्कृत श्लोकबद्ध लगभग ३००० श्लोक एवं ८ कथाओं पर आधारित
२०. सम्यक्त्वकौमुदी (ण)-अज्ञात कर्त्तृक
२१. सम्यक्त्वकौमुदीकथा
२२. सम्यक्त्वकौमुदीकथानक (१)
२३. सम्यक्त्वकौमुदीकथानक (२) शाह जोधराज गोदिका कृत
२४. सम्यक्त्वकौमुदीकथाकोष-संस्कृत
२५. सम्यक्त्वकौमुदीचरित्र
२६. सम्यक्त्वगुण-११ गाथा
२७. सम्यक्त्वग्रहणगाथा
२८. सम्यक्त्व तत्त्वकौमुदी-संस्कृत में, सं० १३४३
२९. सम्यक्त्वदीपिका (१)-साधुरंग उपाध्याय
३०. सम्यक्त्वदीपिका (२)-उदयसागर
३१. सम्यक्त्वनिर्णय-भावविजय कृत, संस्कृत, १६७९ में (प्रकाशित)
३२. सम्यक्त्वपंचविंशतिका-द्वेवेन्द्र ? या हरिभद्र
३३. सम्यक्त्वपंचविंशतिका अवचूरी-
३४. सम्यक्त्व परीक्षा-१८० स्थान, संस्कृत विबुधविमल (प्रकाशित)

३५. सम्यक्त्व प्रकरण (दर्शनशुद्धि)-चंद्रप्रभसूरि
३६. सम्यक्त्व प्रकरण बृहद्वृत्ति-स्वोपज्ञ
३७. सम्यक्त्व प्रकरण-टीका-संस्कृत सं. ११८४ में विमलगणि द्वारा रचित
३८. सम्यक्त्व प्रकरण वृत्ति-देवभद्र द्वारा रचित ग्रंथाग्र ५२७.
३९. सम्यक्त्व प्रकरण वृत्ति अथवा रत्नमहोदधि-ग्रंथाग्र ८००० प्रारम्भ किया चक्रेश्वरसूरि ने पूर्ण किया उनके प्रशिष्य तिलकाचार्य ने, संस्कृत
४०. सम्यक्त्व प्रकरण टीका-अज्ञात कर्ता
४१. सम्यक्त्व प्रकरण वृत्ति-ग्रंथाग्र १२०००, प्राकृत कथाओं में
४२. सम्यक्त्व प्रकाश-अज्ञात
४३. सम्यक्त्वभावना
४४. सम्यक्त्वभावना अवचूरी
४५. सम्यक्त्वमहोदधि
४६. सम्यक्त्वमाला
४७. सम्यक्त्वरत्ननिलय
४८. सम्यक्त्वरहस्यस्तोत्र-सिद्धसूरि
४९. सम्यक्त्वलक्षण
५०. सम्यक्त्व विचार
५१. सम्यक्त्व विचार टीका-कमलसंयम
५२. सम्यक्त्व सत्ता
५३. सम्यक्त्व सप्ततिका अथवा दर्शन सप्ततिका-हरिभद्रसूरि
५४. सम्यक्त्व सप्ततिका विवरण-ग्रंथाग्र ७७११, संस्कृत, सं. १४२२ संघतिलकसूरि द्वारा ।
५५. सम्यक्त्व सप्ततिकावचूरी-गुणनिधानसूरि के शिष्य

५६. सम्यक्त्व सप्ततिकावृत्ति-देवेन्द्र
५७. सम्यक्त्व सप्ततिका टीका-शिवमंडनगणि, ग्रंथाग्र ३५७.
५८. सम्यक्त्व सप्ततिका बालावबोध-रत्नचंद्र गणि संस्कृत, सं. १६७६
५९. सम्यक्त्व सप्ततिकावचूरी-कर्त्ता-अज्ञात
६०. सम्यक्त्व संभव-जयतिलकसूरि
६१. सम्यक्त्व सार-कर्त्ता-अज्ञात
६२. सम्यक्त्व सार वृत्ति-संघतिलकसूरि
६३. सम्यक्त्व सारकुलक-विनयसागरगणि
६४. सम्यक्त्व स्तव-२५गाथा. कर्त्ता-अज्ञात
६५. सम्यक्त्व स्तव-अवचूरी-मुनिमेघ (शिष्य. कमल संयम)
६६. सम्यक्त्व स्तव अवचूरी-गजसार, संस्कृत, १५६१.
६७. सम्यक्त्व स्तोत्र
६८. सम्यक्त्वस्वरूप
६९. सम्यक्त्वस्वरूप -१०४ गाथा, जिनचंद्रगणि
७०. सम्यक्त्वस्वरूप संबोधन-पूज्यपाद
७१. सम्यक्त्वस्वरूप संबोधन टीका-प्रभाचंद्र
७२. सम्यक्त्वस्वरूप स्तव-२५ प्राकृत गाथा. ज्ञानसागर के शिष्य (प्रकाशित प्रकरण रत्नाकर, भाग-२ भीमसी माणिक)
७३. सम्यक्त्वस्वरूप स्तवन-देवेन्द्रसूरि, २५ गाथा
७४. सम्यक्त्वस्वरूप स्तवन टीका-शिवमंडन
७५. सम्यक्त्वस्वरूप स्तवन टीका-अज्ञात
७६. सम्यक्त्वस्वरूप गर्भितवीर स्तव
७७. सम्यक्त्वालंकार-विवेकसमुद्र गणि
७८. सम्यक्त्वोपादानविधि-२९ गाथाएं, मुनिचंद्र

७९. सम्यक्त्वोपायविधिकुलक-२९ स्थान "प्राकृत" मुनिचंद्र
८०. सम्यक्त्वोद्धार
८१. सम्यग्दर्शनविचार-संस्कृत
८२. सम्यग्दृष्टिद्वात्रिंशिका-परमानन्द
८३. दर्शन प्राभृत-कुंदकुंदाचार्य^१
८४. दर्शन माला -
८५. दर्शन रत्नाकर-संस्कृत, १५७० में सिद्धान्तसार द्वारा
८६. दर्शन स्तोत्र-१२ स्तवक, अज्ञात कर्ता
८७. दर्शनाष्टक-अज्ञात कर्ता

१. संख्या ८५-८७ 'जिनरत्नकोश' पृ. १६७-१६८,

परिशिष्ट-२

जैन पारिभाषिक शब्द सूची

अच्छन्दा

-स्वच्छन्द

अतिचार

-(१) व्रत के देशतः भंग होने का नाम अतिचार है ।

(२) व्रत में शिथिलता अथवा कुछ असंयम सेवन का नाम अतिचार है । जै.ल. १/२७.

अध्यवसाय

-मानसिक वृत्तियों को अध्यवसाय कहते हैं ।

अनन्तानुबन्धी

-(१) जिस कर्म का उद्भय होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता और यदि वह उत्पन्न हो चुका है तो नष्ट हो जाता है उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं ।

(२) अनन्त भवों की परम्परा को चालू रखने वाली कषायों को अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं । जै.ल., १/४७.

अन्तर्मुहूर्त

-दो घड़ी अर्थात् २४+२४=४८ मिनट को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं ।

अन्तराय कर्म

-जैन संमत आठ कर्म के भेदों में यह चतुर्थ है । जिसका अर्थ है शक्ति होने पर भी विघ्न आना ।

अपोह

-जिसके द्वारा संशय के कारणभूत विकल्प को दूर किया जाय, ऐसे ज्ञान विशेष को अपोह/अपीहा कहते हैं। जै. ल. १/१०३.

अबहुश्रुत-बहुश्रुत

-जिसने आचार कल्प का अध्ययन नहीं किया अथवा पढ़करके भी उसे भुला दिया है वह व्यक्ति अबहुश्रुत एवं इसके विपरित बहुश्रुत है। जै. ल. १/१०९

अर्द्धपुद्गल परावर्तन

-जीव पुद्गलों का ग्रहण करके शरीर, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करता है। जब कोई जीव जगत में विद्यमान समग्र पुद्गल परमाणुओं को आहारक शरीर के सिवाय शेष सब शरीरों के रूप में तथा भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करके उन्हें छोड़ दे-इसमें जितना काल लगता है, उसे पुद्गल परावर्तन तथा इससे आधे काल को अर्द्धपुद्गल परावर्तन कहते हैं त. सू. (संघवी सुख.) १७. (टि.)

अस्तिकाय

-जैनागम में पंचास्तिकाय बहुत प्रसिद्ध हैं ↓ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य स्वीकार किये गये हैं। इनमें कालद्रव्य तो प्रदेश-परमाणु मात्र प्रमाणवाला होने से कायवान नहीं है। शेष पांच द्रव्य अधिक प्रदेश प्रमाण वाले होने के कारण कायवान हैं। वे पांच अस्तिकाय हैं।

जै. सि. को. भा. १. १/२२०.

आतापना लेना

-यह कायक्लेश तप का अंग है। इसमें खड़े रहकर, एक पार्श्व मृत की तरह सोकर, वीरासनादि से बँडकर शीत, वात, ताप आदि को जानवृझ कर सहते हैं।

आवली

-यह काल का एक प्रमाण विशेष है। जघन्य युक्तासंख्यात समयों की एक आवली होती है। जै. सि. को. भा. -१/२९३.

ईहा

-इसे मतिज्ञान का भेद माना है। यद्यपि साधारणतः प्रतीति में नहीं आता, परन्तु इन्द्रियों द्वारा पदार्थ को जानने के क्रम में आता है उसमें अवग्रह के पश्चात् आता है। वस्तु के अस्पष्ट ग्रहण को स्पष्ट करने के प्रति उपयोग की उन्मुखता विशेष को ईहा कहते हैं। जै. सि. को. भा.-१/३६३. उहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा ये ईहा के नामान्तर हैं। जै. ल. १/२४२.

उपशान्ताद्धा

-जिस काल में मिथ्यात्व उपशान्त रूप में रहता है उसे उपशान्ताद्धा कहते हैं। जै. ल. १/२७९.

एकल-विहार प्रतिमा

-जिनकल्प प्रतिमा अर्थात् एक मासिकी प्रतिमा अंगीकार करके साधु के अकेले विचरने रूप अभिग्रह को एकल-विहार-प्रतिमा कहते हैं। जै. सि. बो. सं. ३/३९.

कषाय

-आत्मा के भीतरी कलुष परिणाम को कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय प्रसिद्ध हैं। जै. सि. को २/३३.

कोटाकोटी

-सौ से गुणित लक्ष को (१०००००×१००) कोटी कहते हैं। कोटी को कोटी से गुणा करें तो कोटाकोटी होता है। जै. ल. २/३७४.

गण

-जो साधु स्थविर-मर्यादा के उपदेशक या श्रुत में वृद्ध होते हैं, उनके समूह को गण कहते हैं। जै. ल. २/४०६.

गवेषणा

-देखो ईहा।

घर्षण धोलन्याय

-नदी के किनारे पर जो पत्थर हैं वे पानी की रगड़ से गोल हो जाते हैं उस प्रक्रिया को घर्षण-धोलन्याय कहा जाता है ।

चतुर्दशपूर्व

-तीर्थ का प्रवर्तन करते समय तीर्थकर भगवान् जिस अर्थ का गणधरों को पहले पहल उपदेश देते थे अथवा गणधर पहले-पहले जिस अर्थ को सूत्र रूप में गूँथते थे उन्हें पूर्व कहा जाता है । ये पूर्व चौदह हैं । जै. सि. बो. सं. ५/१२.

चल-मलिन-भगाढ दोष

-ये सम्यग्दर्शन के दोष हैं । कुछ काल स्थिर रहकर चलायमान हो जावे वह चल दोष है । जै. सि. को. २/२७९. शंकादि दूषणों से कलंकित हो वह मलिन दोष है, जै. सि. को. ३/२९९. वृद्ध-पुरुष के हाथ की लकड़ी के कम्पन के सदृश जो सम्यग्दर्शन में स्थित होने पर भी सकम्प है वह अगाढ वेदक सम्यग्दर्शन है । वहीं, १/३३.

चौबीस दण्डक

-स्वकृत कर्मों के फल भोगने के स्थान को दण्डक कहते हैं । संसारी जीवों के चौबीस दण्डक हैं । जै. सि. बो. सं. ६/२०५.

जघन्य

-सबसे कम प्रमाण को जघन्य कहते हैं ।

जीवनिकाय

-निकाय शब्द का अर्थ है राशि । जीवों की राशि जीवनिकाय है । इनके छः भेद हैं—पृथ्वीकाय, अष्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय । जै. सि. बो. सं. १/६३-६४.

ज्ञानावरणीय कर्म

-जैन संमत आठ कर्मों में प्रथम कर्म है । ज्ञान को ढांकने वाला कर्म ज्ञानावरणीय है । जै. ल. २/४७६.

तीन गुप्ति

—योगों का जो प्रशस्त निग्रह है वह गुप्ति है। यह तीन प्रकार की है—मन, वचन और काया। त. सू. ३३५.

त्रसहिंसा

—अपनी रक्षार्थ स्वयं चलने फिरने की शक्ति वाले जीव त्रस कहलाते हैं। दोइन्द्रिय से संज्ञीपंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस हैं, उनकी हिंसा करना त्रसहिंसा है। जै. सि. को. ३/३९७.

दर्शनावरणीय

—जैन संमत आठ कर्मों में यह दूसरा कर्म है। जो पदार्थ के दर्शन में बाधक हो अथवा दर्शनगुण के आवारक कर्म को दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। जै. ल. २/५१५.

दलिक

—कर्मपुद्गल के समूह को दलिक कहते हैं।

द्रव्यार्थिक नय

—देखो नय।

नय

—जिससे वस्तु के एक अंश का बोध हो वह नय कहलाता है। इसके मुख्य द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो भेद हैं। वस्तु के सामान्य अंश को ग्रहण करे वह द्रव्यार्थिक नय एवं विशेष अंश को ग्रहण करे वह पर्यायार्थिक नय है। त. सू. १३.

निदान कर्म

—अपने चित्त में संकल्प करना कि मेरी तपस्या से मुझे अमुक फल प्राप्त हो, इसे निदान अथवा नियाणा कर्म कहते हैं। जै. सि. बो. सं. ३/२१५.

निर्ग्रन्थ प्रवचन

—जिसमें राग द्वेष की गांठ नहीं है उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं अर्थात् वीतराग ने जो कहा है उनके वचन निर्ग्रन्थ प्रवचन हैं।

निश्चय नय

-शुद्ध द्रव्य के निरूपण करने वाले नय को निश्चय या शुद्ध नय कहते हैं । जै. ल. २/६२९.

निह्नव

-जो व्यक्ति किसी महापुरुष के सिद्धान्त को मानता हुआ भी किसी विशेष बात में विरोध करता है और फिर स्वयं एक अलग मत का प्रवर्तक बन बैठता है उसे निह्नव कहते हैं । जै. सि. बो. स. २/३४३.

पंचेन्द्रिय तिर्यच

-पांच इन्द्रिय वाले जीवों के चार वर्ग हैं—देव, नारक, मनुष्य और तिर्यच । पशु-पक्षी आदि पंचेन्द्रिय तिर्यच हैं । त. सू. ९९

परिणाम

-वस्तु के भाव को परिणाम कहते हैं, वह दो प्रकार का है गुण और पर्याय । जै. सि. को. ३/३०.

पर्याप्त

-जिस कर्म के उदय से जीव पर्याप्त होते हैं वह पर्याप्त नाम कर्म है । इसके उदय से आहारादि छः पर्याप्तियों की रचना होती है । जै. सि. को. ३/४१.

पर्यायार्थिक नय

-देखो नय ।

पांच समिति

-मुनि जीवन की सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति का नाम समिति है । ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापण ये पांच समिति संयम शुद्धि के कारण कही गई है । जै. सि. को. /४३४०.

पासत्था

-जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, और प्रवचन में सम्यक् उपयोग वाला नहीं है । ज्ञानादि के समीप रहकर भी जो उन्हें अपनाता

नहीं है ऐसा साधु पासस्थ अथवा पाशस्थ है। जै. सि. बो. सं. ३५७-३५८.

प्रतिपाती अप्रतिपाती

-चारित्र्य रूपी शिखर से गिरने को प्रतिपाती और न गिरने को अप्रतिपाती कहते हैं। जै. ल. १/१०४.

प्रदेश

-आकाश के छोटे से छोटे अविभागी अंश का नाम प्रदेश है अर्थात् एक परमाणु जितनी जगह घेरे उसे प्रदेश कहते हैं। जै. सि. बो. ३/१३५.

पृथ्वीकाय

-जिन जीवों का शरीर पृथ्वीरूप हो वे पृथ्वीकाय कहलाते हैं। जै. सि. बो. सं. २/६४.

भवसिद्धिक जीव

-जिन जीवों के मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता होती है वे भवसिद्धिक या भव्य, उससे रहित को अभव्य कहते हैं। जै. सि. बो. सं. १/७.

भव्य-अभव्य

-देखो. भवसिद्धिक जीव।

मतिश्रुत अज्ञान

-मिथ्यात्व के उदय के साथ विद्यमान ज्ञान को भी अज्ञान कहा जाता है जो तीन प्रकार का है-मत्याज्ञान, श्रुताज्ञान, विभंगज्ञान।

मार्गणा

-देखो ईहा।

मोहनीयकर्म

-आठ कर्मों में मोहनीय सर्व प्रधान है। जो मूढ़ करता है वह मोहनीयकर्म है। इसके दो भेद हैं-१. दर्शनमोहनीय २. चारित्र्यमोहनीय।

लेइया

-कषाय से अनुरंजित जीव की मन, वचन और काय की प्रवृत्तिभाव लेइया कहलाती है। ये छः होती हैं जिसमें तीन शुभ और तीन अशुभ हैं। जै. सि. को. ३/४३४.

लोकनाडी

-लोक के बीचोंबीच की एक लम्बी रेखा उसे लोक नाड़ी या नाली कहते हैं। जै. सि. बो. सं. ५/४८.

विकुर्वणा

-वैक्रिय शरीरस्थ जीव द्वारा रूप परिवर्तन की प्रक्रिया को विकुर्वणा कहते हैं।

वीर्यलब्धि

-ज्ञान आदि शक्ति विशेष को लब्धि कहते हैं। ये पांच प्रकार की है-दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य।

वैक्रियलब्धि

-देवों और नारकियों के चक्षु अगोचर विशेष लब्धि को वैक्रिय लब्धि कहते हैं। देवादि का शरीर वैक्रिय होता है। यह छोटे-बड़े, हल्के-भारी अनेक रूपों में परिवर्तित किया जा सकता है। किन्हीं योगियों के ऋद्धि के बल से भी, किसी विशेष तप आदि के करने पर होती है इसे वैक्रियलब्धि कहते हैं। जै. सि. को. ३/६०९-११.

वैमानिक

-देव चार निकाय अर्थात् जाति के हैं-१. भवनपति, २. व्यन्तर, ३ ज्योतिष, ४. वैमानिक। वैमानिक देवों के बारह भेद हैं।

व्यवहार नय

लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। जैसे-जो सत् है वह द्रव्य है या पर्याय। स्थूल नय को भी व्यवहार नय कहा जाता है। जै. सि. बो. सं. २/४१५.

श्रुतज्ञान

-मतिज्ञान के बाद होने वाले एवं शास्त्रों को सुनने और पढ़ने से इन्द्रिय और मन द्वारा जो ज्ञान हो वह श्रुतज्ञान है। जै.सि.बो.सं. १/१३

संज्ञी पंचेन्द्रिय

-पांच इन्द्रिय वाले जीव दो प्रकार के हैं-१. संज्ञी-जो कि मन वाले हैं और २. असंज्ञी-जिनके कि मन का अभाव होता है।

सागरोपम

-यह काल का एक प्रकार है। दस कोड़ा-कोड़ी पल्योपम को सागरोपम कहते हैं तथा पल्य अर्थात् कूप की उपमा से गिना जाने वाला काल पल्योपम कहलाता है। जै.सि.बो.सं. १/२३:

स्तनितकुमार

-देवों में यह भवनपति नामक देवनिकाय का भेद है। ये कुमार इसलिए कहे जाते हैं कि ये कुमार की तरह मनोज्ञ व सुकुमार होते हैं। स्तनितकुमार का चिन्ह शराव संपुट है। त.सू. १६२.

स्पर्धक

-किसी भी द्रव्य की शक्ति के अंशों में जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त जो क्रमिक वृद्धि या हानि होती है उसी से यह स्पर्धक उत्पन्न होते हैं। जै.सि.को. ४/४७३.

संकेत

जै. ल.	= जैन लक्षणावली
जै. सि. को.	= जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश
जै. सि. बो. सं.	= जैन सिद्धान्त बोल संग्रह
त. सू.	= तत्त्वार्थ सूत्र (संघवी सुखलाल)

संदर्भ ग्रंथ सूची

(१) मूल ग्रन्थ

अंगुत्तर निकाय (मूल)

- संपा. सिद्धु कश्यप जगदीश,
बिहार सरकार : पाली प्रकाशन मंडल, १९६०.
संपा. अनु. आनन्द कोसल्यायन,
कलकत्ता : महाबोधि सभा ।

अध्यात्मकल्पद्रुम

- सुंदरसूरी अनु. कापड़िया मोतीचंद गिरधरलाल
भावनगर : जैन धर्म प्रसारक सभा, १९०९ प्रथमावृत्ति ।

अध्यात्मसार

- यशोविजय, संपा. पद्मविजय मुनि,
दिल्ली : निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, प्रथमावृत्ति, १९७६.

अनुयोगद्वार सूत्र

- संपा. कन्हैयालालजी म, प्रथमावृत्ति, १९६७,
राजकोट : अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति ।

अन्तकृद्दशांग सूत्र

- अनु. हस्तिमलजी म., प्रथमावृत्ति, १९६५
जयपुर : सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल ।

अभिधर्मकोश

- वसुबन्धु, संपा. अनु. आचार्य नरेन्द्र देव, प्रथमावृत्ति
इलाहबाद : हिन्दुस्तानी एकादमी ।

आगमसार

-देवचन्द्र, १९०८ : राजेन्द्र कार्यालय

आचारदिनकर

-वर्धमानसूरि

बम्बई : पांजरापोल लाल बाग, १९२२ ।

आचारांग सूत्र

-अनु. सौभाग्यचन्द्रजी म., संपादक बसंतीलाल नलवाया

उज्जैन : जैन साहित्य समिति, प्रथमावृत्ति, १९५०

आचारांग चूर्णि

-जिनदास गणिवर्य

रतलाम : ऋषभदेव केशरीमल ।

आचारांग वृत्ति एवं निर्युक्ति

-शीलांकाचार्य एवं भद्रबाहू ।

महेसाना : आगमोदय समिति, प्रथमावृत्ति, १९१७ ।

आत्मानुशासनम्

-गुणभद्राचार्य अनु. जैनी जे. एल. ।

आगास : श्रीमद्राजचन्द्र निजाभ्यास मण्डप, प्रथमावृत्ति, १९५८.

आवश्यकसूत्र

-सम्पादक : मुनि कन्हैयालालजी, द्वितीयावृत्ति, १९५८.

राजकोट : अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति ।

आवश्यक निर्युक्ति दीपिका भाग १-२

-जिनभद्रगणि

भावनगर : गुलाबचन्द लल्लुभाई, १९३९ ।

उपदेशमाला

-क्षमाश्रमण धर्मदास गणि, अनु. पद्मविजय, संपा. नेमिचंद्र

दिल्ली : निर्धन्ध साहित्य प्रकाशन, प्रथमावृत्ति, १९७१.

उपनिषद् ज्योति भाग ।

-संपा. पटेल मगनभाई चतुरभाई
अहमदाबाद, प्रथमावृत्ति, १९२९.

उपनिषद् समुच्चय

-संपा. स्वामीशिवानन्दजी
आंत्रोली : शिवाश्रम, प्रथमावृत्ति, १९६०.

उपासकदशांग

-अनु. आत्मारामजी म., संपा. शास्त्री डॉ. इंद्र चन्द्र
लाहौर : जैनशास्त्रमाला, प्रथमावृत्ति, १९६०.

उपासकदशाश्रुतवृत्ति

-अभयदेवसूरि
भावनगर : आत्मानन्द सभा, १९७७.

कर्मग्रन्थ (सटीकाश्चत्वार कर्मग्रन्थाः)

-देवेन्द्रमुनि, संपा. चतुरविजयमुनि,
भावनगर : आत्मानन्द जैन सभा, प्रथमावृत्ति, १९३४.

कर्म प्रकृति

-नेमिचन्द्रसूरि संपा. शास्त्री हीरालाल
बनारस : भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथमावृत्ति, १९६४.

कर्म प्रकृति

-शिवरामसूरि, मलयगिरि टीका, अनु. चंदुलाल नानचंद्र
पादरा : आत्मज्ञान प्रकाशक मंडल, १९२०.

कपाय पाहुड (जयधवला टीका) भाग-१२.

-गुणधराचार्य, टी. वीरसेनाचार्य, संपा. फूलचन्द्र कैलाशचन्द्र
मथुरा : भा. दि. जै. संघ चौरासी, प्रथमावृत्ति, १९७१.

कुंदकुंद प्राभूत संग्रह

-संपा. जैन कैलाशचन्द्र शास्त्री
शोलापुर : जैन संस्कृति रक्षक दल, प्रथमावृत्ति, १९६०.

गोम्मतसार (जीवकाण्ड)

- नेमिचन्द्रजी, छाया. टीका. जैन पं. खूबचन्द्र
बम्बई : निर्णय सागर प्रेस, प्रथमावृत्ति, १९१६.

गोम्मतसार (कर्मकाण्ड)

- नेमिचन्द्रजी, अनु. संपा. जैनी ए. एल.
बम्बई : निर्णय सागर प्रेस, प्रथमावृत्ति, १९६९.

ज्ञाताधर्मकथांग (वृत्ति निर्युक्ति सह)

- वृत्ति. अभयदेवसूरि निर्युक्ति भद्रबाहू
महेसाना : आगमोदय समिति, १९१९.
संपा. अनु. भारिल्ल शोभाचन्द्र
पाथर्डी : त्रि. र. धा. परीक्षा बोर्ड, प्रथमावृत्ति, १९६४.

ज्ञानसार (भाग १-२)

- यशोविजयजी, संपा. भद्रगुप्तविजयजी
हारीज : विश्व कल्याण प्रकाशन

ज्ञानार्णव

- शुभचन्द्राचार्य, संपा. वाकलीवाल, पं. पन्नालाल
बम्बई : परमश्रुत प्रभावक मंडल, द्वितीयावृत्ति, १९१३.

टाण

- संपा. नथमल मुनि
लाडनू : जैन विश्व भारती प्रथमावृत्ति, १९७६.

तत्त्वार्थ सूत्र-उमास्वाति

- (क) सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, संपा. शास्त्री फूलचन्द्र,
वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ, द्वितीय संस्करण, १९७१.
-(ख) सभाष्य टी. सिद्धसेन गणि, संपा. कापडिया हीरालाल रसिकदास
बम्बई : जीवनचन्द्र साकरचन्द्र झवेरी, प्रथम संस्करण, १९१५.
-(ग) राजवार्तिक, अकलंक देव, संपा. जैन महेन्द्रकुमार
भाग १-२. काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथमावृत्ति १९५३, १९५७.

- (घ) श्लोकवार्त्तिकालंकार-विद्यानंदी, संपा.-कौंदेय माणिक चन्द्र
न्यायाचार्य, कलकत्ता : भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था ।
- (च) तत्त्वार्थ वृत्ति-श्रुतसागर संपा. महेन्द्र कुमार
काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथमावृत्ति, १९१८.
- (छ) तत्त्वार्थ सूत्र विवेचक संघवी सुखलाल संपा. शास्त्री कृष्णचन्द्र
बम्बई : आत्मा. जन्म शतान्दी स्मारक महावीर प्रेस,
प्रथमावृत्ति, १९४०.

दशवैकालिक सूत्र

- शय्यंभव सूरि संपा. अमरमुनि
लाहौर : जैन शास्त्रमाला कार्यालय, प्रथमावृत्ति, १९४६.

दशाश्रुत स्कन्ध

- सम्पादक आत्मारामजी म.
लाहौर : जैन शास्त्रमाला कार्यालय, प्रथमावृत्ति, १९३६.

दीघ निकाय (मूल) भाग १-२

- सम्पादक भिक्षु कश्यप जंगदीश
बिहार सरकार : पाली प्रकाशन मंडल, १९५८.
- अनु. सम्पादक सांकृत्यायन, राहुल
बनारस : महाबोधि सभा, १९३६.

धर्मविन्दु

- श्रीमद् हरिभद्र सूरि, भावनगर : जैन आत्मानंद सभा,
द्वितीयावृत्ति, १९२७.

नंदिसुत्त अणुओगद्दाराइं

- सम्पादक पुण्यविजय मुनि, मालवणिजा : दलमुख, अमृतलाल
बम्बई : महावीर जैन विद्यालय, प्रथम संस्करण, १९६८.

नंदीसूत्र

- अनु. सम्पादक आत्मारामजी म.
लुधियाना : आत्माराम जैन प्रकाशन समिति प्रथमावृत्ति, १९६६.

नियमसार

-कुंदकुंदाचार्य सम्पादक ब्र. शीतल प्रसाद

बम्बई : जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, प्रथमावृत्ति, १९१६.

निशीथसूत्र चूर्णि सह भाग १-४.

-तिसाह गणि, चूर्णि. जिनदास महत्तर, सम्पादक अमर सुनि
कन्हैयालाल मु.

आगरा : सन्मति ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, १९५८.

न्यायदर्शन सभाष्य

-सम्पादक शास्त्री दुण्डिराज

वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरिज, द्वितीय संस्करण, १९७०.

पंचसंग्रह

-चन्द्रमहत्तराचार्य सम्पादक जैन, पं. हीरालाल

काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथमावृत्ति, १९६०.

पंचसूत्रम्

-चिरन्तनाचार्य

व्यावर : जैन साहित्य प्रचार समिति, प्रथम संस्करण, १९६०.

पंचाध्यायी

-पं. कवि राजमल्ल सम्पादक फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

बनारस : गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला प्रथम संस्करण, १९५०.

पंचास्तिकायसार-कुंदकुंदाचार्य

-सम्पादक चक्रवर्तिनयनर ए. आरा : सेन्द्रल जैन पब्लिशिंग

हाउस, १९२०

पणवणणा सुत्त भाग १-२.

-सम्पादक पुण्यविजय मु., मालवणिया दलमुख, अमृतलाल

बम्बई : महावीर जैन विद्यालय, प्रथम संस्करण, १९२५, १९२७.

पुरुषार्थसिद्धयुपाय

-अमृतचन्द्रसूरी सम्पादक अनु. रेवा शंकर ज.

बम्बई : निर्णय सागर, द्वितीयावृत्ति, १९१४.

प्रवचनसार

कुंदकुंदाचार्य, संपा. उपाध्ये आदिनाथ

आगास : श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, तृतीयावृत्ति, १९६४.

प्रवचनसागोद्वार

नेमिचंद्रसूरि अनु. हीरालाल हंसराज

पालीताणा : मोहनलाल गोविंदजी, १९२१.

प्रश्नव्याकरण सूत्र

अनु. हस्तिमल मुनि

पाली : सुराणा हस्तिमल प्रथमावृत्ति, १९५०.

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य

संपा. शास्त्री दुण्ढिराज

बनारस : चौखम्बा सीरिज, प्रथमावृत्ति, १९२९.

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य

अनु. स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

वाराणसी : गोविंद मठ टेड़ी नीम, प्रथम संस्करण ।

बृहद्ब्रह्मसंग्रह

नेमिचंद्र अनु. शास्त्री जवाहरलाल

बम्बई : निर्णय सागर प्रेस, द्वितीयावृत्ति, १९१७.

भगवती सूत्र भाग १-२

वृत्ति. अभयदेवसूरि अनु. वेचरदास जीवराज

बम्बई : जैनागम प्रकाशन संस्था, प्रथमावृत्ति, १९१३, १९२३.

भगवती सूत्र भाग १-७

संपा. अनु. बांठिया घेवरचन्द्र

सैलाना : अ.भा. साधुमार्गी संस्कृति रक्षक दल, प्रथमावृत्ति ।

भाग १-१९६४, भाग २-१९६६, भाग ३-१९६७, भाग ४-

१९६७, भाग ५-१९७०, भाग ६-१९७२, भाग ७-१९७२.

भगवद् गीता रहस्य

टिल्क बालगंगाधर अनु. त्रिवेदी उत्तमलाल के.

पूना : रामचन्द्र अने टिल्क श्रीधर, द्वितीयावृत्ति, १९२४.

गीता दर्शन

राधाकृष्णन् अनु. शुक्ल चन्द्रशंकर प्राणशंकर

बम्बई : वोरा एण्ड कम्पनी, प्रथमावृत्ति, १९४७.

गीता प्रवचनो

विनोबा भावे

अहमदाबाद : चवजीवन प्रकाशन मंदिर, प्रथमावृत्ति, १९५२.

श्रीमद्भागवत भाग १-२

महर्षि वेदव्यास

गोरखपुर : गीता प्रेस, द्वितीय संस्करण, १९५१.

मज्झिम निकाय (मूल) भाग १-२

संपा. कश्यप, भिक्षु जगदीश

बिहार सरकार : पाली प्रकाशन मण्डल, १९५६.

अनु० सांक्रत्यायन राहुल

बनारस : महाबोधि सभा, प्रथमावृत्ति, १९३३.

महापुराणम (प्रथम विभाग)

जिनसेनाचार्य संपा. जन, पं. पन्नालाल

काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, १९५१.

महाभारत (अनुशासन पर्व)

व्यास कृष्ण द्वैपायन

पुण्यपत्तन : जोशी शंकर नरहर, प्रथमावृत्ति, १९३३.

महाभारत अनुशासन पर्व

गुज. अनु. संपा. भट्ट मणिसंकर महानंद

बम्बई : कालवादेवी रोड, चतुर्थ संस्करण, १९२३.

महाभारत भीष्म पर्व

संपा. शास्त्री गिरिजाशंकर मयाशंकर

अहमदाबाद : सस्तु साहित्यवर्धक कार्यालय, द्वितीयावृत्ति, १९४१.

महाभारत शांति पर्व (मूल)

पुण्यपत्तन : शंकर नरहर जोशी प्रथम संस्करण, १९३२.

-अनु. संपा. शास्त्री गिरिजाशंकर मयाशंकर

अहमदाबाद : सस्तु साहित्यवर्धक कार्यालय, पंचमावृत्ति, १९२६.

योग शास्त्र

हेमचंद्राचार्य अनु. पद्मविजय संपा. नेमिचन्द्रजी,

दिल्ली : निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, प्रथमावृत्ति, १९७५.

रत्नकरण्डउपासकाध्ययन

समन्तभद्राचार्य संपा. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

दिल्ली : वीर सेवा मंदिर. संस्करण, १९५५.

लब्धिसार

नेमिचन्द्राचार्य अनु. शास्त्री मनोहरलाल

बम्बई : परमश्रुत प्रभावक मंडल, प्रथमावृत्ति, १९१६.

लोकप्रकाश

विनयविजय म. अनु. संपा. हीरालाल हसराज

जामनगर : अनुवादक, १९०४.

विशुद्धि मार्ग भाग १-२

बुद्ध घोष अनु. भिक्षु धर्म रक्षित

बनारस : महाबोधि सभा प्रथमावृत्ति, १५५६-१५५७.

विशेषावश्यक भाष्य भाग १-२

मलधारी हेमचन्द्र अनु. शाह चुन्नीलाल हुकमचंद

बम्बई : आगमोदय समिति, प्रथमावृत्ति, १९२४.

वैशेषिक दर्शन सभाष्य

संपा. शास्त्री दुण्डिराज

वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरिज प्रथम संस्करण, १९६६.

योग दर्शन

संपा. शर्मा श्री राम

बरेली : संस्कृति संस्थान, प्रथम संस्करण, १९६४.

षट्खण्डागम (धवला टीका)

पुष्पदन्त, भूतबलि टी. वीरसेनाचार्य संपा. जैन, हीरालाल,
अमरावती : जैन साहित्योद्धार फंड कार्यालय, १९३९.

षट्प्राभृतादि संग्रह

कुंदकुंदाचार्य संपा. पं. पन्नालाल

मा. दि. जै. (२) ग्रन्थमाला समिति : बम्बई, प्रथमावृत्ति ।

श्रावक धर्म विधि अकरण

हरिभद्रसूरि वृत्ति. मानदेवसूरि

भावनगर : आत्मानंद सभा, १९२४.

श्रावक प्रज्ञप्ति

उमास्वाति, टी. हरिभद्रसूरि संपा. अनु. राजेन्द्रविजय

डीसा : संस्कार साहित्य सदन, प्रथमावृत्ति, १९७२.

संबोध प्रकरण (मूल प्राकृत)

हरिभद्रसूरि

अहमदाबाद : जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, प्रथमावृत्ति, १९१६.

-अनु. मेरुविजय गणि, प्रकाशक वही. १९५१.

संयुक्त निकाय (मूल) भाग १-४

संपा. भिक्षु कश्यप जगदीश

बिहार सरकार : पाली प्रकाशन मंडल, १९५९.

संयुक्त निकाय (अनु०) भाग १-२

संपा. भिक्षु कश्यप जगदीश, भिक्षु धर्म रक्षित

बनारस : महाबोधि सभा, प्रथमावृत्ति, १९५४.

सन्मति प्रकरण

सिद्धसेन दिवाकर, सम्पादक संघवी सुखलाल, दोशी बैचरदास

अहमदाबाद : पूजाभाई जैन ग्रन्थमाला प्रथमावृत्ति, १९५२.

समकित कौमुदी (भाषान्तर)

अहमदाबाद : शाह मगनलाल हट्टीसिंह ।

समयसार

कुन्दकुन्दाचार्य, सम्पादक पं. मनोहरलाल सिद्धान्त शास्त्री

बम्बई : निर्णय सागर प्रेस, प्रथमावृत्ति, १९१८.

सम्यक्त्वपरीक्षा (उपदेश शतक)

विबुधविमलसूरि

बम्बई : नगीनभाई घेलाभाई झवेरी, १९१६.

सम्यक्त्व सप्ततिका

हरिभद्रसूरि वृत्ति. संघतिलकाचार्य

बम्बई : जैन पुस्तकोद्धार फंड, प्रथम संस्करण, १९६१.

समवायांग सूत्र

सम्पादक कन्हैयालाल मुनि

राजकोट : जैन शास्त्रोद्धार समिति प्रथमावृत्ति ।

सांख्यदर्शन (सभाष्य) .

सम्पादक शास्त्री दुण्डिराज

बनारस : चौखम्बा सीरिज, प्रथमावृत्ति, १९२९.

-अनु. सम्पादक शर्मा श्रीराम

बरेली : संस्कृति संस्थान, १९६४.

सांख्यकारिका

ईश्वर कृष्ण सम्पादक चतुर्वेदी ब्रजमोहन

दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, प्रथमावृत्ति, १९६४.

सांख्य तत्त्व कौमुदी

-वाचस्पति मिश्र संशो. भण्डारी रामशास्त्री

बनारस : चौखम्बा सीरिज, प्रथमावृत्ति, १९२१.

सूत्रकृतांगम् खण्ड १-२

-संपा. ओझा अंबिका दत्त

राजकोट : महावीर जैन ज्ञानोदय सोसायटी, प्रथमावृत्ति, १९३७.

सूत्रकृतांगम् खण्ड ४

-संपा. ओझा अंबिका दत्त

बैंगलोर : शम्भूमल गंगाराम मूथा; प्रथमावृत्ति, १९४०.

स्थानांग सूत्र

-वृत्ति. अभयदेवसूरि

मेहसाना : आगमोदय समिति, १९१८.

स्थानांग समवायांग

-सम्पादक मालवणिया दलसुख

अहमदाबाद : गुजुरात विद्यापीठ, प्रथमावृत्ति, १९५५.

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

-सम्पादक उपाध्ये ए. एन., शास्त्री केशवचन्द्र

आगास : श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, प्रथमावृत्ति, १९६०.

UTTARADHYAYANA SUTRA

-ED, Jarl Charpentier

Uppsala : Archives Detudes, Orientalse Publicespar

J=A., Lundell, Vol 18 1922.

(२) आनुवंशिक ग्रंथ

अमर मुनि

-अध्यात्म प्रवचन, सम्पादक विजयमुनि, १९६६ प्रथम, आगराः
सन्मति ज्ञानपीठ ।

आचार्य, नरेन्द्रदेव

-बौद्ध धर्म दर्शन, प्रथमावृत्ति, पटनाः बिहार राष्ट्रसभा, १९५६.

कानजी स्वामी

-सम्यग्दर्शन, सम्पादक जैन हीरालाल, सोनगढः दि. जैन स्वाध्याय
मन्दिर ट्रस्ट ।

कीथ, प. बी., अनु. सूर्यकान्त

-वैदिक धर्म दर्शन, भाग-२, प्रथमावृत्ति,
बनारस : मोतीलाल बनारसीदास

पं. केशरविजय गणि

-सम्यग्दर्शन, अहमदाबाद : सोमचन्द्र भगवान् १९१६.

कृष्णचन्द्र

-सम्यक्त्व निर्णय, मुर्शिदाबाद : रायलक्ष्मीपति सिंह १८७४.

जगदीशचन्द्र व मेहता, मोहनलाल

-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-२.

वाराणसी : पार्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, १९६६.

जवाहरलाल मुनि

-सम्यक्त्व पराक्रम, १९२६, प्रथमावृत्ति,

बीकानेर : सेठिया भैरोदान जेठमल ।

जुगल किशोर मुख्तार

-जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश,

कलकत्ता : वीर शासन संघ, प्रथमावृत्ति, १९५६.

जैन, जगदीश चन्द्र

-प्राकृत साहित्य का इतिहास, प्रथमावृत्ति, १९६१.

बनारस : चौखम्बा संस्कृत सीरिज ।

जैन, जगदीश चन्द्र

-भारतीय तत्त्व चिन्तन, प्रथमावृत्ति, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन ।

जैन, डॉ. हीरालाल

-जिनवाणी, वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथमावृत्ति, १९७५.

श्वेरी, इन्दुकला (अनु.)

-भारतीय तत्त्वज्ञान की रूपरेखा खण्ड-३, प्रथमावृत्ति;

अहमदाबाद : गुजरात विद्या सभा, १९६४.

तिवारी, रामचन्द्र

-शंकराचार्य का आचार दर्शन, प्रथमावृत्ति,

प्रयाग : साहित्य सम्मेलन, १९५०.

दर्शनविजय, ज्ञानविजय, चारित्रविजय ' त्रिपुटी '

-जैन परम्परा नो इतिहास, प्रथमावृत्ति,

अहमदाबाद : चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, १९६४.

दासगुप्ता, डॉ. ए एन

-भारतीय दर्शन का इतिहास भाग १-७ प्रथमावृत्ति,

जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी.

दीक्षित जगदीश दत्त

-ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारधारा का तुलनात्मक अध्ययन प्रथमावृत्ति,

वाराणसी : भारतीय विद्या प्रकाशन, १९७९.

देसाई, डॉ. भास्कर गोपालजी

-धर्मोक्तुं तुलनात्मक अध्ययन, प्रथमावृत्ति,

अहमदाबाद : यूनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड गुजरात राज्य, १९६१.

दोशी, पं. बेचर दास

-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, १९६६.

धर्मविजय मुनि

-सम्यग्दर्शन, बडोदरा : मुक्तिकमल जैन मोहनमाला. १९४९.

नथमल मुनि (युवाचार्य महाप्रज्ञ)

-आगम शब्द कोश, भाग-१. प्रथमावृत्ति,

लाडनू : जैन विश्वभारती, १९८०.

-उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन, प्रथमावृत्ति

कलकत्ता ३ जैन इवे. तेरापंथी महासभा, १९६८.

पारेख, नगीनदास, कवेली, ईसुदास

-भगवान् ईसु नो शुभ संदेश अने प्रेषितो नो चरितो प्रथम संस्करण,

अहमदाबाद : सेंट जेवियर कॉलेज, १९६५.

पाल, डायसन

-वेदान्त दर्शन, अनु. पाण्डेय, सगमलाल, प्रथमावृत्ति, १९७१.

लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी ।

बाहरी, डॉ. हरदेव

-बृहद् अंग्रेजी-हिन्दी कोष, प्रथमावृत्ति,

वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड, १९६०.

महेता, नर्मदाशंकर देवशंकर

-हिंदू तत्त्वज्ञान नो इतिहास, प्रथम संस्करण,

अहमदाबाद : गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, १९२५.

मालवणिया, पं. दलसुख

-आगमयुग का जैन दर्शन, प्रथम संस्करण,

आगरा : सन्मति ज्ञानपीठ, १९६६.

-जैन दर्शन का आदिकाल, प्रथमावृत्ति,

अहमदाबाद : ला. द. भा. सं. विद्या मंदिर १९८०.

मेहता, डॉ. मोहनलाल

-जैन दर्शन, प्रथम संस्करण, आगरा : सन्मतिज्ञानपीठ, १९५९

-जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-३,

वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, १९६७.

मेहता, मोहनलाल एवं कापड़िया, हीरालाल र.

—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-४,

वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, १९६८.

योहन फाईस

—ईसाई दर्शन, जयपुर : राजस्थान हिंदी ग्रन्थ एकादमी, १९८२.

रत्नचन्द्रजी म०

—जैनागम शब्दकोष, प्रथमावृत्ति.

लींबड़ी : संघवी गुलाबचन्द जसराज, १९२६.

डॉ राधाकृष्णन् अनु शुक्ल चन्द्रशंकर प्राणशंकर

—उपनिषदो नुं तत्त्वज्ञान, प्रथमावृत्ति,

बम्बई : वीरा एण्ड कम्पनी, १९४९.

—अनु. शुक्ल चन्द्रशंकर प्राणशंकर धर्मो नुं मिलन; द्वितीय संस्करण,

बम्बई : भारतीय विद्याभवन, १९४७.

—अनु. गोमिल, श्री नंद किशोर भारतीय दर्शन भाग १-२,

दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्स, प्रथमावृत्ति, १९६९.

रावल, प्रो. सी. बी.

—श्रीमद् शंकराचार्य नुं तत्त्वज्ञान, प्रथमावृत्ति,

अहमदाबाद : यूनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड गुज. राज्य, १९७४.

वर्णी, जिनेन्द्र

—जैनेन्द्र सिद्धांत कोष, भाग-४. प्रथमावृत्ति नयी दिल्ली :

भारतीय ज्ञानपीठ, १९७३.

वर्मा, सांवरिया बिहारीलाल

—विश्व धर्म दर्शन, प्रथमावृत्ति,

पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५३.

विजय राजेन्द्रसूरि

—अभिधान राजेन्द्र, संशो. दीपविजय. यतीन्द्रविजय जैन श्वे.

समस्त संघ मुद्रित—जैन प्रभाकर प्रिन्टींग प्रेस रतलाम १९१३.

विजयानन्द स्वरि

- सम्यक्त्व शल्योद्धार, १९०८ चतुर्थ आवृत्ति दिल्ली :
- आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल ।

विनोबा भावे

- कुरान सार, प्रथम संस्करण, बड़ौदा : यज्ञ प्रकाशन, १९६८.
- ख्रिस्त धर्म सार, प्रथमावृत्ति, वडोदरा : यज्ञ प्रकाशन, १९६८.

वेलणकर, हरि दामोदर

- जिन रत्न कोष, प्रथमावृत्ति, पूना : श्री कृष्णदास, १९४४.

लाड, डॉ. अशोककुमार

- भारतीय दर्शन में मोक्ष तत्त्व चिन्तन, प्रथम संस्करण,
- भोपाल : मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७३.

शर्मा, हरबंशलाल

- भागवत दर्शन, अलीगढ़ : भारत प्रकाशन मंदिर, १९६३.

शास्त्री, कैलाशचन्द्र

- जैन धर्म, तृतीय संस्करण, मथुरा : भद्र दि. जैन संघ १९५५.

शाह धीरजलाल टोकरसी

- सम्यग्दर्शननुं स्वरूप, श्रद्धा अने शक्ति वडोदरा : मुक्ति कमल
- जैन मोहन ग्रंथमाला, प्रथमावृत्ति १९५२.

शाह, नगीन जी.

- न्याय-वैशेषिक (षड्-दर्शन) खण्ड-२, प्रथमावृत्ति अहमदाबाद :
- युनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड, गुज. राज्य, १९७४.
- बौद्ध धर्म दर्शन, प्रथमावृत्ति, वल्लभ विद्यानगर : सरदार पटेल
- युनिवर्सिटी, १९७८.
- सांख्य-योग (षड् दर्शन) खण्ड-१, प्रथम संस्करण, अहमदाबाद :
- युनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड, गुज. राज्य, १९७३.

शुक्ल, डॉ. नलिनी

-पातंजल योगशास्त्र का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन,
प्रथमावृत्ति, आगरा : शक्तियोगाश्रम, १९७६.

संघवी, पं. सुखलाल (संपा. मालवणिया दलसुख)

-जैन धर्मनो प्राण, प्रथमावृत्ति, बम्बई : रसिकभाई डाह्याभाई
व्होरा, १९६२.

-दर्शन और चिन्तन, प्रथम संस्करण, अहमदाबाद : गुजरात
विद्या सभा, १९५७.

-भारतीय तत्त्व विद्या, द्वितीय संस्करण, बड़ौदा : महाराजा
सयाजीराव विश्वविद्यालय, १९७१.

सिद्धान्तशास्त्री, बालचन्द्र

-जैन लक्षणावली, भाग १-२ प्रथमावृत्ति, दिल्ली : वीर सेवा
मंदिर १९७२-१९७३.

सुराना श्रीचंद 'सरस' (संपा.) ले अशोकमुनि

-सम्यग्दर्शन एक अनुशीलन, प्रथमावृत्ति, व्यावर : जैन दिवाकर
दिव्य ज्योति कार्यालय, १९८१.

सेठिया, भैरोदान (संग्र.)

-श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, द्वितीयावृत्ति १९४९.

वीकानेर : जैन पारमार्थिक संस्था

-TATIA NATHMAL

Studies in Jain Phylosophy, Banaras : Jain Sanskritiy
Sanshodhana Mandal, 1951.

शब्द संदर्भ सूची

शब्द	पृष्ठ संख्या
अंग प्रविष्ट आगम-१३	
अंग बाह्य श्रुत-८५	
अंग बाह्य आगम-१२	
अंग सूत्र-१२	
अकलंक देव-८७, ८८, ८९, ९१, ९६, ९८, १००, १०३	
अकलुष समापन्न-६९, ७०	
अक्षपाद गौतम-१९२, १९५	
अतिचार-७५	
अतीन्द्रिय-२, ३	
अथर्ववेद-१९७	
अदत्तादान-७६	
अधः प्रवृत्तकरण-१२९, १५६	
अधिकरण-१०१	
अधिगम-९८, ९९, १००, १८५	
अध्यात्म कमल मार्तण्ड-१६४	
अध्यात्म श्रद्धा-११	
अध्यात्म सार-१६३	
अन्तकृद्दशाङ्ग-५८, ७७	
अन्तर करण-१२८	
अनभिध्या-१७२	
अनन्तानुबंधी-८३, ८४, १२८, १२९	
अनवस्थितता-१९२	

शब्द	पृष्ठ संख्या
अनिवृत्तिकरण-७९, ८०, ८१, १२८, १२९, १३७	
अनिवृत्तिबाध-१२४, ७२	
अनुकम्पा-१४५	
अनुप्रदान-१४६	
अनुत्तरोपपातिक-५८	
अनुभागबंध-१२९	
अनुयोग द्वार-५७, ६२, २४	
अनुशासन पर्व-२०९	
अपरिग्रह-७७	
अपूर्वकरण-७९, ८०, ८१, १२२, १२३, १२८, १२९, १३७	
अपोह-५६	
अप्रतिपाती-६७	
अप्रमत्त संयत-७२, १२१, १२७, १२९, १३०	
अभयदेवसूरि-५०	
अभिगम रुचि-४१, ६७	
अभिगम सम्यग्दर्शन-६६	
अभिधान राजेन्द्र-५२	
अग्निवेश-११२, ११७	
अभेद समापन्न-६९, ७०	
अमायी भावितात्मा-५१	

शब्द	पृष्ठ संख्या
अमूढदृष्टि-४२, ४५	
अमृतचन्द्रसूरि-१५४	
अमोह-६३	
अमोहदर्शी-३३	
अयोगी केवली-७२, १२६	
अरण-१७९	
अर्जुन-२१२	
अर्द्ध पुद्गल परावर्तन-१५३	
अर्द्ध मागधी-९, १४	
अर्हत्-१२, १७६	
अरिष्टनेमि-६	
अरेबिया-२३०	
अलब्ध भूमिकता-१९२	
अल्पत्व बहुत्ववाद-४९	
अवधिज्ञान लब्धि-५१	
अविधा-९२, ९३, १९८	
अविरत सम्यग्दृष्टि (असंयत सम्यग्दृष्टि)-७२, ११८, ११९, १२७, १२९, १३०	
अव्यापाद-१७२	
अष्टांगिक मार्ग-१७९	
अशुद्ध नय-११४	
अशुद्धतर नय-११४	
अश्वघोष-१७८	
असंख्यात लोक-५६	
असंप्रज्ञात समाधि-१८८	
असंसक्ति-२०३	

शब्द	पृष्ठ संख्या
आगम-११, १२, १३	
आगमेतर साहित्य-८५	
आगार षट्क-१४६	
आचार दशा-४६	
आचार दिनकर-११, १६१	
आचार प्रकल्प-४३	
आचाराङ्ग सूत्र-९, १४, १७, १८, १९, २०, २२, २३, २८, २९, ३२, ३३, ३७, ४३, ५८, ६९, ८५, १०७, १७१, १७३, २०६, २२५, २३३	
आचाराङ्ग चूर्णि-१८	
आचाराङ्ग वृत्ति-१७	
आजीवक-८	
आज्ञा रूचि-४०, ६७	
आत्म तत्त्व दर्शन-२	
आत्म वध-८	
आत्म साम्य-७	
आत्माद्वैतवाद-२९	
आत्मारामजी-३३, ३५	
आत्मौपम्य-९	
आनन्द श्रावक-७५	
अनागामी-१७६, १७७	
आर्थ वचन-१५	
आवली-८३	
आवश्यक निर्युक्ति-१२, ५७, ७७, ७८, ८२	
आवश्यक सूत्र-७२, ७७, ८०	

शब्द	पृष्ठ संख्या
आलाप यतना-१४६	
आलवक यज्ञ-१८०	
आस्रव-१५, ९७, ९८	
आस्तिक्य-१४५	
औद्धत्य-१७९	
इस्लाम धर्म-२३०	
ईमान-२३४	
ईश्वरकृष्ण-१८२	
ईश्वर कर्तृत्ववाद-२९	
ईसाई धर्म/दर्शन-२२७, २२९, २३४	
ईहा-५६	
उच्चनागर शारवा-८६	
उच्चावच-३	
उत्पन्न श्रद्धा-५०	
उत्तराध्ययनसूत्र-२२, ३२, ३४, ३५ ३६, ६०, ६७	
उदक पेढालपुत्र-३१	
उपदेशमाला-१५०	
उपदेश रुचि-४०, ६७	
उपदेश शतक-१७०	
उपनिषद्-२, ३, १९६	
उपबृंहण-४२, ४५	
उपरति-२०१	
उपशमक-१२२, १२५, १२९	
उपशम लब्धि-१३७	

शब्द	पृष्ठ संख्या
उपशम श्रेणी-८३, १०५, १२३, १२५	
उपशमन विधि-१२८, १२९, १३१	
उपशमना करण-१३७	
उपशांत कषाय-१२५, १२८, १२९, १३०	
उपशांत मोह-७३, १२५	
उपशांताद्धा-१३७	
डॉ. उपाध्ये-१०९	
उपासकदशाङ्ग-५८, ७३, ७५	
उमास्वाति-१२, ८६, ८७, १०४, १०९, ११०, २१२	
ऋग्वेद-१९६	
ऋतम्भरा प्रज्ञा-४, १८९, १९०	
ऋषभदेव-५, ६	
एकलविहार प्रतिमा-७१	
कणाद-१९२, १९४	
करणलब्धि-१५२	
कर्म प्रकृति-१३२, १३६, १३७ १५५, १५७	
कर्माभाव-२६	
कल्पसूत्र-३५, ३६	
कल्याणविजय-५७	
कलुष समापन्न-५३, ५४, ६९, ७४, ७६	
कषायप्राभृत-१३१, १३२, १३३, १३७	

शब्द	पृष्ठ संख्या	शब्द	पृष्ठ संख्या
क्लेशमुक्त-४		गणिपिटक-१४	
कांक्षा-५३, ५४, ७४, १४३		गवेषणा-५६	
कांक्षामोहनीय-५२, ५४		गीता-२१०, २१२, २१३, २१५	
कांक्षा रहित-२९		२१६, २१७, २१९, २२०, २२१	
कांक्षित-६८		गीतार्थ-७६	
कान्तारवृत्ति-१४६		गुणधराचार्य-१३१	
काफिर-२३४		गुणभद्राचार्य-१५१	
कामच्छन्द-१७९		गुरु निग्रह-१६२	
काललब्धि-१५२		गुरु विग्रह-१४६	
क्रियारूचि-४१, ६७		गौम्मटसार-१५४, १५५, १५६	
कुंदकुंदाचार्य-१०९, ११०, ११२, ११३		गोशालक-९	
कुदर्शनदेशनापरिहार-१४०		घर्षण घोलन्याय-१०४	
कुरान शरीफ-२३०, २३१		घातिकर्म-६४	
कुरान सार-२३०, २३१, २३३, २३४		घेवरचंद बांठिया-५१	
कुसुमपुर-८६		घोषनदि-८६	
कृष्णद्वैपायन वेद व्यास-२०६		चक्षुर्जन्य ज्ञान-२	
केवलिपाक्षिक-५४		चतुर्दशपूर्व-७८	
कौत्कृत्य-१७९		चाक्षुषज्ञान-१	
कौमीषणि-८६		चामुण्डराय-१५४	
कौशल्य-१४४		चार्वाक-२९	
क्षपकश्रेणी-१२३		चारवेद-५९	
क्षपण-१२९		चित्तगुणवियुक्ति-१९१	
क्षपणासार-१५५, १५७		चित्ताधिकार विमुक्ति-१९१	
क्षीणकृषाय-१२६		चित्रकूट/चितौड-१३८	
क्षीण मोह-६३, ७२		चौदह गुणस्थान-१३१	
गणधर-१२		चौदह जीवसमास-११५	
गणाभियोग-१४६, १६२		चौदह पूर्वधर-५८	

शब्द पृष्ठ संख्या

चौदह मार्गणा-११३
चौबीस दंडक-५२, ६६, ६७
छःजीवनिकाय-७०
जम्बूद्वीप समास-८७
जम्बूस्वामि-७३
जात श्रद्धे-५०
जाल चार्पेन्टर-३६
जिनदत्त-१३८
जिनदासगणिमहत्तर-३५, ७८
जिनप्रवचनरहस्यकोश-१५४
जिनभट-१३८
जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण-९, ७८, ८३
जिनविजयजी-१३८
जिनसेन-१५१
जीवन्मुक्त-१८४, १९२, १९४
जीव समास-१२७
जीसस/ईसा-२२८, २२९
जैनदर्शन का आदिकाल-१२
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास- २, १३
ज्ञाता धर्मकथाङ्ग-५८, ७३
ज्ञान चेतना-१६६, १६७
ज्ञान विराधना-७२
ज्ञान शुद्धि-३
ज्ञानात्मा-५१
ठाणाङ्ग-७२
तत्त्वज्ञिज्ञासा-४

शब्द पृष्ठ संख्या

तत्त्वमीमांसा-४
तत्त्व विचारणा-४
तत्त्ववेत्ता-२१
तत्त्व साक्षात्कार-१
तत्त्वार्थ सूत्र-४, १२, ८५, ८६, ८७ १०४, १०८, १०९, ११०, १८२, १८३, २१२
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-८७
तनुमानसी-२०२
तमोगुण-९७
तपस्वी-१४३
तामसी-२०९, २१०
तिलक बालगंगाधर-२१८
त्रिलोकसार-१५५
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र-३६
तीर्थ सेवन-१४४
तुर्यगा-२०३
तेजोलेश्या-१३२
दलसुख मालवणिया-१२
दशवैकालिक सूत्र-१९, २०, २१ ३२, ३३, ३४
दर्शन और चिन्तन-७
दर्शनप्राभृत-११०, १११
दर्शन मोहनीय-५५, ७३
दर्शनात्मा-५१
दर्शनार्थो-४२
दर्शनावरणीय-५५

शब्द	पृष्ठ संख्या
दशपूर्वधर-५८	
दशाश्रुतस्कन्ध-४३, ४६, ४६	
द्वादशाङ्गी-९	
द्वादशाङ्गणपिटक-५८, ५९	
दुःख शब्दा-६८	
दृष्टिवाद-१३, ३५, ५८	
देवचंद्रसूरि-१४९	
देवद्विगण-१३, ५७ +	
देववाचक-५७, ६१, ६३, ६४	
देवताभियोग-१४६, १६२	
देशनालब्धि-१५२	
देशोपशमना-१३७	
धर्मकथित-१४३	
धर्मदासगण-१५०	
धर्मपरीक्षा-१६	
धर्मबिंदु-१४९	
धर्मरुचि-४२, ६७	
धर्मश्रद्धालु-२८	
नंदी सूत्र-५७, ५९, ७६	
नय-१००	
नारद-२२१	
निर्दिध्यासन-१९७	
निम्बार्क-२०५	
नियमसार-११०, १११	
निर्ग्रन्थ धर्म-६, ७	
निर्ग्रन्थ प्रवचन-३०, ७०	
निर्जरा-९७	

शब्द	पृष्ठ संख्या
निर्देश-१०१	
निर्वेद-१४५	
निवृत्तिवाद-७२, १२४	
निःकांक्षित-३०, ३२, ४२, ४४, ६९, ७०, ७५	
निर्मोह-६३	
निर्विचिकित्सा-४२	
निर्विचिकित्सक-३०, ३२, ४५, ६९, ७०, ७५	
निह्नव-६५	
निःशंक-२९, ३०, ३२	
निःशंकित-४२, ४४, ६९, ७०, ७५	
निशीथ चूला-४३	
निशीथ सूत्र-४३, ४४	
निःश्रेयस-७	
निश्चय नय-११०, १११	
निसर्ग-९८, ९९, १००	
निसर्गरुचि-४०, ६७	
निसर्ग सम्यग्दर्शन-६६	
नीवरण-१७९	
नेमिचंद्राचार्य-१५४, १५५	
नैमित्तिक-१४३	
नैयायिक-९२	
न्यग्रोधिका-८६	
न्यायवैशेषिक दर्शन-१९२	
पंचमहाव्रत-७०	
पंचसंग्रह-१३१	

शब्द	पृष्ठ संख्या
पंचाध्यायी	१६४
पंचाशक	१३९, १४९
पंचास्तिकाय	११०, १११
पट्टावली	४३
पदार्थाभाविनी	२०३
परतीर्थप्रशंसा	१४३
परतीर्थिक संस्तवन	१४३
पर पाखण्ड प्रशंसा	७६
पर पाखण्ड संस्रव	७६
परमार्थ संस्तव	४८, १३९, १४०
परिग्रह निवृत्ति	७७
परिषद्	७०
परिस्रव	१५
प्रकृति बंध	१२९
प्रज्ञापना सूत्र	४२, ४३, ४८, ४९, ६७
प्रतिपाती	६७
प्रद्युम्नसू रि	१४९, १६२
प्रदेशबंध	१२९
प्रभावकचरित्र	१३८
प्रभांवना	४२, ४६
प्रमतसंयत	७२, १२०, १२९
प्रलीनचित्तगुणपुनर्भावविमुक्ति-१९१	
प्रवचन सार	११०
प्रवचनसारोद्धार	१५७
प्रवर्त्तक	५
प्रशमरति	८७
प्रश्रव्याकरण	५८, ७३, ७६

शब्द	पृष्ठ संख्या
प्रेयो द्वेष प्राभृत	१३१
पाटली पुत्र	१३
पार्श्वनाथ	५ ६
पार्श्वभ्युदय	१५१
पारमहंसी संहिता	२२१
पारलौकिक	७
डॉ. पाल डायसन	२०१, २०२
प्रावचनिक	१४३
पुण्यविजयमुनि	४९
पुष्पदंताचार्य	११३
पुरुषार्थसिद्ध्याय	१५४
पूजा प्रकरण	८७
पूज्यपाद	८७, ८८ ८९, ९४, ९०, ९७, ९८, ९९, १०३, १०८
पैगम्बर मुहम्मद	२३०
बलाभियोग	४४६, १६२
बहिरिन्द्रिय	२
बाइबिल	२२७
बादरायण	१९६
ब्रह्मचर्य	७७
ब्रह्मन्	८
ब्रह्मजिज्ञासा	१९९, ०१९
ब्रह्मसूत्र	२२१
ब्राह्मन परम्परा	९
बृहद्द्रव्य संग्रह	१५५
बृहदारण्यकोपनिषद्	२, ३, १९७
बीजरुचि	४१, ६७

शब्द	पृष्ठ संख्या
बुद्ध ९	
पं. बेचरदास दोशी १३	
बौद्ध ९२	
बौद्धदर्शन ५, ९२, १७१, १८७, १८९, १९३, १९२, २०६	
भगवतीसूत्र ५७, ६६, ६८	
भद्रबाहू १३, १४, ४३, ४६, ७८	
भागवत ५, ६, २२१, २२२, २३३, २२५, २२७	
भारत ५९	
भारतीय तत्त्वविद्या ४	
भारतीयदर्शन ६	
डॉ. भास्कर गोपालजी देसाई २२८	
भीष्म पर्व २०९	
भूतबलि ११३	
भेदसमापन्न ५३, ५४, ६८, ७४, ७६	
भोगैषणा १७	
मंखलिपुत्र गोशालक ३१	
मज्झिमनिकाय १७३	
मध्वाचार्य २०३, २०५	
मनःपर्यव ज्ञान ६१	
मलधारी हेमचंद्र ७८	
मलयगिरि ७८	
महा कर्मप्रकृतिप्राभृत ११३	
महापुराण १५१	
महाभारत २०६, २१०, २१५, २२१	
महावाचक मुण्डपाद ८६	

शब्द	पृष्ठ संख्या
महावीर ५, ६, ९३, २४, ३२, ३३ ३५, ३६, ४६, ५०, ७५, ७७, १०९	
महामोहनीय कर्म ४८	
माणिक्य शेखर ७८	
माध्वभाष्य २०५	
माथुरी वाचना १३	
मार्गणा ५६	
मिथ्यात्व वेदनीय ७३	
मिथ्यादृष्टि ७२, ११६, १३०	
मिथ्याश्रुत ५९	
मुनिभाव २२	
मुमुक्षुत्व २०१	
मुल्हिद २३४	
मूलवाचकाचार्य ८६	
मूलशुद्धि १४९, १६१	
मेतार्थमुनि १४९	
मेवाङ्ग १३८	
मोमिन २३५	
मोहनीयकर्म ५३	
यजुर्वेद १९७	
यज्ञधर्म ८	
यज्ञ यागादि कर्म ७	
यथाप्रवृत्तिकरण ७९, ८०, ८१, ८४ १२९, १३७, १५६, १६८, २२३	
यशोधर चरित्र ८७	
यशोविजय १६३	
यहूदी २२७	

शब्द	पृष्ठ संख्या
याकिनीमहत्तरा	१३८
योगदर्शन	१८१, १८६, १८८, १८९
	१९०, १९१, १९२, १९७
योग प्रतिपक्षी	१९२
योगभाष्य	१८७
योगमल	१९१
योगलब्धि	१३७
योगशास्त्र	१५६
योगसूत्र	७
योगांग	१८७, १८८
योगान्तराय	१९२
योगिज्ञान	४
योहन फाइस	२२७
रजोगुण	९७
रत्नसार	११०
राजमल्लजी	१६४
राजवार्तिक	८७
राजसी	२०९, २१०
राजाभियोग	१४६, १६२
डॉ. राधाकृष्णन्	५, १९६, २१५, २१९
राजगृही	५१
रामानुज	२०३, २०५
रामायण	५९
लब्धिसार	१५५, १५७
लाटीसंहिता	१६४
लेप गाथापति	३०, ३१
लोकप्रकाश	१६७

शब्द	पृष्ठ संख्या
वज्रसंघ मुनि	१५१
वज्रस्वामि	१५०
वर्धमानसूरि	१६१
वलभी वाचना	१२
वल्लभाचार्य	२०३, २०५
वात्सल्य	४२, ४६
वात्सी	८६
वादी	१४३
वाराणसीनगरी	५१
विकुर्वणा	५१
विचिकित्सा	५३, ५४, ७४, १४३
विचिकित्सिक	६८
विततिगिच्छा	२०
विद्याधर गच्छ	१३८
विद्यानंदि	८७, ९५, ९६, ९७, ९८, १००, १०३
विधान	१०१
विनयविजयजी	१६७
विपर्यय	९२
विपाकसूत्र	५८, ७७
विबुधविमलसूरि	१७०
विभंगज्ञान लब्धि	५१
विभंगज्ञान	५६, ५७
विभज्यवाद	२७
विवाहपण्णत्ति	५०
विरताविरत	७२

शब्द	पृष्ठ संख्या
विवेकख्याति	१८२, १८६, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९६
विवेक चूडामणि	१९९
विशाखाचार्य	४४
विशुद्धिमार्ग	१७४
विशेषावश्यकभाष्य	९, ५७, ७७, ८२, ८५
विस्तार रूचि	४१, ६७
विसुद्धि भग्ग	४
वीरसेन	१५१
वीरसेनाचार्य	११३
वीर्य लब्धि	५१
वेदक सम्यग्दृष्टि	१२९, १३०
वेदव्यास	२२१
वेदान्तदर्शन	१९६, १९८, २०१
वेदान्तसूत्र	१९६, १९८, २०३
वैक्रियलब्धि	५१
वैदिकपरम्परा	८
वैशेषिक	९२, १९२, १९३
व्यापन्नकुदर्शनवर्जना	४९
व्यापन्नदर्शन	१४०
व्यवहारनय	११०, १११
व्यवहारसूत्र	४३
व्याख्याप्रज्ञप्ति	३१, ५८

शब्द	पृष्ठ संख्या
व्यापाद	१७९
शंकराचार्य	१९६, १९८, १९९, २०३, २११
शंका	२५, ५३, ५४, ७४, १४३
शक्ति	६८
शब्दबद्ध	१२
शय्यंभवसूरि	३२, ३३
श्यामाचार्य	४८
श्री शांतिसूरि	३५ (वादीवैताल)
श्रमणधर्म	६, ९
श्रमण परम्परा	७
श्रमण संप्रदाय	८
श्रमणोपासक	२९, ३०, ३२, ७४ ७५
श्रवण भूमिका	३
शांकरभाष्य	७, २०३, २११
शारीरक भाष्य	२०३
श्रावकधर्म विधिप्रकरण	१४९
श्रावकप्रज्ञप्ति	८७, १०४
श्रावकाचार	१५४
शिव राजर्षि	३१
शिव श्री	८१
शीलांकाचार्य	१८
श्रीराम शर्मा	१६४
शुक्ल लेख्या	४०
शुद्ध नय	११४

शब्द	पृष्ठ संख्या
षट् खण्डागम	११३, १३१ १५६
षट् संपत्ति	२००
षडावश्यक	९
संक्षेप रुचि	४१, ६७
संघतिलकाचार्य	१४९
संजात श्रद्धे	५०
संत पौलस	२२८
संत माथ्या	२३०
संप्रज्ञात समाधि	१८८
संप्रज्ञान योग	१८९
संप्रसाद अवस्था	१८७, १९७, १९८
संबोध प्रकरण	१३९
सन्मति प्रकरण	१३५, १३६
संयतासंयत	१२०, १२७
संयुक्तनिकाय	१८०
संलाप	१४६
संवर	९७, ९८
संवेग	१४५
सकृदागामी	१७६, १७७
सच्चक	९
सत्यभाषा	२७
सत्यस्पर्शी	३
सत्त्वगुण	९७
सत्त्वापत्ति	२०२
सात्विकी	२०९, २१०

शब्द	पृष्ठ संख्या
सन्निकर्ष	१
समयसार	११०, १११
समवायांग	५८, ६४, ७२, ७६
सम्मत्त दंसेण	२५
सम्मत्त दंसी	२५
समिय दंसण	२५
सम्यक्त्व परीक्षा	१७०
सम्यक्त्व वेदनीय	७३
सम्यक्त्व सप्तति	१३९, १४९
सम्यग्दृष्टि गुणस्थान	७२, ११६, ११७, ११८, १२७, १२९, १३०, १३४
सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	७२, ११६, ११७, ११८, १२७, १२९, १३०, १३४
सम्यग्मिथ्यात्व वेदनीय	७३
सम्यक् श्रद्धा	११
सम्यक्त्व के लिंग	४९
सम्यक् श्रुत	५९
सर्वात्मदर्शन	१६
सर्वार्थसिद्धि	८६, ८७
सर्वोपशमना	१३७
सयोगीकेवलि	७२, १२६
सहभावित्व	२२
सांख्यकारिका	१८२
सांख्य तत्त्व कौमुदी	७
सांख्यदर्शन	१८६, १९२

शब्द	पृष्ठ संख्या
सांख्यमत	९१, ९७, १८४
सांख्यसूत्र	१८२, १८४
सामवेद	१९७
सामायिक/सामाड्य	९
साम्य वैषम्य	६
साम्यदृष्टि	९
साम्यदृष्टि मूलक	९
साम्य भावना	९
सास्वादन/सासादन	७२, ११६, ११९, १२७, १२९, १३०, १३२, १३४, १५७, १६९
सिद्धसेनगणि	८७, ८८ ८९, ९५, ९६, ९८
सिद्धसेन दिवाकर	१३५
सिद्धहेम	३
श्री कृष्ण	२०९, २११, २१३, २१४, २१५, २२२, २२३
श्री भाष्य	२०३
सुख शब्दा	६८
सुत्त निपात्त	१८०
सुदृष्ट परमार्थ सेवना	४८
सुधर्मास्वामि	४८, ७३

शब्द	पृष्ठ संख्या
सुविचारणा	२०२
सूक्ष्म संपराय	७२, १२५, १२८
सूत्र कृताङ्ग	१४, २०, २५, २८, २९, ३२, ३३, ५८, २२५
सूत्र रुचि	४१, ६७
स्रोतापन्न	१७६, १७७
सौन्दरनन्द	१७८
स्कन्दिलाचार्य	१३
स्त्यानमृद्ध	१७९
स्थानांग	५८, ६४, ७६
स्थितिवंध	१२९
स्थिरीकरण	४२, ४५
स्वाति	८६
स्वामित्व	१०१
स्व. हर्मन याकोबी	५, १३८
हरिभद्रसूरि	७८, १०४, १३८, १३९
हान विमुक्ति	१९१
हानोपायविमुक्ति	१९१
हेमचंद्र	३६, १६४
हेय विमुक्ति	१९०, १९१
हेय हेतु विमुक्ति	१९०, १९१

About the Book

'Samyaktva' is an important concept of Jainism. According to the Jains, Samyaktva forms path of salvation. Thus Samyaktva is a necessary condition for attaining the ultimate goal of emancipation from the bonds of karman and the resulting cycle of birth and death.

The candidate has attempted to investigate the all important concept of "Samyaktva" through the vast and varied history of Jainism. She has studied or consulted all the important works on the subject and presented a complete account of the gradual development and ramifications of the concept. The thesis is thus an important contribution to the study and understanding of Jainism.

The candidate has gone through the original sources and throughout a vast array of facts in support of her contentions. She has analysed these facts in an objective way and arrived at conclusions which are logical and sensible. The study provides ample proof of the hard labour put in by the candidate and of her capacity to judge the issues in an unbiased manner.

The literary presentation of the book is mostly lucid, relevant and precise.

— **Dr. M.C. Pathak**
Prof. of Sanskrit, Sukhadia
University, Udaipur (Raj.)

साधुवाद

पूज्य साध्वी श्री सुरेखा श्री जी म.सा. ने बड़े परिश्रम से 'जैन दर्शन में सम्यक्त्व का स्वरूप' विषय को लेकर Ph. D. उपाधि के लिए शोध प्रबन्ध लिखा है। सम्यक्त्व के विषय में सर्वांगी विवेचना का यह प्रथम प्रयास है। इसमें सर्व प्रथम जैन आगमों में सम्यक्त्व के विचार का जो क्रमिक विकास हुआ है उसका निरूपण है। केवल श्रद्धा अर्थ में सम्यक्त्व शब्द का अर्थ मौलिक नहीं है। जीवन में जो कुछ सम्यक् हो सकता है, उसी का सम्बन्ध सम्यक्त्व से है। किन्तु जब मोक्ष के उपायों की विशिष्ट चर्चा का प्रारम्भ हुआ तब श्रद्धा और सम्यक्त्व का एकीकरण हुआ और वह विस्तृत अर्थ छोड़ कर संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने पुनः सम्यक्त्व या दर्शन को अपने मूल रूप में प्रतिष्ठापित किया और भारपूर्वक निरूपित किया कि मोक्ष का मूल कारण तो दर्शन ही है। यहाँ दर्शन मात्र श्रद्धा अर्थ में नहीं है किन्तु सकल सम्यक् का समुच्चय ही है। इसी में से दर्शन के दो भेद भी फलित हुए हैं - व्यावहारिक दर्शन या श्रद्धा और नैश्चयिक दर्शन अर्थात् जो मोक्ष का साक्षात् कारण है, परम्परा से नहीं।

लेखिका ने जैन आगम और आगमेतर ग्रन्थों का आश्रय लेकर तो सम्यक्त्व की विवेचना की है। तदुपरान्त जैनेतर दर्शन में भी जो श्रद्धा का स्थान है उसकी भी तुलनात्मक विवेचना की है। सम्यक्त्व की विशिष्ट विवेचना के लिए यह ग्रंथ प्रथम सोपान बन सके ऐसी योग्यता इसमें है। विद्वानों से प्रार्थना है कि वे इसे पढ़कर सम्यक्त्व के वास्तविक विचार-विकास की यात्रा का गंभीर विवेचन करें। सम्यक्त्व की अग्रिम विचारणा में यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी होगा, ऐसा मेरा मत है। साध्वीजी ने अपना यह प्रथम प्रयत्न करके विद्वानों के लिए विशेष विचारणा का मार्ग सुगम कर दिया है।

२०/६/८७

दलसुख मालवणिया
भूतपूर्व निर्देशक
ला.द.भा. संस्कृति विधामंदिर
अहमदाबाद (गुज.)